तृतीय खण्ड :

चतुर्थ खण्ड

आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण का मार्ग : सम्यग्दर्शन ४०५—५०१

एवं कुलमद ४६१, (३) बलमद ४५२, (४) रूपमद या सौन्दर्यमद ४६३, (५) तपोमद ४६३, (६) लाभमद या समृद्धिमद ४६४, (७) श्रुतमद या ज्ञानमद ४६४, (८) ऐश्वर्यमद, सत्तामद या पूजामद ४६५, षट् अनायतन सेवा का त्याग ४६६, शंकादि आठ दोषों का त्याग ४६७, आठ अंग, आठ गुण भी सम्यग्दर्शन विशुद्धि कारक ४६८, सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए ६७ बोल ४६८, चार प्रकार की श्रद्धा ४६६, अप्रमित्र मुनि का दृष्टान्त ४७०, त्रिलिंग ४७१, दस प्रकार की विनय ४७२, दर्शनविनय के दो भेद—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय ४७२, तीन प्रकार की शुद्धि ४७२, शंकादि पाँच दोषों का निवारण ४७३, आठ प्रभावक के रूप में प्रभावना ४७३, प्रभावक के आठ मुख्य भेद ४६३, प्रभावक आचार्य ४७४, (१-२) प्रावचनिक और धर्मकथिक—इन दो गुणों पर वज्रस्वामी का दृष्टान्त ४७४, (३) वादी के रूप में मुनिसुन्दरसूरि का दृष्टान्त ४७५, (४) नैमित्तिक प्रभावक श्री भद्रबाहु स्वामी ४७५ (५) तपस्वी प्रभावक मुनि विष्णुकुमार ३७५, (६) विद्याप्रभावक आचार्य खपुट ४७६, (७) सिद्ध प्रभावक पादलिप्ताचार्य ४७७, (८) कवि-प्रभावक आचार्य वृद्धवादी ४७८, वर्तमान समय के कवि एवं वाणी के प्रभावक जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज ४७८, पंचभूषण ४७८, (१) जिनशासन कुशलता ४७६, (२) प्रभावना ४७६, तीर्थसेवना ४७६, (४) स्थिरता ४७६, (५) भक्ति ४७६, इन पाँच भूषणों पर पाँच उदाहरण ४८०, सम्यक्त्व के पाँच लक्षण ४८१, (१) शम पर कूरगड्डक मुनि का दृष्टान्त ४८१, (२) संवेग पर दमदंत मुनि का दृष्टान्त ४८१, (३) निर्वेद पर हरिवाहन राजा का दृष्टान्त ४८२, (४) अनुकम्पा पर जय राजा का दृष्टान्त ४८२ (५) आस्तिक्य पर राजा पद्मशेखर का दृष्टान्त ४८३ छह प्रकार की यतना ४८५ (१) वंदना (२) नमस्कार (३) दान (४) अनुप्रदान (५) आलाप (६) संलाप ४८५, संग्राम शूर का दृष्टान्त ४८६, मतिविलक का दृष्टान्त ४८७, सम्यक्त्व के छह आधार ४८८, (१) राजाभियोग ४८६, (२) गणाभि

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य, प्रभाव और लाभ

प्रथम खण्ड

१. जीवन का परम लक्ष्य

किसी भी विचारक या धर्मश्रद्धालु से पूछा जाए कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? तो वह स्वर्ग या मनुष्य जन्म को अन्तिम लक्ष्य नहीं बताएगा। वह तपाक से यही कहेगा—मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य है। सांसारिक सुख जहाँ अधिकाधिक मिल सकते हों, ऐसा स्वर्ग अथवा मनुष्य लोक नहीं। क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष क्यों है ? इसलिए है कि मोक्ष-प्राप्ति के बाद जन्म-मरण आदि के बन्धनों या कर्मबन्धों से मनुष्य सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र हो जाता है, वह किसी प्रकार के इन्द्रिय, मन, शरीर, शरीर से सम्बद्ध परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की या धन, वैभव, सुख-साधन आदि किसी भी पदार्थ की परतन्त्रता में नहीं रहता। वह पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है।

संसार क्या है, क्या नहीं ?

मैं आपसे पूछता हूँ, क्या इतना ही संसार है, जिससे मुक्त होने के लिए साधक प्रयत्न करते हैं ? नहीं, अगर इतना ही संसार होता तो बहुत-से लोग आपको ऐसे मिलेंगे जो एकाकी रहते हैं, जिन्हें न तो कुटुम्ब-परिवार की चिन्ता है, न देह-गेह की और न ही धनादि की है। फिर भी वे अन्तर में उद्विग्न, दुःखी और अशान्त से दिखाई पड़ते हैं, उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ती रहती हैं, उन्हें कोई न कोई अतृप्त इच्छा सताती रहती है, कोई न कोई समस्या उनके हृदय को कुरेदती रहती है। बताइए, बाहर का संसार तो उनके पास कुछ भी नहीं दिखता, पर अन्तर में बैठा संसार उछल-कूद मचाता रहता है और अन्तर से बेचैनी, अशान्ति और व्यथा उत्पन्न करता रहता है।

क्या परिवार आदि ही संसार है ?

साथ ही यह प्रश्न भी होता है कि जब कोई संसार छोड़ने की कहता है तो उसका संकेत होता है- कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति आ छुटकारा पाने का। तो क्या परिवार आदि ही संसार है ? वास्तव में संसार न तो पुत्र, स्त्री, भाई-बहन आदि परिवार है, न धन-वैभव ही म है, नगर एवं ग्राम भी संसार नहीं है, स्वदेश और परदेश आदि भी सं नहीं है, स्वर्ग, नरक आदि भी मूल संसार नहीं है।

आम जनता जिसे संसार कहती है, वह तो यही है कि ऊपर अ आकाश है, नीचे धरती है। बीच के इस जगत में सजीव-निर्जीव अनेक पदार्थ है। इन सब सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं को लोग संसार कहते परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह संसार तो औपाधिक और कर्मोदयजन्य है वास्तविक संसार तो आत्मा का विकारी भाव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, व और आकाश आदि से निर्मित और आवृत यह दृश्यमान वास्तविक संस नहीं है। यह तो बाह्य संसार की कल्पना है।

संसार का मूल अन्दर में है, बाहर में नहीं

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—यह संसार क्या है ? औ इससे मुक्त होने का मार्ग क्या है ? भगवान ने संक्षेप में बताया—'राग और द्वेष ही मूल में संसार है, और वीतरागता ही मुक्त होने का मार्ग है।'

संसार में जितने भी दुःख-द्वन्द्व है, संघर्ष है कष्ट और पीड़ाएँ है, उनका मूल बाहर से नहीं मिलेगा, इनका मूल मनुष्य के अन्दर है। नरक और स्वर्ग की जड़ भी उसी के अन्दर में है। पशु-पक्षियों का विराट संसार मूलतः मनुष्य के भीतर ही निर्मित होता है।

संसार के वास्तविक कारण है -मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आ हम संसार छोड़ने की बात कहते है तो इसका मतलब यह नहीं होता दुनिया को छोड़कर कहीं किसी दूसरी दुनियां मे भाग जाओ। क्योंकि दुनियां में भागने से भी राग, द्वेष, घृणा, मोह, आदि वृत्तियों का मनुष्य की आत्मा में है।

बात यह है कि जन्म-जरा-मरण-रूप संसार का मूल तो प्रा अन्तर्मन में छिपा है। जब तक उस मूल को समाप्त नहीं किया जाता तब संसार से छुटकारा नहीं हो सकता। जन्म-मरण से मुक्ति नहीं सकती। आत्मा अब तक अनादिकाल से अनन्त-अनन्त बार जैसे जन्म

करता चला आ रहा है, वैसे ही करता रहेगा। जब तक राग-द्वेषादि विकारों के बीज पल्लवित-पुष्पित होते रहेंगे तब तक संसारवृक्ष पर नई-नई बहार और नये-नये परिवर्तन आते रहेंगे। जन्म-मरण के साथ-साथ सुख-दुःख, उतार-चढाव, उत्थान-पतन आदि के क्रम चलते रहेंगे। मन में जब-जब राग-द्वेषादि की लहर उठती है, तब-तब संसार जन्म लेता है। कषाय भाव जागृत होते हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्तियाँ हलचल मचाती हैं इन्हीं से फिर संघर्ष, संक्लेश, द्वन्द्व और दुःखों की परम्परा चालू होती है। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर का संसार बाहर में विस्तृत होता जाता है। इसलिए आप यह मानिए कि यह जो बाहर में दिखाई देने वाला संसार है यह अपने आप में बन्धनकारक या दुःखजनक नहीं है, दुःखजनक या बन्धनकारक आत्मा का विकारी भाव या विभाव ही है।

मनुष्य के सम्पर्क में अनेकानेक वस्तुएँ आती हैं, वे टकराती भी है, उनसे वास्ता भी पड़ता है, परन्तु वे जगत की वस्तुएँ क्या मनुष्य को बन्धन में जकड़ लेती है या दुःख देती हैं। बन्धन नाम की वस्तु उसके बाह्य जगत में है या अन्तर्जगत में ? क्या यह बाह्य बन्धन मनुष्य की टोह में बैठा रहता है कि उसे आते ही जकड़ लेता है, बाँध लेता है ? अथवा उसके अन्तर में ही बन्धन है, जो उसे बाँधता है ?

क्या बाह्य संसार बन्धन रूप है ?

कुछ विचारक यह कहने लगे—संसार बन्धनकारक है, यह धन, मकान, माता-पिता, परिवार आदि सब बन्धन है, अर्थात् बाहर का संसार बन्धनकारक है। अतः वह इन सब वस्तुओं को एक-एक करके छोड़ता जाता है, यहाँ तक कि समाज और राष्ट्र को भी छोड़ता है, वस्तुओं को भी छोड़ने का नाटक करता है। वहाँ ऐसा लगता है, मानो यह बाह्य संसार उसे काट खाने को दौड़ा आ रहा है, और वह उससे किनाराकसी करके भागा चला जा रहा है, मुक्ति पाने की दौड़ में बेतहाशा ! जीवन के अत्यन्त अनिवार्य आवश्यक पदार्थों को भी ऐसा मनुष्य आवेश में आकर छोड़ बैठता है। परन्तु जब तक अन्तर्मन से विषयासक्ति, कषाय, रागद्वेष आदि विभाव नहीं जाते, वहाँ तक बाहर के संसार को छोड़ने से बन्धन नहीं कट जाते, न ही सुख, शान्ति या मुक्ति प्राप्त होती है। बल्कि मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह के कारण उसका संसार कम होने के बजाय बढ़ता ही जाता है; इस कारण वह आन्तरिक संसार को पहचान नहीं पाता। बाह्य संसार तो कदाचित् मनुष्य

छोड़ भी दे, किन्तु अन्त.करण में बैठा हुआ संसार छूटना कठिन होता है। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है -

'कामानां हृदये वास: संसार: परिकीर्तितः'

'कामनाओं, वासनाओं, तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि कामों का हृदय में निवास ही संसार है।'

बड़े बड़े साधक बाहर से सांसारिक पदार्थों को छोड़ देते हैं, मोहादिवश आन्तरिक संसार को न पहचान सकने के कारण वे चाह कर भी इस आन्तरिक संसार से छुटकारा नहीं पाते। क्योंकि अज्ञान, मिथ्यात्व, विषयासक्ति, कषाय आदि की प्रबलता से उनकी वृद्धि होती रहती है। भगवान महावीर के शब्दों में संसार क्या है? यह देखिए -

'जे गुणे से आवट्टे'

जो इन्द्रियजन्य विषय है, वे ही संसार है। अर्थात्—काम, या विषयों की आसक्ति ही संसार है।

जब मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य इस प्रकार के संसार से छुटकारा पाना और मुक्ति की मंजिल को प्राप्त करना है, तब इस संसार को छोड़े बिना कोई चारा नहीं। फिर संसार की वृद्धि करके कामनाओं और वासनाओं के, तथा इन्द्रिय विषयों के जंजाल में फंसना या स्वर्गादि सुख पाने के लिए दौड़-धूप करना कथमपि हितावह नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह है कि अन्त.करण से इस आन्तरिक संसार को समाप्त किये बिना मनुष्य चाहे जितना जप, तप करले, चाहे जितनी धर्म-क्रियाएँ करले, परन्तु वह सब राख पर लीपने जैसा होगा।

इस संसार से मुक्ति कैसे सम्भव?

माना कि मनुष्य का बाहर संसार का त्याग करके, कहीं अन्यत्र जाना सम्भव नहीं है क्योंकि जब तक मोक्ष नहीं हो जाता, तब तक उसे रहना तो इसी संसार में है। वह इस संसार को कहाँ फेंक देगा? मान लो, कोई वर्तमान शरीर में आकर संसार को छोड़ने के लिए अगर आप शरीर को नष्ट कर दें तो उसे आगे दूसरा संसार मिलेगा, दूसरे के बाद फिर तीसरा। इस प्रकार शरीर को छोड़ देने मात्र से संसार छूटेगा नहीं और जब तक संसार छूटेगा नहीं, तब तक मुक्ति या मोक्ष कैसे प्राप्त होगा? अर्थात् जीवन का अन्तिम ध्येय—मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति है, तब संसार में रहते हुए संसार के बन्धन की वृद्धि करते रहना तो [illegible]

स्थिति में संसार को छोड़ना और संसार में रहते हुए मुक्ति पाना कैसे सम्भव हो सकता है ? कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे इस दृश्यमान संसार में रहते हुए भी मोक्षप्राप्ति के लक्ष्य की ओर गति-प्रगति की जा सके ?

संसार कब बन्धनकर्ता, कब नहीं ?

इसका समाधान यह है कि संसार हमारे अन्दर में है, हमारे संकल्पों और विचारों में है। अन्दर में राग, द्वेष आदि विकारों से लगाव न रखें तो बाहर का संसार बन्धनकारक नहीं होता।

मान लीजिए, आप बाजार में जा रहे हैं। हजारों तरह की वस्तुएँ इधर-उधर दुकानों पर सजी हुई मिलती हैं। कहीं फल, फूल, साग-सब्जी और मिठाइयाँ हैं, कहीं सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण तथा अन्य चित्ता-कर्षक पदार्थ सुसज्जित हैं। क्या सिर्फ उन वस्तुओं को देखने मात्र से वे आपकी हो गई ? आप दर्शक बनकर तटस्थ भाव से उन चीजों को देख रहे हैं, इसमें क्या दुकानदार उन वस्तुओं को आपके गले बाँध देगा ? कदापि नहीं। जब तक आप किसी चीज को लेने की इच्छा, मोल-भाव या मूल्य अदा नहीं करेंगे, तब तक वह वस्तु आपकी नहीं होगी और न ही आप उसके स्वामी या उपभोक्ता हो सकेंगे।

यह संसार भी एक बाजार है। इसमें जब तक आप द्रष्टा-ज्ञाता बनकर रह रहे हैं, किसी भी वस्तु को देखकर अपने मन में कोई भी राग-द्वेष, मोह आदि का विकल्प नहीं करते, जब तक आप उस वस्तु को लेने के लिए आतुर नहीं होते, उसके लिए मन-वचन-काया का प्रयोग नहीं करते, तब तक वह वस्तु आपके मन में नहीं चिपकेगी, आपकी नहीं होगी, न वह आपको बाँधेगी। दुनियाँ के बाजार में घूमते हुए जब तक वस्तु के साथ आपका राग-द्वेष नहीं जुड़ता, उसे अपना बनाने का विचार या संकल्प आपके मन में नहीं जगता है तब तक यह संसार आपके लिए बन्धनकर्ता नहीं बन सकता।

निष्कर्ष यह है कि अगर अन्दर का संसार छोड़ दो तो बाहर का संसार कुछ भी नहीं कर सकता। फिर तो संसार में रहते हुए भी वह आत्मा संसार के बन्धन से मुक्त रहती है।

भगवान महावीर ने हमें एक जीवन-दर्शन दिया है, कि तुम संसार में भले रहो, उससे भागने की जरूरत नहीं, और भागकर भी कहाँ जाओगे ? बाहर में भी तो चारों ओर संसार है। अतः मन में जब तक पूर्वोक्त संसार

संसार-बीज को समाप्त करने की साधना जितनी-जितनी होगी, उतनी उतनी ही संसार से मुक्ति होती रहेगी।

तात्पर्य यह है कि जब मिथ्यात्व आदि विभाव छूट गया तो रागद्वेष, आसक्ति, घृणा आदि विकार, जो कि तीव्ररूप में थे, वे जितने-अंशों में छूट गये, उतने अंशों में संसार भी छूट गया और जितने अंशों में संसार छूट गया, उतने अंशों में आत्मा में मोक्ष भाव जागृत हो गया। निश्चयनय की दृष्टि में तो मोक्ष आत्मा में ही है, स्थान विशेष तो आत्मा में मोक्ष होने के बाद की बात है। जितने भी मुक्त हुए हैं, सबकी मुक्ति यहीं आत्मा में हुई है। उन्हें मुक्ति के लिए कहीं अन्यत्र नहीं जाना पड़ा। जहाँ जब भी आत्मा अपने शुद्ध रूप में आई, वहीं और तभी मुक्ति हो गई।

जब ज्ञान की धारा संसाराभिमुख होती है, फिर वह शुभोपयोग रूप हो या अशुभोपयोग रूप, उससे शुभ या अशुभ कर्मों का बन्धन होता रहता है। जब वह संसार से उदासीन होकर मोक्ष की ओर मुड़ती है, तब वह अन्तराभिमुखी होकर अनन्त-अनन्त जन्मों के बन्धनों को तोड़ती हुई मुक्ति की ओर बढ़ती है। वह ज्ञान-धारा शुद्धोपयोगी होती है।

बन्धन ही संसार है, यही दुःखरूप है ?

वास्तव में मोक्ष प्राप्ति मनुष्य का स्वाभाविक पुरुषार्थ एवं स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा-विशेषतः मनुष्य बन्धनमुक्त होने के लिए अधीर हो उठता है। एक साधारण-सी चींटी को भी आप देखेंगे तो स्पष्ट जान सकेंगे कि उसके मार्ग में जब कोई रुकावट आ जाती है अथवा कोई व्यक्ति उसे रोकने का प्रयास करता है तो वह उससे बचकर दूसरे मार्ग से स्वतन्त्र गति करने का प्रयत्न करती है। यह स्पष्ट बताता है कि चींटी जैसा साधारण प्राणी भी बन्धन में रहना नहीं चाहता। तोते को चाहे आप सोने के पिंजरे में बंद कर दें, चाहे उसे मेवा, अंगूर, बादाम आदि उत्तमोत्तम पदार्थ खिलाएँ, चाहे उसकी सब तरह की सुविधा का ध्यान रखें, साथ ही आप यह विश्वास भी कर लें कि अब यह पालतू हो गया है, कहीं नहीं जाएगा पिंजरा छोड़ कर, लेकिन क्या वह पराधीन, पिंजरबद्ध तोता उसमें सुख मानेगा ? कदापि नहीं। ज्यों ही मौका मिलेगा, वह स्वेच्छा से उन्मुक्त आकाश में उड़ाने भरने लगेगा। वह अपने पुरुषार्थ से, स्वेच्छा से फलादि खाने में ही सुख मानेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बन्धन की स्थिति में चाहे जितने भौतिक सुख साधन क्यों न मिलें, एक अज्ञान पक्षी भी बन्धन में रहना पसंद नहीं

करना चाहे उसे कितने ही भौतिक सुख-सुविधाएँ क्यों न मिलें। संसार में बन्धनबद्धता ही संसार का सबसे बड़ा रोग एवं दुःख है।

आपने देखा कि जब लोग पक्षी को पकड़कर पक्की बार पिंजरे में डालते हैं, तब पिंजरे में मेवा और फल होते हुए भी वह उस पिंजरे में छटपटाता और फड़फड़ाता रहता है और इधर-उधर चोंच मारता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ भी भौतिक सुखभोग उपलब्ध होने पर भी अपने को पराधीन और बन्धनबद्ध मानता है। वह बन्धनमुक्त स्थिति में स्वतन्त्र रहकर भूख-प्यास सहन करना अच्छा समझता है, मगर बन्धन दशा में सोने के पिंजरे में रहकर भी अपने आप को वह विवश और दुःखी समझता है।

जब अल्पविकसित चेतना वाला पक्षी भी बन्धन को पसंद नहीं करता, तब अधिक विकसित चेतनाशील मानव-आत्मा को बन्धन कैसे रुचिकर हो सकता है ? बन्धन कैसा ही क्यों न हो, चाहे वह भौतिक सुखयुक्त हो, चाहे अन्य प्रकार का हो, वह कदापि हितकर एवं सुखकर नहीं हो सकता। किसी आत्मा का कितना ही पतन क्यों न हो गया हो, वह कितना ही पापपंक में मग्न हो, लेकिन बन्धन से मुक्त होने की एक सहज अभिलाषा वहाँ भी होती है। संसार में जितना भी दुःख एवं क्लेश है। वह सब बन्धन का ही है। इसीलिए तो संसार हेय है, वह मानव-जीवन का ध्येय नहीं बन सकता। मनुष्य चाहे पूर्व-पुण्यवश स्वर्गादि सुखों को प्राप्त कर ले या मनुष्यलोक में भी उत्तमोत्तम वैषयिक सुख-सामग्री पा ले, किन्तु अन्ततः वह सुख पराधीन, बन्धनकारक एवं गुलाम बनाने वाला होने से दुःखकारक ही है।

देवलोक में भी दुःख

प्रश्न होता है—देवलोक में देवों को तो दिव्य सुख प्राप्त है, फिर उन्हें दुःखी क्यों कहा गया है ? इसका समाधान यह है कि कर्मबन्धन स्वयं दुःखस्वरूप है और देव इस (कर्म) बन्धन से विमुक्त नहीं है, इसलिए उन्हें भी दुःखी कहा गया है। यह बात दूसरी है कि सातावेदनीय कर्म के उदय के कारण उन्हें कर्मबन्धन का दुःख जान नहीं पड़ता। मगर शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार के बन्धन दुःख के कारण हैं। जिस प्रकार बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, दोनों ही बन्धनकारक एवं वजन में समान होती है, उसी प्रकार कर्मबन्धन, चाहे शुभकर्मों का हो या अशुभ कर्मों का दोनों ही बन्धन होने से दुःखकारक हैं। इसलिए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि संसार का दुःख तो दुःख है ही, संसार का सुख भी दुःखरूप है। संसार

में रहते हुए जो सांसारिक पदार्थों में जितना निर्लेप और निःसंग रहता है वह उतना ही संसार से मुक्त है और सुखी है।

मोह एवं अज्ञानवश मनुष्य धन में, स्त्री-पुत्र आदि परिवार में या सुखोपभोग-साधनों में सुख मानता है, परन्तु गहराई में सोचा जाए तो उस सुख के पीछे अनेक चिन्ताएँ, परतन्त्रताएँ एवं पीड़ाएँ लगी होती है। इसलिए संसार के पदार्थों में क्षणिक सुख-प्राप्ति अनेक दुःखों से ग्रस्त है। जहाँ पराधीनता है, परवशता है, किसी प्रकार का बन्धन है, वहाँ भला सुख कैसे हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

एक ओर हम देखते हैं कि संसार दुःख में तो पागल होता ही है, व्यथित एवं पीडित होकर छटपटाता है, आर्तध्यान करता है, इससे नये अशुभ कर्मों के बन्धन में और अधिक पड़ जाता है। परन्तु दूसरी ओर सुख में भी संसार पागल होता है। रावण और दुर्योधन जैसे सत्तामदान्ध लोग दुःख की ठोकरें खाकर पागल नहीं हुए, अपितु सुख की मादकता से पागल हुए है। उनमें सुख, ऐश्वर्य एवं सत्ता का अहंकार इतना बढ़ गया कि उनकी विवेक की आँख बन्द हो गई। वे सुख के नशे में भटक गए। सुख की लालसाएँ पूरी नहीं होतीं, तब मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए दूसरों से लड़ता-भिड़ता है, मारकाट मचाता है। जहाँ स्वार्थ एवं अहंता की टक्कर होती है, वहाँ विद्वेष, घृणा, एवं वैर विरोध की भावनाएँ पनपती है।

जब इस प्रकार के सुख का पागलपन संसार में छा जाता है, तब मनुष्य अपने स्वरूप से भटककर संसार की वृद्धिरूप राग-द्वेषादि विकारों से आत्मा को लिप्त कर लेता है, इससे नाना अशुभ-कर्मबन्धन होते हैं, जो दुःखरूप ही हैं।

शाश्वत और स्वाधीन सुख कहाँ, किसमें ?

भौतिकता-प्रधान इस युग में मनुष्य चारों ओर से सुख के लिए दौड़-धूप करता है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह सुख को पकड़ने जाता है, सुख उससे दूरातिदूर होता जाता है। जिस किसी पदार्थ को सुख का स्रोत मानकर वह सुख की कामना करता है, वह मृगतृष्णा ही सिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य वैषयिक आकांक्षाओं, कामनाओं और इच्छाओं को हृदय में संजो कर चलता है, उससे उसके जीवन में आकुलता बढ़ जाती है। आकुलता राग और द्वेष को, घृणा और मोह को, [illegible] और तड़पन के [illegible]

देती है, वही अशुभ कर्मबन्ध का कारण बनती है। इसमे वैषयिक और पदार्थनिष्ठ कल्पित सुख सुखाभास बन जाते है, वे क्षणिक सुख की झांकी दिखाकर पुन विलीन हो जाते है, अथवा सुख के पीछे दीवाने बने लोगों को दु ख के अपार सागर मे घसीट ले जाते है। क्षणिक एवं काल्पनिक सुख के पीछे भागने वालो को बहुत मंहगी कीमत चुकानी पड़ती है। सारी जिन्दगी ऐसे सुख के पीछे भागते-भागते बीत जाती है, फिर भी वह हाथ नही आता। निष्कर्ष यह है कि संसार के किसी भी पदार्थ में सुख नही प्रतीत होता।

तब प्रश्न होता है कि उस शाश्वत और स्वाधीन सुख का स्रोत कहाँ है, कौन-सा उस अनन्त सुख का मन्दिर है? क्योंकि सांसारिक सुख न तो स्थायी है और न स्वाधीन, उसके चक्कर मे पड़कर तो लाखों करोड़ों वर्षों तक मनुष्य ने सुख के बदले दु ख का ही अनुभव अधिक किया, दु खो और कष्टों की झाड़ियों म ही अधिकाधिक उलझता गया। संसार मे जिस किसी पदार्थ म, दु ख मे,—बन्धनात्मक दु ख से मुक्त होने की आशा रखी, वह दु ख मे मुक्त करने की अपेक्षा और अधिक दु खो की परम्परा में जकड़ता गया। अत जो आध्यात्मिक मनीषी है, वे उस काल्पनिक एवं क्षणिक सांसारिक सुख की अपेक्षा मोक्ष को अनन्त, शाश्वत सुख की खान मानते हैं। मोक्ष ही अनन्त सुख का भण्डार है जो कभी खाली नही होता, वह सुख कहीं बाहर से भी लाना नही है, वह आत्मा मे ही विद्यमान है, किसी पदार्थ के भी अधीन नही है। मोक्ष-सुख की ही शोध में बड़े-बड़े ज्ञानी, तपस्वी, आध्यात्मिक साधक लगे हुए है। अत मोक्ष मे ही स्वाधीन एवं अक्षय सुख है। संसार मे या सांसारिक पदार्थों मे नहीं।

धर्म संसार से मुक्त करने का माध्यम

प्रश्न होता है, क्या आत्मा इस संसार के सुख-दु ख मे पागल होकर संसार की अंधेरी गलियों मे भटकता ही रहेगा, अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारों के फलस्वरूप इस अनन्त संसार में ही वह डूबता-उतरता रहेगा, या कभी संसार दु ख से मुक्त होकर मुक्ति के सुख का भी अनुभव कर सकेगा? अथवा इस संसार मे केवल दु ख एवं क्लेश ही है, या कहीं सुख-शान्ति भी है, या आत्मिक सुख भी किसी प्रकार प्राप्त हो सकता है? अगर संसार में रहते हुए संसार से मुक्त कराने वाला कोई सुख प्राप्त हो सकता है तो किस माध्यम से? ऐसा कौन-सा सेतु (पुल) है, जो संसार और मोक्ष दोनों को जोड़ने का काम कर सके? आचार्य समन्तभद्र ने इस सम्बन्ध मे सुन्दर समाधान दिया है—

देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

—मैं ऐसे सर्वमान्य एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित सम्यक् धर्म का उपदेश करता हूँ, जो कर्मबन्धन को नष्ट करता है, और प्राणियों को संसार के दुःख से हटा कर उत्तम सुख (मोक्ष) में स्थापित कर देता है।

धर्म ही मुक्ति तक पहुँचाने वाला

अत: संसार से अथवा संसार के दुःख-सुखरूप बन्धनों से मुक्त कराकर आत्मा को उत्तम सुख में—जहाँ जन्म-मरण रूप संसार का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है, पहुँचा देता है। मुक्ति तक निर्विघ्न पहुँचाने वाला अगर कोई है तो धर्म ही है। क्योंकि जहाँ बन्ध का अभाव हो, वहीं शुद्ध सद्धर्म है। जहाँ अशुभ राग द्वेष, मोह होगा, वहाँ पापबन्ध होगा, जहाँ दानादि के साथ आसक्ति, लोभ, शुभराग आदि होंगे, वहाँ पुण्यबन्ध हो सकता है। धर्म पुण्यबन्ध और पापबन्ध दोनों से परे है। और यह निश्चित है कि बन्ध का अभाव होने पर ही उत्तम सुख—मोक्ष सुख या वीतरागता का सुख प्राप्त हो सकता है। इसीलिए पंचाध्यायी में धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है —

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदेधरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥[1]

जो धार्मिक पुरुष को नीचे पद (सांसारिक-पद) से उच्चपद (मोक्ष-पद) में धारण करता है, वह धर्म है। इन दोनों पदों में संसार नीच पद है, तथा संसार का नाश रूप मोक्ष उच्च पद है।

इसलिए मुक्ति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य

यह आत्मा अनन्तकाल से भव-बन्धनों में आबद्ध है। उसकी बन्धनबद्धता का कारण है—स्वभावदशा को छोड़कर विभावदशा में चला जाना अर्थात् मिथ्यात्वादि की दशा में रमण करना। स्वभाव में रमण करने की अवस्था को मोक्ष दशा कहते हैं। यही आत्मा की स्वभाव दशा है। अतः संसार की बन्धनबद्धता के कारण होने वाले दुःखों से मुक्त होने तथा उत्तम स्वस्वरूप सुख को प्राप्त करने हेतु मुक्ति को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाना चाहिए। यही जीवन का साध्य है। उसके बिना जीवन में अनन्त आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती।

---

१ पंचाध्यायी, द्रव्यविशेषाधिकार श्लोक ७१५।

२. मोक्ष का साधन : रत्नत्रयरूप धर्म

●●

मोक्ष का उपाय : रत्नत्रयी-साधना

मानवजीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है. जब यह निश्चित हो गया, तब प्रश्न होता है कि उसे प्राप्त करने के लिए कौन-से साधन या उपाय है? कार्य छोटा हो या बड़ा, उसमें सफलता तभी मिलती है, जब उस कार्य करने के यथार्थ उपाय या साधन का परिज्ञान हो जाए। जीवन के सामान्य व्यवहार में भी जब किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए उसके कारण, साधन या उपायों पर विचार किया जाता है, तब मोक्ष जैसे विराट् एवं उदात्त साध्य या लक्ष्य की सिद्धि के लिए तो अवश्य ही गम्भीर विचार करना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति है, पर वह सुषुप्त है, प्रच्छन्न है, दबी हुई है। उस अनन्त शक्ति की जागृति के लिए साधना करनी पड़ती है। जैसे छोटे-से बीज में विशाल वटवृक्ष होने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति तभी होती है, जब उसे अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश आदि की उपलब्धि हो। इसी प्रकार आत्मा मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य शक्ति होने पर भी वर्तमान में उसकी अभिव्यक्ति साधना करने पर ही हो सकती है। साधना भी तभी सफल हो सकती है, जब साधक के समक्ष साध्य या लक्ष्य स्पष्ट व सुनिश्चित हो, उसका ध्यान सतत बना रहे। साथ ही साध्य के अनुरूप साधनों का भी विचार करना आवश्यक है। सिद्धि के लिए साधक को साध्य और साधन में सन्तुलन रखना भी जरूरी है। कई साधक साध्य को तो पकड़ लेते हैं, परन्तु साधन के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं होते, न वे अनुरूप साधन का ध्यान रखते हैं। दूसरे प्रकार के कुछ साधक साधन को पकड़ लेते हैं, लेकिन साध्य के सम्बन्ध में अनभिज्ञ रहकर दुर्लक्ष्य करते हैं। ये दोनों प्रकार के साधक सिद्धि के पवित्र द्वार तक नहीं पहुँच

पाते। साध्य के निश्चय के साथ साधक को अपनी अध्यात्म-यात्रा में साधनों एवं अवलम्बनों की भी नितान्त आवश्यकता रहती है और विशेष उस प्रारम्भिक अवस्था में जबकि साधक की साधना परिपक्व नहीं होती। सच्चा साधक अपनी गति-प्रगति को बराबर नापता-तौलता रहता है कि कहीं मेरी गति लक्ष्य से विपरीत दिशा में तो नहीं हो रही है? मेरी गति कहीं साधनापथ से विचलित या भ्रष्ट तो नहीं हो रही है? मैं साधनापथ पर आगे बढ़ रहा हूँ या पीछे हट रहा हूँ। साधनापथ का प्रधान साधन कौन-सा है? आदि विचारों का पाथेय लेकर साधक को चलना पड़ता है, अन्यथा साधक कहीं भी गड़बड़ा सकता है?

कोई व्यक्ति बहुत ही उच्च आध्यात्मिक साधना करना चाहता हो, उसके लिए सर्वप्रथम यह विचार करना आवश्यक है कि इस साधना का साध्य क्या है? फिर उसे इन साधनों के बारे में पूरी जानकारी करनी आवश्यक है? साधनों की पूरी जाँच भी कर लेनी आवश्यक है ताकि वह साधनों के नाम पर ठगा न जाए, अन्यथा, साधनों के बदले कुसाधन पल्ले पड़ जाएं। अतः सर्वप्रथम इन बातों का निश्चय कर लेना चाहिए।

कोई यात्री बेतहाशा दौड़ा जा रहा है, उससे किसी सामने से आते हुए यात्री ने पूछा—कहाँ पहुँचना है आपको? अगर वह यही उत्तर देता है कि मुझे तो कुछ पता नहीं। मैंने तो अमुक को पथ पर दौड़ते देखा था, मेरे मन में आया, मैं भी दौड़ लगाऊं। यहां यह तो ठीक, पर आपने इस लम्बी यात्रा के लिए कुछ साधन भी लिये हैं या नहीं? पथ सही जाता है या कोई और? इसका भी निश्चय कर लिया या नहीं? इस पर वह कहता है, अभी तक न साधन लिये हैं, न ही निश्चय कर पाया हूँ पथ का? भला ऐसी यात्रा कितनी जोखम भरी होती है? यही बात अध्यात्म यात्रा के साध्य, साधन और साधनापथ के सम्बन्ध में है।

जैनदर्शन के चिन्तकों ने अध्यात्मिक यात्रियों के लिए साध्य मोक्ष बताया है, रत्नत्रय रूप धर्म को उसका साधन बताया है, तथा तीनों को मिलकर मोक्ष का मार्ग बताया है कि आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में प्रतिपादन किया है—

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः[1]

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्ष-मार्ग है।'

---

[1] तत्वार्थसूत्र अ० १। सू० १

वस्तुत यही मोक्ष मार्ग है, मोक्ष साधन है, और यही मोक्ष का उपाय है। भूतकाल मे जितने भी तीर्थंकर हुए है, या गणधर या आचार्य हुए है, उन्होंने साध्य की सिद्धि के लिए इसी रत्नत्रयी का विधान किया है। न केवल विधान किया, बल्कि स्वयं भी इसी पर आचरण किया है। भविष्य मे भी इसी का उपदेश दिया जाता रहेगा।

रत्नत्रय ही धर्म है

इसी रत्नत्रयी को महामनीषी आचार्यों ने धर्म कहा है,[1] क्योकि यही आठ कर्मो से मुक्त करने वाली है। संसार मे परिभ्रमण से और जन्म-मरण के चक्र मे छुटकारा दिलाने वाली है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने इन तीनों को धर्म बताते हुए कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥[2]

धर्मनायक तीर्थंकर भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनो को धर्म कहा है और इनसे प्रतिकूल मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार-परिभ्रमण का मार्ग बताया है।

रत्नत्रय रूप धर्म होने पर भी दीन-हीन क्यों ?

प्रश्न होता है, मनुष्य के पास रत्नत्रयरूप धर्म होने पर भी वह आज दीन-हीन एवं भिखारी क्यों बना हुआ है ? यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सुख निहित है, परन्तु उस रत्नत्रय के होने पर भी उसे पता नही है कि उसके पास इतनी शक्ति या इतना धन है। किसी व्यक्ति के पास तिजोरी में लाख रुपये हों और उसे पता ही न हो कि मेरे पास इतने रुपये है। वह धन के लिए बाहर मारा मारा फिरे, प्रत्येक धनिक के पास जा कर याचना करे, अपने आपको दीन-हीन और निर्धन बताए तो उसे क्या

---

१. स धर्मः सम्यग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मक ।
तत्रसद्दर्शनं मूल हेतुरद्वैतमेतयो ॥
—पचाध्यायी, द्रव्यविशेषाधिकार ७१५.

२. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक ३.

इसी प्रकार अपने पास पड़े हुए रत्नत्रय रूप धन को पाने के लिए मनुष्य जरा-सा प्रयत्न करता है, किन्तु थोड़ा-सा चलकर फिर धर्मरूप धन की ओर से आँखें मूंदकर सांसारिक एवं भौतिक धन, सुखोपभोग साधन आदि के चकाचौंध में पड़ जाता है। सांसारिक सुख के प्रवाह में वह जाता है, कांक्षा, शंका, फलाशंका, कुदृष्टि-संग आदि के चक्कर में पड़कर धर्म के मुख्य द्वार को चूक जाता है। फिर आगे चौरासी के लम्बे-चौड़े चक्कर में पड़ जाता है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा में निहित रत्नत्रयरूप धर्म को भूलकर बाह्य विषयों-कषायों के बीहड़ वन में भटक जाता है। इसी कारण वह अपने आपको दीन-हीन, दरिद्र एवं भिखारी समझता है।

रत्नत्रय धर्म क्यों, कैसे ?

धर्म-साधना जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। धर्म के बिना आत्मा का विकास पूर्णता के शिखर पर पहुँच नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि धर्म आत्मा का विकास किस माध्यम से कर सकता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मा में निहित सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनों के माध्यम से धर्म आत्मिक विकास करता है, साथ ही आत्मा को मलिन एवं विकृत करने वाले तत्वों से उनकी रक्षा करता है।

जिस प्रकार बीज के लिए भूमि ही आवश्यक नहीं है, उसके पनपने के लिए उचित मात्रा में जल, शुद्ध पवन एवं सूर्य का प्रकाश मिलना भी आवश्यक है। ये न मिले तो उर्वरा भूमि होने पर भी उसमें डाला हुआ बीज अंकुरित—विकसित नहीं हो सकता। यही सिद्धान्त धर्म के विषय में समझ लेना चाहिए। धर्म की मूल आधारभूमि आत्मा है, वहीं धर्म का सदैव निवास है। परन्तु आत्म - भूमि में निहित धर्मरूपी बीज को पल्लवित और विकसित करने के लिए किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता है। क्योंकि आत्मभूमि में निहित धर्म सुषुप्त है, अव्यक्त है उसे जागृत और व्यक्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को आवश्यक माना गया है

धर्म आत्मा की स्व-स्वरूप परिणति को कहते हैं, अर्थात् आत्मा का जो सहज शुद्ध स्वभाव है, वही धर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के जितने भी निजी गुण है, वे सभी उसके धर्म हे।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते। उनसे भवभ्रमण का अन्त नहीं हो सकता।

भट्टारक सकलकीर्ति ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है—

दर्शनेन विनाज्ञानमज्ञानं कथ्यते बुधैः।
चारित्रं च कुचारित्रं व्रतं पुंसां निरर्थकम्॥
अधिष्ठानं भवेन्मूलं हर्म्यादीनां यथा तथा।
तपो ज्ञान-व्रतादीनां दर्शनं कथ्यते जिनैः॥[1]

तत्त्वज्ञलोग सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं और चारित्र को कुचारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में मनुष्यों के द्वारा आचरित व्रत निरर्थक है। जिस प्रकार बड़े-बड़े महलों, या मकानों का आधार उनकी नींव होती है, उसी प्रकार तप, ज्ञान, व्रत, क्रिया आदि सबका मूल आधार जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को कहा है। तात्पर्य यह है कि व्रत, तप, ज्ञान और श्रुत के बिना अकेला सम्यग्दर्शन तो अच्छा है, लेकिन सम्यग्दर्शन से रहित व्रत, तप, ज्ञान और श्रुत अच्छे नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन से रहित व्रत, तप, ज्ञान आदि मिथ्यात्वविष से दूषित हो जाते हैं।[2]

आशय यह है कि यदि मूल में सम्यक्त्व नहीं है तो अन्य सब तप, व्रत आदि प्रमुख क्रियाएं अज्ञान-कष्ट ही मानी जाती हैं, धर्म नहीं। अतः वे संसार का घेरा ही बढ़ाती हैं, घटाती नहीं। श्रावक आदि की भूमिकाओं में जो कुछ भी त्याग-वैराग्य जप-तप नियम व्रत, आदि साधनाएं की जाती हैं, उन सबकी बुनियाद सम्यक्त्व ही मानी गई है।

अध्यात्म तत्त्वज्ञानियों का कहना है कि यद्यपि मुनि के सम्यग्दर्शन सहित व्रत, तप ज्ञान आदि हों तभी वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है, परन्तु कोई मुनि ज्ञान, व्रत-तप, आदि से न्यून या रहित है, लेकिन उसके पास केवल सम्यग्दर्शन रूपी रत्न है, तो भी उसे इन्द्र की विभूति या तीर्थंकर आदि की विभूति प्राप्त हो जाती है।[3]

श्रमण भगवान महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की प्रधानता और अनिवार्यता स्पष्ट बताते हुए कहा था—

---

१. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, ११ वां परिच्छेद, श्लोक ८४,८३
२. वही वही, श्लोक ४५
३. वही वही, श्लोक ४२

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्त-चरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥[1]

चारित्र सम्यक्त्व के बिना (सुचारित्र) नहीं होता, लेकिन सम्यक्त्व चारित्र के बिना हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपद् (एक साथ) भी हो सकते हैं। चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना आवश्यक है।

जैनत्व की प्रथम भूमिका-सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन जैनत्व की वह प्रथम भूमिका है जहाँ से भव्य प्राणी का जीवन अज्ञानान्धकार से निकलकर सम्यक् आत्मबोध-रूप ज्ञान की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) नहीं होता, सम्यक ज्ञान के बिना चारित्र (सम्यक् चारित्र) गुण नहीं होता, चारित्र गुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण (अनंत सच्चिदानन्द) नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञान, तप या चारित्र से पूर्व सम्यग्दर्शन साधक के जीवन में नहीं आता है, तब तक उसमें राग-द्वेष, अहंकार, स्वार्थ, घृणा, अविवेक आदि का बाहुल्य रहता है इस कारण वह चारित्र, ज्ञान या तप सच्चारित्र, सम्यग्ज्ञान या सुतप नहीं होता।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि चाहे रत्नत्रय मिल मोक्ष का कारण हो, किन्तु ज्ञान और चारित्र से पूर्व सम्यग्दर्शन नहीं वहाँ तक वह ज्ञान और वह चारित्र सम्यक् नहीं होगा, और दोनों के स हुए बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। ज्ञानार्णव में स्पष्ट कहा है—

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥[2]

इस जगत् में जो जीव अपने ज्ञान, चारित्र के लिए जगत में प्रसिद्ध हैं और (इन दोनों के साथ) [illegible] मोक्ष को प्राप

इसलिए मोक्ष का मूल भी एक तरह से सम्यग्दर्शन ही है। उपासकाध्ययन में भी इसी बात का समर्थन किया गया है —

> दृष्टिहीन पुमानेति न यथा पदमीप्सितम्।
> दृष्टिहीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम्॥[1]

जैसे दृष्टि—आंखों से हीन पुरुष अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकता, वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन से हीन व्यक्ति मुक्तिपद को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न होता है, चारित्र के बिना समस्त कर्मों का क्षय नहीं हो सकता तब फिर सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मूल बताकर उसे इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है?

इसका समाधान यह है कि कर्मक्षय सम्यक्चारित्र से ही हो सकता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र, ज्ञान और तप सभी मिथ्या हो जाते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता और प्राथमिकता स्वीकार की गई है। लाटी संहिता में कवि राजमल्ल ने स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया है—

> अपि येन विना ज्ञानमज्ञान[illegible]।
> चारित्रं स्यात् कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम्॥[2]

इस सम्यग्दर्शन के बिना ही तो इस जीव का ज्ञान अज्ञानी पुरुष के समान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है, चारित्र कुचारित्र और तप बाल-(अज्ञान) तप कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं

मनुष्य चाहे जितना ज्ञान क्यों न कर ले, किन्तु जब तक उसका दर्शन या दृष्टि सम्यक् नहीं होती, तब तक उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

दर्शननिष्ठा को भी सम्यक्त्व कहते हैं और तत्त्वरुचि को भी, किन्तु सिर्फ दर्शननिष्ठा या तत्त्वरुचि को ही सम्यग्दर्शन कहा जाए तो अभव्य को अथवा मिथ्या दृष्टि जीव को भी सम्यग्दृष्टि कहना पड़ेगा, क्योंकि दर्शननिष्ठा या तत्त्वरुचि (तत्त्वों के जानने की इच्छा) तो उनमें भी होती है।

---

१. उपासकाध्ययन (सोमदेव सूरि विरचित) कल्प २१, श्लोक २६७।
२. लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक ५।

रुचि एक प्रकार की इच्छा है, वह रागात्मिका भी हो सकती है, किसी इहलौकिक लाभपरक भी हो सकती है। इसलिए जो आत्मलक्षी तत्त्व रुचि है, उसे ही सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है, वही चेतना का शुद्ध परिणमन है, रागरहित है। उसे सम्यक् तत्त्व रुचि भी कहा जा सकता है परन्तु जो न वह रुचि समात्मलक्षी है। वह इहलौकिक या पारलौकिक लाभपरक अतएव रागात्मिका होती है। अतः उसे सम्यग्दर्शन नहीं कहा जा सकता।

एक महान सन्त के पास दिल्ली के जैन भाई एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान आलिवर लकुम्ब को लाए। वह बड़ा मधुरभाषी, विचारशील और दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र का पण्डित था। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर उसका अच्छा अधिकार था। बात-बात में यथाप्रसंग वह उत्तराध्ययन, आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र एवं कल्पसूत्र आदि के उद्धरण प्रस्तुत करता था। उक्त विदेशी विद्वान का अध्ययन और चिन्तन काफी गहरा था। इतना विद्वान होते हुए भी उसमें तत्त्वरुचि बहुत गहरी थी वह तत्त्वचर्चा करने में तल्लीन हो जाता था।

महान सन्त ने उक्त विदेशी विद्वान से बातचीत के प्रसंग में पूछा—आपने प्राचीन आगमों का अध्ययन किया है, उत्तरकालीन जैनदर्शन के ग्रन्थों का भी परिशीलन किया है और अहिंसा एवं अनेकान्त पर भी गम्भीर चिन्तन-मनन किया है, तब तो सम्भव है- आप मांसाहार नहीं करते होंगे? उन्होंने मंद मुस्कान के साथ कहा—मैंने अभी तक मांसाहार का परित्याग नहीं किया है।

विद्वान सन्त ने उससे दूसरे रूप में प्रश्न किया—"आपने जैन आगमों का अध्ययन किस उद्देश्य से किया है?"

वह बोले—"मैंने जैन आगमों एवं दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन एवं अहिंसा एवं अनेकान्त का चिन्तन आचार-साधना की दृष्टि से नहीं किया है। मैंने जैन आगमों का अध्ययन एवं जैन परम्परा के नियमोपनियमों का अनुशीलन इसीलिए किया है कि मैं जैन धर्म एवं जैनदर्शन का अधिकारी विद्वान बन सकूँ, अपने देश के विश्वविद्यालयों में प्राच्यविद्या के अध्यक्ष एवं प्राध्यापक की आवश्यकता पूर्ण कर सकूँ।"

यह सुनकर हैरत में पड़ गए कि उस विद्वान में कितनी तत्त्वज्ञान की रुचि थी, चिन्तनचर्चा में सूक्ष्म तर्कों द्वारा गहरे में गहरे उतरने की क्षमता थी परन्तु इसके पीछे आत्मलक्षी नहीं थी, समाजलक्षी थी।

सम्यग्दर्शन सहित मति, श्रुत और अवधिज्ञान होता है, तभी वह सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान या सम्यक् अवधिज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में कोई भी ज्ञान—फिर वह मतिज्ञान हो, श्रुतज्ञान हो या अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता और न ही वह मोक्षमार्ग कहलाता है। अगर प्रत्येक मति-श्रुत ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मोक्षमार्ग साधक मानते तब तो संसार के प्रत्येक जीव को सामान्य रूप से मति-श्रुतज्ञान होता ही है, सभी जीवों में कुछ न कुछ बुद्धि ग्रहणशक्ति विचारशक्ति निर्णयशक्ति या धारणाशक्ति होती ही है। कई जीवों में स्मरणशक्ति, पहचानने की शक्ति एवं अनुमानशक्ति भी होती है। ये सब जीव सम्यग्दर्शन न हो तो भी सम्यक् मतिज्ञानी- सम्यक् श्रुतज्ञानी या सम्यक् अवधिज्ञानी हो जाएँगे। पर ऐसा होना अभीष्ट और सिद्धान्त-सम्मत नहीं है। बल्कि कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि सम्यग्दर्शन रहित अनास्थावान् लोग औत्पातिकी आदि बुद्धि के धनी कार्यकुशल-प्रतिभाशाली- अनुभवी, वस्तु को शीघ्र ग्रहण करने वाले विचारशील, शीघ्र निर्णयकर्ता और धारणाशक्ति सम्पन्न होते हैं, किन्तु आत्मा-परमात्मा, जीवअजीव, पुण्य-पाप- बन्ध-मोक्ष, धर्म-अधर्म, लोक-परलोक आदि में विश्वास या आस्था नहीं रखते, जबकि कुछ सम्यग्दर्शन-सम्पन्न आस्थावान् व्यक्ति स्थूलबुद्धि या मन्दबुद्धि, कार्य में अकुशल, अल्प अनुभव वाले, वस्तुतत्त्व को झटपट ग्रहण न कर सकने वाले विचार और निर्णय शीघ्र करने में असमर्थ, स्मरणशक्ति से कमजोर एवं अनुमान में कच्चे होते हैं। क्या सम्यग्दर्शन रहित तीव्र बुद्धि वाले सम्यक् मतिज्ञानी या मोक्षमार्गी आदि कहलाएँगे और सम्यग्दर्शन- सम्पन्न मन्दबुद्धि वाले असम्यक् मतिज्ञानी या मोक्षमार्ग रहित कहलाएँगे ?

इसका समाधान यह है कि जिसे हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान नहीं है, जो, आत्मदर्शी नहीं है, जीवादि तत्त्वों का जानकार नहीं है, आत्मा का हित-अहित नहीं जानता, वह चाहे जितना बुद्धिशाली हो, उसका मतिज्ञान सम्यक् मतिज्ञान नहीं है, उसका श्रुतज्ञान सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है। परन्तु जिसे हेय-ज्ञेय-उपादेय का ज्ञान है, जो आत्मदर्शी है वह चाहे मंदबुद्धि हो, कार्यकुशल कम हो, अल्पानुभवी हो, उसका मति-श्रुतज्ञान सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है, वह मोक्षमार्गस्थ है।

इस बात को और अधिक स्पष्ट रूप से समझ लीजिए - मानवों एवं [illegible] है जिनकी औत्पातिकी बुद्धि बड़ी तीव्र है, आरम्भ-समारम्भ [illegible] के कार्य [illegible] किए जाएँ ? उनके लिए कैसे नौकर और पशु-पक्षी

रखे जाए ? व्यापार में झूठ-फरेब कैसे किया जाए? कर-चोरी, तस्करी, चोर-बाजारी कैसे की जाए ? कहाँ साहूकार बनकर रहा जाय ? कैसे परस्त्री के साथ अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहार करके सुख भोगा जाए ? उनके लिए कैसे-कैसे, किन-किन को रिश्वत दी जाए किसकी झूठी सिफारिश की जाए ? आदि सबमें उसकी बुद्धि बहुत तीव्र है, इन कार्यों को करते-करते उसकी बुद्धि कार्मिकी भी हो गई है , पारिणामिकी भी । तर्क, निर्णय , धारणा , स्मरण, पहिचान अनुमान आदि मे उसकी शक्ति बहुत तीक्ष्ण है , परन्तु यदि वह यह नही जानता है कि ये "सब पापकार्य मेरे लिए सर्वथा हेय है । अहिंसा सत्य आदि धर्म—एकमात्र शुद्ध भाव से युक्त हों तो उपादेय हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही ग्राह्य है । इन अकार्यों के प्रति राग-द्वेष भाव बन्धनकारक है, हिंसादि अधर्म पाप बन्धकर्ता हैं । मुक्ति के साधन रत्नत्रय ही है , वे ही धर्म है । मैं अपने अमूल्य मानवजन्म को यो ही बर्बाद कर रहा हूँ," इत्यादि विवेक अगर उसमें न हो तो उसका अतिविस्तृत ज्ञान सम्यक मतिज्ञान नहीं है , वह मोक्षमार्ग साधक भी नही है इसके विपरीत जिसमें हिंसा , असत्य आदि मे औत्पातिकी आदि बुद्धिया तीव्र न हो-परन्तु जो इन समस्त पाप कार्यों को हेय समझता है । एकमात्र धर्म,—अहिंसा सत्यादि धर्म या रत्नत्रय रूप धर्म को ही उपादेय समझता है । राग-द्वेष भाव को बन्धनकारक और हिंसादि पापों को पापकर्म बन्धनकर्ता समझता है, जिसे आत्मबोध है ऐसे व्यक्ति का स्वल्प मतिज्ञान भी सम्यक् मतिज्ञान है , वह मोक्षमार्ग साधक भी है ।

संक्षेप में जिसकी दृष्टि सम्यक् है हेय-ज्ञेय, उपादेय का ज्ञाता है , उसका मतिज्ञान सम्यक् मतिज्ञान है । मोक्ष साधक है । ज्ञान में यह विशेषता अथवा सत्यानुसारिता सम्यग्दर्शन से ही आती है । अत सम्यग्दर्शन ही रत्नत्रय में अग्रणी है ।

प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन में ऐसी क्या विशेषता है कि वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान माना जाता है और मिथ्यादर्शन मे ऐसा कौन सा दूषण है कि वही ज्ञान मिथ्याज्ञान माना जाता है !

एक उदाहरण द्वारा इसे समझना आसान होगा । मान लीजिए एक बच्चा है, दूसरी ओर एक वृद्ध है, दोनों एक सर्प को देखते हैं । सर्प की आकृति, रग कोमलता, मनोहरता आदि को दोनो समान रूप से देखते है परन्तु नादान बच्चा सर्प को एक खिलौना समझता है इस कारण उसे उपादेय-ग्रहण करने

योग्य मानता है फलतः वह उसे पकड़ने जाता है, जबकि वृद्ध उस सर्प को भयंकर विषधर समझकर उसे हेय (त्याज्य) मानता है, फलतः उसे जंगल में छोड़ आता है। बालक की दृष्टि मिथ्या होने से वह सर्प को ऊपर-ऊपर से तो जानता है, किन्तु सर्प में जो मुख्य जानने योग्य तत्त्व है, उसे नहीं जानता। उसे न जानने के कारण यह कहा जाता है कि बालक सम्यक् रूप से सर्प को नहीं जानता। इसके विपरीत वृद्ध की दृष्टि सम्यक् होने से सर्प में जो जानने योग्य मुख्य तत्व है, उसे वह जानता है, इसलिए कहा जाता है कि वृद्ध सर्प को सम्यक् रूप से जानता है।'

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव सांसारिक काम-भोगों को जानते हैं, उन्हें बालक की तरह रमणीय और उपादेय समझकर अपनाते हैं, उनमें आसक्त एवं लिप्त होते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि जीव भी काम-भोगों को जानता है, किन्तु वह उन्हें वृद्ध की तरह आरंभ में रमणीय और त्याज्य समझता है, उन्हें अनिष्ट समझकर छोड़ने का प्रयत्न करता है, उनमें आसक्त एवं लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि की दृष्टि मिथ्या—आत्मधर्म के विपरीत होने से वह कामभोगों को जानते हुए भी उनमें जो मुख्य रूप से जानने योग्य तत्व (अनिष्टकारकता) है, उसे नहीं जानता, फलतः मिथ्यादृष्टि के मति-श्रुत ज्ञान को अज्ञान (मति अज्ञान, श्रुत-अज्ञान) कहा जाता है, जबकि सम्यग्दृष्टि भी काम-भोगों को सम्यक् रूप में जानता है, और उनमें मुक्ति के लिए, आत्मा के लिए जानने योग्य मुख्य तत्त्व को जानता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि का मति-श्रुतज्ञान सम्यक्-मतिश्रुत ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दृष्टि मुक्ति या आत्मा के लिए जानने योग्य मुख्य वस्तु को और उसके अन्तिम परिणाम को जानता है, जबकि मिथ्यादृष्टि न तो मुक्ति को आत्मा के लिए जानने योग्य मुख्य वस्तु जानता है, न उसके अन्तिम परिणाम को। यही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में अन्तर है।

यही बात अवधिज्ञान के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। अवधिज्ञान के निमित्त से बाहर के जड़ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु आत्मा का ज्ञान नहीं। इस अर्थ में तो अवधिज्ञान की अपेक्षा सम्यक् श्रुतज्ञान ही श्रेष्ठ है कि उसके सहारे आत्मा का बोध तो हो सकता है, भले ही वह परोक्षबोध हो। अवधिज्ञान के द्वारा तो आत्मा का परोक्ष बोध भी नहीं होता।

क्या हुआ, अवधिज्ञान के द्वारा यदि स्वर्ग-नरक का ज्ञान हो गया, मेरुपर्वत की स्थिति का पता चल गया, संसार की हरकतों और हलचलों का लेखा जोखा करने की शक्ति मिल गई तो ? आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन के बिना उस अवधिज्ञान का क्या महत्व है ?

आत्मबोध सम्यकश्रुतज्ञान सापेक्ष है, और सम्यक् श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन से होता है। अत: सम्यग्दर्शन के बिना वह अवधिज्ञान राग-द्वेष और कषाय के विकल्पों के प्रवाह में आत्मा को बहा ले जायगा। रागद्वेष के विकल्पों के प्रवाह से आत्मा को बचाने या सँभालकर रोकने वाला कोई न रहेगा। अवधिज्ञान अपने आप में बुरा नहीं है, बशर्ते कि वह सम्यग्दर्शन के साथ हो, सम्यक श्रुतज्ञान सापेक्ष हो। यदि वैसा नहीं है तो वह विभंग-ज्ञान (अवधि-अज्ञान) होगा, जो बुरे रास्ते पर भी ले जा सकता है।

अवधिज्ञान तो नारक-जीवों में भी होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित नारक उस मिथ्या अवधिज्ञान से पूर्व वैर स्मरण करके परस्पर लड़ते हैं, क्लेश पाते हैं। देवों में भी अवधिज्ञान होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में उनकी भी स्थिति अच्छी नहीं है। स्वर्ग में भी आत्मबोध (सम्यगदर्शन) शून्य मिथ्यादृष्टि देवों में परस्पर विग्रह, चोरी आदि दुष्कर्म होते हैं। इस कारण सम्यग्दर्शन के अभाव में अवधिज्ञान भी अज्ञान ही माना गया है, उससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं हो पाता।

यद्यपि मन पर्यायज्ञान के लिए प्रथम सम्यक्त्व और साधुत्व के होने की अनिवार्य शर्त है। अत यह श्रेष्ठ ज्ञान है। कोई मनुष्य भले ही न्याय-दर्शन आदि शास्त्रों के गम्भीर रहस्य को जान ले, विज्ञान के क्षेत्र में हजारों नये-नये आविष्कार कर डाले, धर्मशास्त्रों के गहन विषय पर विस्तृत व्याख्या भी लिख डाले, मगर सम्यग्दर्शन के बिना वह सिर्फ विद्वान या पण्डित हो सकता है, ज्ञानी नहीं।

विद्वान और ज्ञानी दोनों की दृष्टि में महान अन्तर है। विद्वान् की दृष्टि संसाराभिमुखी हो सकती है, जबकि ज्ञानी की आत्माभिमुखी। मिथ्यादृष्टि विद्वान् अपने ज्ञान का उपयोग प्राय कदाग्रह, कषाय या विषयों के पोषण में करता है, जबकि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान का उपयोग सम्यक्त्व के पोषण में, परोपकार में, विषय-कषायों से मुक्ति के उपाय में करता है।

निष्कर्ष यह है, मति, श्रुत, अवधि में पूर्व सम्यग्दर्शन हो, तभी ये ज्ञान सम्यक् और कल्याणकारी हो सकते हैं, अन्यथा, मिथ्यादर्शन के स_

—ब्राह्मकुल में उत्पन्न जो व्यक्ति बडी धूमधाम से दीक्षा लेते हैं फिर पूजा सत्कार के लिए तप करते हैं, उनका वह तप (सम्यग्दर्शन न होने से) शुद्ध नही है।

साधना में युद्ध देह से नही, इन्द्रियो से भी नही वह तो विकारो के साथ होता है, आन्तरिक दोषो के साथ होता है, सम्यक् दृष्टि के अभाव में यह सब कठोरतम तप भी बालतप हो जाते हैं। इन तपस्याओ से मनुष्य की प्रसिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा अवश्य बढ जाती है, स्वर्गादि भी मिल जाते है, लेकिन कर्मक्षय रूप मोक्ष नही होता, क्योंकि इनके साथ सम्यग्दर्शन का अभाव है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, सेवा आदि व्रतों और नियमोपनियमों का पालन करता है, इससे भी बढ कर त्याग करता है। ये आध्यात्मिक साधनाएं है। ये सब व्रत आत्मिक गुणो का विकास करते है, किन्तु क्या कभी आपने सोचा है कि अहिंसा, सत्य, संयम ब्रह्मचर्य आदि का पालन कब धर्म होता है? ये धर्म तभी बनते है जब इनके प्रति सम्यक् दृष्टिकोण, इनके वास्तविक उद्देश्य को समझ कर इनके प्रति पूर्ण श्रद्धान या विश्वास किया जाए।

अभिप्राय यह है कि यदि सम्यग्दर्शन हो तो अहिंसा भी सफल है, धर्म है, कर्मक्षय का कारण है, सत्य भी, अस्तेय भी और ब्रह्मचर्य आदि भी। यदि अहिंसा, संयम, अपरिग्रह आदि व्रतो, नियमो व त्याग के प्रति सम्यग्दृष्टि न हो, सच्ची श्रद्धा न हो, और उनका पालन किया जाए तो वे उच्च आत्मिक विकास के साधन नही बनते।

सम्यग्दर्शन : ज्ञान और चारित्र की साधना का बीज

वैसे तो प्रत्येक आत्मा मे ज्ञान होता है। निगोद के जीवो का ज्ञान चाहे कितना ही आवृत क्यो न रहा हो, फिर भी उनमें बहुत ही थोडा-सा ज्ञान तो होता ही है। मगर सम्यग्दर्शन के अभाव में वह ज्ञान मिथ्या होता है, प्रशस्त एवं सच्चा नही। इसीलिए सम्यग्दर्शन को ज्ञान-चारित्र रूपी साधना वृक्ष का बीज बताया गया है। सम्यग्दर्शन रूपी बीज बोने पर ही ज्ञान-चारित्र-साधना रूपी वृक्ष मे मोक्ष के मधुर फल लग सकते है। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे सम्यग्दर्शन को ज्ञान और चारित्र का बीज बताते हुए कहा है :—

> ज्ञानचारित्रयोर्बीजं दर्शनं मुक्तिसौख्यदम् ।
> अनर्घ्यमुपमातीतं गृहाण त्वं सुखाय धन् ॥[१]

—सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का बीज है, मुक्ति के सुखों का प्र
है, बहुमूल्य है, अनुपम है, इसलिए हे भव्य ! तू मोक्षसुख के लिए
ग्रहण कर ।

आप जानते है कि बीज के अभाव में वृक्ष फलता-फूलता नहीं
इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी बीज के अभाव में साधनारूपी वृक्ष
फलता-फूलता नहीं है, वह साधना कदापि मोक्ष की ओर ले जाने
नहीं बनती, जिसमें सम्यग्दर्शन न हो, प्रथम तो बीज के बिना वृक्ष ही
उत्पन्न हो सकता है ? जब वृक्ष ही उत्पन्न नहीं हुआ तो स्थिति किस
होगी, उसकी वृद्धि तथा उसके फलोदय की सम्भावना भी कैसे की
सकती है ? आचार्य समन्तभद्र ने बहुत ही सुन्दर बात कह दी है, इस
सम्बन्ध में —

> विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः ।
> न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥[२]

ज्ञान और चारित्र, इन दोनों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि औ
फलोदय सम्यक्त्व के अभाव में उसी तरह नहीं हो सकती, जिस तर
बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नहीं होते
तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन रूपी बीज न हो तो ज्ञान और चारित्ररू
वृक्ष ही नहीं होते । इसका अर्थ है सम्यग्दर्शनरूपी बीज के अभाव में
ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में और चारित्र सम्यक्चारित्र के रूप में सम्प
नहीं होते । जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं होती
तब इनकी स्थिति, वृद्धि और फलोदय का प्रश्न ही नहीं उठता ।
सम्यक्त्व बीज से ज्ञान और चारित्र रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है, तो
वह स्थिर (टिकाऊ) भी रहता है, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता में
उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती है और ज्ञान-चारित्र के फल के रूप में मोक्ष
या परमात्मपद की प्राप्ति भी होती है । इसीलिए समणसुत्त में
कहा है—

१ धर्मसंग्रहश्रावकाचार, परि० ११, श्लोक ६८ ।
२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३२ ।

मग्गो मग्गफलं त्ति दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ निव्वाणं ॥[1]

—जिन शासन-मार्ग और मार्गफल इन दोनों पर आधारित है । सम्यग्दर्शन ही मुख्य मार्ग है और निर्वाण मार्ग का फल है ।

एक बात और समझ लीजिए—जिस प्रकार बीज के लिए केवल भूमि ही आवश्यक नहीं है, पानी, हवा और प्रकाश भी आवश्यक होता है, क्योंकि बीज धरती में डालने के बाद उसे उचित मात्रा में पानी न मिले, प्राणदायिनी हवा भी न मिले और सूर्य की धूप भी न मिले तो बीज को उर्वराभूमि मिल जाने पर भी उसमें अंकुर नहीं फूटेंगे, पौधा नहीं पनपेगा, न फलेगा, न फूलेगा । यही बात ज्ञान और चारित्र धर्म की साधना के विषय में समझ लीजिए । सम्यग्दर्शन बीज है, उसे आत्म-भूमि में बोया तो सही पर बीज के साथ देव-गुरु धर्म की जल-पवन-प्रकाशत्रयी न मिले तो वह अंकुरित न होगा । फलेगा-फूलेगा नहीं ।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा आदि किसी भी व्रत या महाव्रत को, किसी भी तप, संयम या धर्मक्रिया एवं त्याग को ग्रहण करने से पूर्व सम्यग्दर्शन न हो तो ये मोक्षफलदायी नहीं होते, क्योंकि जहाँ श्रद्धान नहीं होता, वहाँ ज्ञान और चारित्र दोनों असम्यक् बन जाते हैं। ज्ञानसार में भी इसी बात पर जोर दिया गया है —

चरण - ज्ञानयोर्बीजं यम - प्रशमजीवितम्
तप - श्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥[2]

—सत्पुरुषों ने सम्यग्दर्शन को ज्ञान और चारित्र का बीज, यम और प्रशम का जीवन, तथा तप और स्वाध्याय का आश्रय माना है ।

इसीलिए आध्यात्मिक मार्गदर्शकों ने चेतावनी दी है कि कृति (आचरण) से पूर्व ज्ञप्ति होनी चाहिए और ज्ञप्ति से पहले होनी चाहिए सम्यक् दृष्टि । सम्यक् दृष्टि और ज्ञप्ति के प्रकाश में ही कृति (चारित्र-आचरण या धर्मक्रिया) सफल होती है । किसी भी धर्माचरण, धर्म के अंग का पालन या धर्मक्रिया को करने से पूर्व अपने मन में दृढ़ विश्वास करो, तोलो और बुद्धि से विचार करो कि मैं जो कुछ कर रहा

१ समणसुत्तं गा० ४२ ।
२ ज्ञानसार, ६ | ४४ .

एक बार वे एक नगर में पधारे। वहाँ के राजा ने एक स्वप्न देखा कि ५०० सिंह एक सियार की सेवा कर रहे हैं। ऐसा विचित्र स्वप्न देखकर राजा चौंका, बड़े विचार में पड़ गया—५०० सिंह और उनका स्वामी एक सियार। राजा के विस्मय का पार न रहा। उसने अपने मंत्रियों और दरबारियों के समक्ष अपने आश्चर्यजनक स्वप्न की चर्चा की, कोई भी इस गूढ़ स्वप्न का रहस्य न बता सका। राजा का स्वप्न विचित्र पहेली बन गया था। सभी विचारमग्न एवं मौन थे। इतने में उद्यानपाल ने राजसभा में आकर राजा को शुभ समाचार सुनाया कि नगर में बाहर आपके उद्यान में एक महान आचार्य अपने ५०० शिष्यों के साथ पधारे हैं। राजा इस समाचार को सुनते ही सहसा अपने स्वप्न के साथ इसका जोड़ तोड़ बिठाने लगा। मनोमन्थन के बाद राजा इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि हो न हो, मेरे स्वप्न वाला सियार यही आचार्य और ५०० सिंह ये ही उनके शिष्य जान पड़ते हैं।

राजा ने इस बात की परीक्षा के लिए पूर्णिमा के दिन उद्यान के द्वार के बाहर बारीक कोयला के चूरे का ढेर चारों ओर बिखेरवा दिया। रात में उनके शिष्य लघु-शंका-परिष्ठापन के लिए बाहर निकले, परन्तु वहाँ बिखरे कोयले के चूरे को देखकर वे वापस लौट जाते, उन्हें उस बारीक चूरे में अति लघु जीवों के होने की आशंका थी। इसलिए जीवों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर वे यह सोचकर वापस चले जाते थे कि कहीं हमारे पैर से ये सूक्ष्म जीव कुचले न जाएँ। आचार्य श्री ने उन्होंने सारी हकीकत कही। आचार्य स्वयं साहस करके बाहर आए और यह कहते हुए वे कोयले के चूरे पर दबदब चले कि कहाँ जीव है यहाँ? ये तो कोयले हैं, कोयले! उन्होंने जीवों के सम्बन्ध में जाँच भी नहीं की। कुछ शिष्यों ने तर्क किया तो बोले-जीव है और मरते हैं तो हम क्या करें? ये तो यों ही जन्मने-मरते रहते हैं। यहाँ आए ही क्यों? इस प्रकार वे शिष्यों की बात पर खूब हँसे और बेखटके कोयलों को पैरों से रौंदते हुए चले।

उक्त आचार्य का नाम तभी से 'अंगारमर्दक' पड़ गया। आचार्य के बौद्धिक प्रतिभा, वाणी का चमत्कार, पाण्डित्य का प्रदर्शन बहुत था, यह सब होने हुए भी आत्मिक विकास के सर्वप्रथम प्रकाश-सम्यग्दर्शन तो उनके पास नहीं थी। गुरुपद पर आसीन होने पर भी आत्मा के भाव और विकास के उपाय पर उन्हें आस्था नहीं थी। आत्मा के पूर्ण स्वरूप—मोक्ष पर उन्हें विश्वास नहीं था। उनका जीवन पट्टस्थ

साधना का ऐसा नाटक जीव ने एक या अनेक बार नहीं, असंख्य बार किया है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा को उसमें कोई भी विकास या शुद्धि का अवसर नहीं मिला। आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आया। बल्कि इस प्रकार के साधना के नाटक से अहंकारादि कषायों की वृद्धि होने से कर्मबन्धन ही होता है।

आचार्य अंगारमर्दक भी इसी कारण अभव्य आत्मा सिद्ध हुए। इस मनोविश्लेषक कथा का फलितार्थ यही है कि आचार्य अंगारमर्दक के पास बाह्य ज्ञान भी था और द्रव्यचारित्र भी लेकिन सम्यग्दर्शन के अभाव में ये दोनों मोक्ष के अंग न हो सके। पंचाध्यायी में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है —

> यत् पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
> न तज्ज्ञानं, न चारित्रमस्ति चेत् कर्मबन्धकृत् ॥[1]

—सम्यग्दर्शन के बिना जो द्रव्यचारित्र या श्रुतज्ञान होता है, वह न तो सम्यक्चारित्र है और न ही सम्यग्ज्ञान है। अगर ये दोनों (सम्यक्त्व रहित द्रव्यचारित्र एवं श्रुतज्ञान) हैं भी तो वे कर्मबन्धन करने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन : ज्ञान और चारित्र को सम्यक् बनाने का कारण

मतलब यह है कि ज्ञान और चारित्र इन दोनों को सम्यक् बनाने का कारण सम्यग्दर्शन है। अथवा आगे होने वाले ज्ञान और चारित्र में जो 'सम्यक्' विशेषण है, उसका कारण यह सम्यग्दर्शन ही है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के होते ही भूतपूर्व (पहले के) ज्ञान और चारित्र दोनों 'सम्यक्' विशेषण से युक्त हो जाते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन अभूतपूर्व (पहले कदापि उत्पन्न न हुए) की तरह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को उत्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है। ज्ञान में विशेषता (अतिशय) लाने वाली जो शुद्धोपलब्धि (आत्मा की शुद्धोपयोग शक्ति) है वह सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है। अथवा शुद्ध भाव रूप जो पवित्र चारित्र है, वह भी सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है।[2]

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से पहले क्यों ?

कुछ दार्शनिकों का कहना है कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है,

---

१ पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) द्रव्यविशेषाधिकार श्लोक ७६८ ।
२ पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) द्रव्यविशेषाधिकार, श्लोक ७६६ ७६७, ७६८ ।

लगा हुआ था। दूर दूर से अफवाहें सुनकर उस युग के वेदों और वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान और प्रखर पण्डित इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्यों सहित अपनी ज्ञानविभूति से भगवान् को परास्त करने के लिए आये। गौतम के पास विलक्षण विद्वत्ता थी, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु उस ज्ञानामृत के साथ अहंकार का विष घुला हुआ था। ज्ञान तत्व के साथ जब अहंकार आदि का विकार मिश्रित हो जाता है, तब ज्ञान विशुद्ध नहीं रह पाता, दृष्टि विशुद्ध नहीं रह पाती और ऐसी स्थिति में वह ज्ञान मिथ्या हो जाता है। इन्द्रभूति आये तो थे अहंकारग्रस्त ज्ञान का भार लेकर। उनके मस्तिष्क में वेदों का ज्ञान भरा था, किन्तु मिथ्यात्व से दूषित दृष्टि होने के कारण वह उनका सम्यक् एवं अध्यात्मलक्षी अर्थ नहीं समझ रहे थे परन्तु भगवान् की दिव्यवाणी सुनते ही गौतम का अहंकार दूर हो गया। इन्द्रभूति को जीवन और जगत् का वह तत्व मिल गया जिसकी उपलब्धि उन्हें अभी तक नहीं हुई थी। भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इन तीनों पदों (त्रिपदी) का ज्ञान दिया। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, यह त्रिपदी जीवन और जगत् का महानियम है। इस त्रिपदी के ज्ञान से उनका अहंकार और साथ ही मिथ्यात्व दूर हो गया। सम्यग्दर्शन का महाप्रकाश होते ही उनका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिणत हो गया। जिस ज्ञान का उपयोग आत्मविकास के लिए न होकर अहंकार-पोषण के लिए था अतएव अज्ञान बना हुआ था, वही ज्ञान अब सम्यग्दर्शन का स्पर्श होते ही वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया, अपने और दूसरों के आध्यात्मिक उत्थान का कारण बन गया, उनकी दृष्टि अधोमुखी न रहकर ऊर्ध्वमुखी बन गई। वे भगवान महावीर के संघ के प्रथम गणधर बन गए।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रभूति गौतम ने त्रिपदी का बोध (सम्यग्दर्शन) होते ही उसके आधार पर भगवद्वाणी की रचना द्वादशांगी एवं चतुर्दश पूर्वों के रूप में करदी। यह सब सम्यग्दृष्टि का खेल है। जहाँ दृष्टि सम्यक् हो जाती है, वहां सारी चीजें सही व सीधी दीखने लगती है, जो पहले अटपटी लगती थी।

आगम ग्रन्थों में मोक्ष के अंगों में भले ही कहीं दर्शन से पूर्व ज्ञान को रखा गया हो, किन्तु उसका क्रम युगपत् ही माना गया है। दार्शनिक ग्रन्थों में स्पष्टरूप से सर्वत्र ज्ञान से पूर्व दर्शन को रखा गया है। क्योंकि

ज्ञान को सम्यक् बनाने वाली शक्ति सम्यग्दर्शन ही है। ज्ञान तो आत्मा
में अनन्त काल से था ही किन्तु वह सम्यक् नहीं था, सम्यग्दर्शन की
महिमा से वह अज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है। इस दृष्टि से ज्ञान से
पूर्व सम्यग्दर्शन को रखने में किसी को विरोध नहीं है तथा यथार्थ वस्तु
तत्त्व का विचार किया जाय तो दर्शन और ज्ञान में समभाव या पूर्वा
परभाव है ही नहीं। इसलिए यह प्रश्न स्वतः हल हो जाता है कि मोक्ष
की साधना में पहले सम्यग्दर्शन को माना जाय या सम्यग्ज्ञान को।
दोनों का अस्तित्व एक साथ रहता है। सत्य दर्शन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान
बना देता है इसलिए दर्शन को पूज्य एवं प्रशंसनीय होने के कारण प्रथम
स्थान दिया गया है।

तीनों धर्मों में सम्यग्दर्शन की प्रधानता

ज्ञानार्णव में सम्यग्दर्शन की प्रधानता बताते हुए कहा है—

> अप्येक दर्शन श्लाघ्य चरणज्ञानविच्युतम्।
> न पुन संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥[1]

—अगर ज्ञान और चारित्र न हो तो भी अकेला सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय है
किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित ज्ञान और चारित्र प्रशंसनीय नहीं।

सम्यग्दर्शन के अभाव में जीवनपथ ही अन्धकाराच्छन्न हो जायगा
अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व के उस घोर अन्धकार में आत्मा अनन्तका
से भटकती आ रही है, और भविष्य में भी अनन्तकाल तक सम्यग्दर्शन
के अभाव में वह भटकती ही रहेगी। अतः जीवन के उद्धार और उत्था
के लिए तीनों धर्मों में से सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन रूपी धर्म की उपलब्धि
अत्यन्त आवश्यक है। वही ज्ञान और चारित्ररूप धर्म का मूल है
उपाध्याय यशोविजयजी ने 'सिद्धचक्रवन्दना' के सन्दर्भ में सम्यग्दर्शन क
प्रधानता बताते हुए एक भक्तिगीत प्रस्तुत किया है :—

> भविका ! सिद्धचक्रपद वंदो। ॥ध्रुव॥
> जे विण नाण प्रमाण न होवे, चारित्रतरु नवि फलियो,
> सुख निर्वाण न जे विण लहिये, समकितदर्शन बलियो रे। भ. सि.॥१
> ...ोने जे अलंकरियो, ज्ञानचारित्रनु मूल।
> ...र्शन ते नित्य प्रणमू, शिवपथनु अनुकूल रे ॥ भ०सि०॥२॥

१ ज्ञानार्णव ५१

मोहादि शत्रुओं को पराजित करके मोक्ष राज्य को प्राप्त नहीं कर सकता। भले ही वह बहुत-सी उग्र धार्मिक क्रियाओं को कर लेता हो, बहुत जप-तप करता हो, अपने परिवार, जाति, सम्पत्ति और भोगों का त्याग कर दे।

निष्कर्ष यह है कि जैसे जन्मान्ध राजकुमार किसी भी प्रकार के प्रयत्न से शत्रु को नहीं जीत सकता, वैसे ही मोहान्ध (अज्ञानी मिथ्यादृष्टि) जीव भी चाहे शास्त्रोक्त यम, दम, नियम आदि मुनिमार्ग पर चलता हो, पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति रहित होकर दीक्षा ग्रहण करले, चाहे कठिन परीषह, उपसर्ग आदि सह लेता हो, भूमिशयन, भिक्षाटन, वनवास आदि कष्ट समूह को सहन करता हो, यानी दुष्कर से दुष्कर क्रियाएँ हठ से करता हो, फिर भी वह कर्मशत्रुओं को जीत नहीं सकता। जब तक वस्तु को विपरीत रूप ग्रहण करने वाली मिथ्या दृष्टि है, तब तक उसे सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त नहीं होती।[1]

सम्यग्दर्शन : समस्त धर्मकार्यों का सार

इसीलिए आगे अध्यात्मसार में सम्यक्त्व को समस्त धर्मकार्यों का सार बताते हुए उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं —

> कनीनिकेव नेत्रस्य, कुसुमस्येव सौरभम्।
> सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम्॥[2]

—जैसे आँखों का सार देखने की शक्ति वाली पुतली है, फूल का सार सुगन्ध है, वैसे ही सभी धर्मकार्यों का सार सम्यक्त्व है। धर्म के जो-जो कार्य हैं, उन सबके साथ सारभूत अगर कोई है तो सम्यग्दर्शन ही। सम्यक्त्व के बिना उन सबमें बल-सामर्थ्य नहीं आ सकता।

सम्यग्दर्शन मणि है, चारित्रादि केवल पाषाण हैं

मान लीजिए, दो व्यक्ति हैं। उनमें से एक के पास पाषाण खण्ड है, दूसरे के पास भी उतने ही वजन का बहुमूल्य मणि है। यद्यपि दोनों पत्थर हैं, दोनों पाषाण जाति के ही हैं, वजन भी दोनों का समान है, तथापि अपनी शोभा, चमक-दमक एवं मूल्य के कारण पाषाण के बजाय महामणि का ही अधिक महत्त्व एवं गौरव रहता है। आचार्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन' में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है :—

---

१ अध्यात्मसार प्रबन्ध ४ अधिकार १२ श्लोक ३,४।

२ अध्यात्मसार, प्रबन्ध ४ अधिकार १२, श्लोक ५।

शम - बोध - वृत्त- तपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।।[1]

—शान्तभाव, ज्ञान, चारित्र, तप, ये सब सम्यक्त्व के बिना पत्थर के वजन के समान हैं, किन्तु इनके साथ सम्यक्त्व हो तो ये ही महामणि के समान पूजनीय हो जाते हैं।

लोक व्यवहार में भी यह देखा जाता है, जिसे पाषाण मिलता है वह उसके भार से दबकर पीड़ा-सी महसूस करता है जबकि मणि जिसे मिलती है, उसे मणि भार महसूस नहीं होता क्योंकि उसका मूल्य भी बहुत है, और उपयोगी भी है। जिस प्रकार पाषाण का अधिक भार उठाने वाले को वह कष्टकर ही होता है, उसी प्रकार जीव को मिथ्यात्व का भार कष्ट-कर प्रतीत होता है। यद्यपि मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों दर्शन जाति के होने से एक ही हैं, तथापि अशुद्ध और शुद्ध पर्याय की दृष्टि से दोनों में रात-दिन का-सा अन्तर है। मिथ्यात्व आत्मा के लिए भव-भ्रमण का कारण होने से दुःखकर है, वह स्वरूपोपलब्धि रूप मोक्ष के अभीष्ट फल को कभी प्रदान नहीं कर सकता। जबकि सम्यक्त्व ही आत्मा को वास्तविक सुख, शान्ति और आनन्द देने वाला है। उसके स्वरूप का बोध होने से व्यक्ति को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

इसीलिए सम्यग्दर्शन के अभाव में तप, ज्ञान और चारित्रआदि सब पाषाण के समान भारी हैं, परन्तु अगर इनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो ये महामणि के समान रुचिकर एवं सुखकर हो जाते हैं।

सम्यक्त्वहीन चारित्रादि एक के अंक बिना शून्यवत्

सम्यग्दर्शन के बिना की गई ज्ञान, चारित्र और तप आदि की साधना का उतना ही महत्व है जितना एक के अंक लगाये बिना केवल शून्य का होता है। किसी भी संख्या के पूर्व में अगर एक अंक है तो उस पर जितनी भी बिन्दियां चढ़ाई जाएँगी, उतनी ही बार दस गुनी होती जाएगी, मगर एक का अंक निकाल लिया जाय तो फिर उसके ऊपर चाहे जितनी बिन्दियां लगाई जाएंगी, उस संख्या का मूल्य शून्यों की तरह है। परन्तु जहाँ सम्यग्दर्शन रूपी एक का अंक पूर्व में होगा, वहाँ ज्ञान और चारित्र की कीमत गण स्थान की दृष्टि से बढ़ती जाएगी। इसीलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रादि की साधना के लिए एक के अंक के समान अग्रणी है।

---

१. आत्मानुशासन, श्लोक १५।

सम्यग्दर्शन : मुक्ति की बोझिल गाड़ी को खींचने वाला बैल

मारवाड़ में धोरी बैल उसे कहते है, जिसे चाहे जितनी बोझिल
-गाड़ी के आगे जोत दिया जाए वह सकुशल खींचकर गन्तव्यस्थान तक
जाता है, पीछे नहीं हटता, बीच में ही गाड़ी को नहीं छोड़ता। इसी प्र
सम्यग्दर्शन मारवाड़ के धोरी बैल के समान है, जो मोक्ष की गाड़ी को जि
कि ज्ञान, चारित्र और तप के अनेक प्रकारों, तथा धर्म के क्षमा, दया, श
संतोष, व्रत, नियम, संयम, दान, करुणा, सेवा आदि अनेक अंगों को ल
देने पर भी सकुशल मोक्ष रूपी गन्तव्यस्थान तक खींच ले जाता है, बी
में छोड़ता नहीं, उतने बोझ से घबराता नहीं। सचमुच सम्यग्दर्शन मो
की गाड़ी का धोरी बैल है।

रत्नत्रय का कर्णधार : सम्यग्दर्शन

इस संसार-सागर में अनेक जीव डूब रहे हैं, डूबेंगे, और डूबे थे
परन्तु संसार-सागर में डूबने का मुख्य कारण तो मिथ्यादर्शन है, जिसके
कारण संसार की भूलभुलैया में जीव फंस जाता है, उसकी बुद्धि राग-द्वेष
मोह आदि से इतनी आवृत हो जाती है, वह अपनी आत्मा को, आत्मस्वरूप
को और आत्मशक्तियों को समझ नहीं पाता। ज्ञानी पुरुषों ने संसारसागर से
पार उतरने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय को मोक्ष मार्ग और
नौका बताया है।

किन्तु आप जानते हैं कि कुशल नाविक या कर्णधार के बिना नौका
कहीं भी संसार समुद्र के विषय-कषायों के तूफान में फंस सकती है, वह स
सलामत पार नहीं पहुँचा सकती। कुशल नाविक को नौका तथा नौका में
बैठने वाले यात्रियों की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। सा
ही उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि नौका अभीष्ट लक्ष्य की दिशा में
जा रही है या नहीं, कहीं किसी मिथ्यात्व, कषाय या विषयासक्ति की
चट्टान से टकराने की तो सम्भावना नहीं है। इस प्रकार कुशल कर्णधार
पर सारा दारोमदार रहता है कि नौका में छिद्र होने पर असावधान रहकर
उसे डूबो तो नहीं देता? यहाँ भी संसारसागर से पार उतारने वाले रत्नत्रय
को नौका बताकर सम्यग्दर्शन को उसका कर्णधार बताया है। सम्यग्दर्शन
इतना कुशल और साहसी कर्णधार है कि वह अपार संसार समुद्र पर चलने
वाले रत्नत्रय रूप जहाज को संसार समुद्र से पार लगा देता है, इसीलिए
आचार्य समन्तभद्र ने रत्नत्रय में सर्वोत्कृष्ट बताते हुए

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥[1]

अर्थात् ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन अतिशय सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा जानकर इसका सेवन करे । इसीलिए सम्यग्दर्शन को मोक्ष मार्ग का कर्णधार कहा है । वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, आदि मोक्ष मार्ग का केवट है, इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन सबका कर्णधार है उसके बिना साधक की जीवन-नैया संसार समुद्र से पार नहीं लगा सकती ।

सम्यग्दर्शन की प्रमुखता

दर्शन को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि दर्शन का अर्थ है आँख खुल जाना, देखने की क्षमता आ जाना, आँख खुली कि सत्य अनुभव में आना शुरु हो जाता है, वही अनुभूति ज्ञान है । तब पैदा होता है चारित्र जिसमे दर्शन सम्पन्न व्यक्ति उस अनुभूति 'ज्ञान' के विपरीत चल नहीं पाता ।

दूसरी दृष्टि से देखें तो दर्शन की भट्टी में ज्ञान की रोटी पकती है । ज्ञान की रोटी को जब व्यक्ति पचा लेता है, तब रोटी उसका खून, मास-मज्जा बन जाती है, वही होता है,—चारित्र । इसलिए दर्शन की प्रमुखता है ।

सम्यग्दर्शन की प्रधानता में हेतु

इतने विश्लेषण से यह तो स्पष्ट हो गया कि सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र दोनों को सम्यक बनाने का कारण है । ज्ञान और चारित्र आत्मा में पहले से है, किन्तु विकृत हो जाने या उन पर आवरण आ जाने के कारण वे मिथ्या हो जाते है । सम्यग्दर्शन के आते ही पूर्वोत्पन्न ज्ञान और चारित्र में सम्यकता आ जाती है । इसलिए सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जनक कहलाता है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है ।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत् सति सम्यक्त्वे, शुद्धो भावोऽथवा ऽपि च ॥[2]

अर्थात् ज्ञान में अतिशयता लाने वाली जो शुद्धोपलब्धिरूप (आत्मबोध रूप) लब्धि-शक्ति है, वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है । अथवा शुद्धभाव रूप जो चारित्र है, वह भी सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है । तात्पर्य यह है कि अतिशय शुद्धोपलब्धि रूप सम्यग्ज्ञान, तथा शुद्धभावरूप पवित्र

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रथम अधिकार, श्लोक ३१ ।
२. पंचाध्यायी द्रव्य विशेषाधिकार श्लोक ७६८ ।

सम्यग्दर्शन : मुक्ति की [illegible] वाला इंजन

मालगाड़ी में चोटी इंजन लगा रहता है, जिसे चाहे जितने डिब्बों वाली गाड़ी के आगे लगा दिया जाए तो वह गाड़ी को खींचकर गन्तव्य स्थान तक ले जाता है पीछे नहीं हटता, बीच में भी गाड़ी को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन मालगाड़ी के चोटी इंजन के समान है, जो मोक्ष की गाड़ी को जिसमें ज्ञान, चारित्र और तप के अनेक डिब्बे, तथा धर्म के क्षमा, दया, संतोष, व्रत, नियम, संयम, दान, करुणा, सेवा आदि अनेक अंगोपांग [illegible] देने पर भी सहज ही मोक्ष रूपी गन्तव्य स्थान तक खींच ले जाता है, बीच में छोड़ता नहीं [illegible] नहीं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन मोक्ष की गाड़ी का चोटी इंजन है।

रत्नत्रय का कर्णधार : सम्यग्दर्शन

इस संसार-सागर में अनेक जीव डूब रहे हैं, डूबेंगे, और डूबे थे परन्तु संसार-सागर में डूबने का मुख्य कारण तो मिथ्यादर्शन है, जिसके कारण संसार की भूलभुलैया में जीव फंस जाता है, उसकी बुद्धि राग-द्वेष मोह आदि से तमी आवृत हो जाती है, वह अपनी आत्मा को, आत्मस्वरूप को और आत्मशक्तियों को समझ नहीं पाता। ज्ञानी पुरुषों ने संसारसागर से पार उतरने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय को मोक्ष मार्ग और नौका बताया है।

किन्तु आप जानते हैं कि कुशल नाविक या कर्णधार के बिना नौका कहीं भी संसार समुद्र के विषय-कषायों के तूफान में फंस सकती है, वह सही सलामत पार नहीं पहुँचा सकती। कुशल नाविक को नौका तथा नौका में बैठने वाले यात्रियों की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि नौका अभीष्ट लक्ष्य की दिशा में जा रही है या नहीं, कहीं किसी मिथ्यात्व, कषाय या विषयासक्ति की चट्टान से टकराने की तो सम्भावना नहीं है। इस प्रकार कुशल कर्णधार पर सारा दारोमदार रहता है कि नौका में छिद्र होने पर असावधान रहकर उसे डुबो तो नहीं देगा ? यहाँ भी संसारसागर से पार उतारने वाले रत्नत्रय को नौका बताकर सम्यग्दर्शन को उसका कर्णधार बताया है। सम्यग्दर्शन इतना कुशल और बाहोश कर्णधार है कि वह अपार सँसार समुद्र पर चलते हुए रत्नत्रय रूप जहाज को संसार समुद्र से पार लगा देता है, इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने रत्नत्रय में सर्वोत्कृष्ट बताते हुए कहा है :—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥[1]

अर्थात् ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन अतिशय सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा जानकर इसका सेवन करे। इसीलिए सम्यग्दर्शन को मोक्ष मार्ग का कर्णधार कहा है। वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, आदि मोक्ष मार्ग का केवट है, इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन सबका कर्णधार है उसके बिना साधक की जीवन-नैया संसार समुद्र से पार नहीं लगा सकती।

सम्यग्दर्शन की प्रमुखता

दर्शन को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि दर्शन का अर्थ है आँख खुल जाना, देखने की क्षमता आ जाना, आँख खुली कि सत्य अनुभव में आना शुरु हो जाता है, वही अनुभूति ज्ञान है। तब पैदा होता है चारित्र जिसमे दर्शन सम्पन्न व्यक्ति उस अनुभूति 'ज्ञान' के विपरीत चल नहीं पाता।

दूसरी दृष्टि से देखें तो दर्शन की भट्टी में ज्ञान की रोटी पकती है। ज्ञान की रोटी को जब व्यक्ति पचा लेता है, तब रोटी उसका खून, मांस-मज्जा बन जाती है, वही होता है,—चारित्र। इसलिए दर्शन की प्रमुखता है।

सम्यग्दर्शन की प्रधानता मे हेतु

इतने विश्लेषण से यह तो स्पष्ट हो गया कि सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र दोनों को सम्यक बनाने का कारण है। ज्ञान और चारित्र आत्मा में पहले से हैं, किन्तु विकृत हो जाने या उन पर आवरण आ जाने के कारण वे मिथ्या हो जाते है। सम्यग्दर्शन के आते ही पूर्वोत्पन्न ज्ञान और चारित्र में सम्यकता आ जाती है। इसलिए सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जनक कहलाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है। -

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत् सति सम्यक्त्वे, शुद्धो भावोऽथवाऽपि च ॥[2]

अर्थात् ज्ञान में अतिशयता लाने वाली जो शुद्धोपलब्धिरूप (आत्मबोध रूप) लब्धि-शक्ति है, वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। अथवा शुद्धभाव रूप जो चारित्र है, वह भी सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। तात्पर्य यह है कि अतिशय शुद्धोपलब्धि रूप सम्यग्ज्ञान, तथा शुद्धभावरूप पवित्र

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रथम अधिकार, श्लोक ३१।
२. पंचाध्यायी द्रव्य विशेषाधिकार श्लोक ७६८।

४. धर्म और साधना का मूल : सम्यग्दर्शन

••

धर्म का मूल क्या ?

रत्नत्रयरूप धर्म का मूल क्या है ? इस सम्बन्ध मे आए दिन चर्चा होती रहती है। बहुत-से लोग ऊपर के आडम्बर को, बाह्य समृद्धि को देखते हैं, उसके मूल का विचार नही करते। परन्तु जब तक आप धर्म के मूल का पता नही लगा लेंगे तब तक आप जो भी ज्ञान, चारित्र आदि की साधना करेंगे, वह सफल और सार्थक नही होगी।

एक बाबा जी मरुभूमि से होकर जा रहे थे। उन्हें भूख-प्यास सताने लगी। सूर्य तप रहा था, धरती भी गर्म थी। एक रेतीले टीले पर उन्हें एक तूम्बे की बेल नजर आई। तूम्बा कभी उन्होने देखा न था। सुन्दर और सुगन्धित देखकर तूम्बा तोडा। थोडा-सा टुकडा मुंह में डालते ही मुंह कड़वा हो गया। बड़ा आश्चर्य हुआ उन्हे कि जो फल दीखने में इतना सुन्दर है, वह इतना कडवा क्यों ? उसके कडवेपन का पता लगाने हेतु बाबा जी ने उसका पत्ता, तन्तु और मूल इन सब को क्रमश. चखकर देखा तो सभी कटु थे। बाबा जी ने निश्चय किया—जिसकी जड ही कड़वी है, उसका फल कैसे मीठा होगा ? फल मधुर चाहिए तो मूल को सुधारना होगा। धर्म रूपी वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है, वह ठीक हुआ तो ऊपर की शाखाएँ फल आदि तो अपने-आप समृद्ध और मधुर होंगे।

समग्र धर्मों का मूल : सम्यग्दर्शन

कल्पना कीजिए, एक वृक्ष है, वह अत्यन्त सघन छाया वाला है, हरा-भरा है, फलों और फूलों से समृद्ध होने के कारण उसके ऊपरी भाग—शाखाएँ

टहनियां या धड आदि नही है। उसकी समृद्धि का मुख्य आधार उस वृक्ष का मूल है। जो पृथ्वी मे दूर-दूर तक गहरा चला गया है। जिस वृक्ष की जडे जितनी गहरी होती है, वह उतना ही अधिक समृद्ध एवं पुष्पित-फलित होता है, उस पर आंधी, वर्षा, तूफानों का प्रभाव नही होता, उसका विकास भी उतना ही अधिक होता है। वृक्ष का ऊपरी भाग भी तभी तक महत्वपूर्ण है, जब तक उसकी जडे सशक्त रहती है। पतझड़ आता है तो वही हरा-भरा वृक्ष पत्ते आदि सब झड जाने के कारण ठूठ-सा बन जाता है, लेकिन वसन्त ऋतु के आते ही फिर उसमें नये पत्ते, पुष्प, फल आदि आ जाते है, वह पुन हरा-भरा हो जाता है। यह सब पुनः समृद्धि इसलिए होती है कि वृक्ष के मूल में अभी शक्ति है, अपना पोषण तत्व ग्रहण करने की। वृक्ष की समृद्धि और शक्ति उसके मूल में है। वृक्ष की प्राण धारा उसकी जडो में सुषुप्त है। जिस वृक्ष के मूल मे कोई शक्ति नहीं रहती, जिसकी जडे खोखली हो जाती है, उस वृक्ष को बादलों से चाहे जितना स्वच्छ पानी मिले, सूर्य का प्राणवान प्रकाश भी चाहे जितना मिले, जीवन को स्फूर्तिमान बनाने वाली चाहे जितनी हवा मिले, वह वृक्ष चिरंजीवी नही रह सकता। वह आंधी और तूफानो से संघर्ष नही कर सकता। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है —

> "मूलाउ खधप्पभवो दुमस्स खधाउ पच्छा समुविति साहा।
> साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओसि पुप्फं च फलं रसो अ॥"[1]

अर्थात्—वृक्ष के मूल मे स्कन्ध की उत्पत्ति होती है, स्कन्ध के पश्चात् उसकी शाखाएँ फटती है शाखा-प्रशाखाओ में पत्ते लगते है, तत्पश्चात् फूल और फल आते है और फिर फलो मे रस आता है।

कहावत है—"मूल नास्ति कुत. शाखा ?" जिस वृक्ष का मूल ही नहीं है, उसमे शाखाए कहाँ से फूटेगी ? फल-फूल कहाँ से पैदा होगे। और कैसे नये अकुर फूटेंगे ?

यही बात धर्म रूपी वृक्ष के सम्बन्ध मे समझ लीजिए। धर्मरूपी वृक्ष की असंख्य-असंख्य शाखाए है—सत्य, अहिसा, करुणा, दया, क्षमा, मैत्री, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदि, फिर अहिसा की असंख्य शाखाए है, सत्य की असख्य धाराए है, ब्रह्मचर्य के नाना प्रकार है। धर्मरूपी वृ

---

1. दशवैकालिक सूत्र अ०

का फल मोक्ष है, उत्तम समाधि है। उत्तमोत्तम गुण उसके पुष्प हैं। परन्तु यह तो धर्मवृक्ष की समृद्धि की बात हुई। प्रश्न होता है—धर्मवृक्ष का जो इतना विकास एवं विस्तार होता है, जो इतना समृद्ध, सशक्त, एवं प्राणवान रहता है, उसका मूल या आधार क्या है? षट्खण्ड पाहुड में इसका उत्तर मिलता है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साण।[1]

अर्थात्-जिनेश्वरों ने अपने शिष्यों को कहा— धर्म का मूल दर्शन है। यदि सम्यग्दर्शन-या दृष्टि ठीक है तो धर्मवृक्ष का उत्तरोत्तर विकास होता चला जाएगा। वह स्थिर, प्राणवान् एवं सशक्त रहेगा। धर्म को विचलित करने के लिए, धर्म को हिलाने और उखाड़ने के लिए चाहे जितनी कुविचारों, कुदृष्टियों या कुसंगति की आँधियां आएं, चाहे जितने भय और प्रलोभन के झंझावात आएं, यदि धर्मवृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन सुरक्षित है तो धर्मवृक्ष को कोई खतरा नहीं। जब तक धर्मवृक्ष का मूल—सम्यग्दर्शन स्थिर है और अन्तर्निविष्ट है, तब तक सत्य, अहिंसा, संयम, तप आदि धर्मशाखाएं निरन्तर विस्तृत होती चली जाएंगी और एक दिन मोक्ष रूपी फल भी प्राप्त हो सकेगा। किन्तु सम्यग्दर्शन रूपी मूल के अभाव में धर्मवृक्ष अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में, धर्म का कोई भी अंग या तत्त्व स्थिर रह नहीं सकता। जैसे कि दर्शनपाहुड में कहा है—

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवारणत्थि परिवड्ढो।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥[2]

जिस प्रकार जिस वृक्ष का मूल नष्ट हो जाता है, उसके पत्र, पुष्प, फल, शाखा आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती, वैसे ही जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे मूल भ्रष्ट हैं उनके ज्ञान-चारित्रादि परिवार की वृद्धि न होने से सिद्धि-मुक्ति नहीं हो सकती। अहिंसा सत्य आदि का पालन भी तभी किया जा सकता है, जब सम्यग्दर्शन हो। संयमपालन का आधार भी सम्यग्दर्शन है, तर्क हेतु भी तभी किया जा सकता है, जब सम्यग्दर्शन हो।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन रूपी मूल हो, तभी अहिंसा, सत्य, संयम, तप, क्षमादि रह सकते हैं, पाले जा सकते हैं, सम्यग्दर्शन के अभाव

---

१. षट्खंड पाहुड दर्शनप्राभृत।
२. दर्शनपाहुड, गा० १०।

में ये कोई टिक नहीं सकते। धर्मवृक्ष भी न तो स्वयं स्थिर रह सकता है और न ही उसे स्थिर रखा जा सकता है। सम्यग्दर्शनरूपी मूल के रहने पर ही श्रावक में श्रावकत्व और साधु में साधुत्व रह सकता है। इसी के आधार पर श्रावक का जीवन स्वच्छ एवं निर्मल रहता है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने धर्म को सुरक्षित रख सकता है। सम्यग्दर्शनरूपी मूल हो तभी अहिंसादि व्रत, नियम त्याग, तप आदि धर्म की शाखाएँ विस्तृत एवं विकसित होती जाती हैं। इसीलिए अभिधानराजेन्द्र कोष में स्पष्ट कहा है :—

'समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं'

"श्रमणोपासक (श्रावक) धर्म की मूलवस्तु सम्यग्दृष्टि है।" कोई भी गृहस्थ श्रावक बनना चाहे, श्रावक धर्म के ५ अणुव्रत, तीन गुणव्रत आदि ग्रहण करना चाहे, उसके लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन स्वीकार करना अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन श्रावक धर्म का मूल है।

तप और त्याग का मूल : सम्यग्दर्शन

कोई व्यक्ति बहुत लम्बी तपस्या करता है, एक-एक मास तक लगातार उपवास करता है, और पारणे के दिन कुश के अग्रभाग पर आए इतना-सा आहार करता है, किन्तु उसे आत्मदर्शन-आत्मस्वरूप का बोध नहीं हुआ, आत्मस्वरूप का लक्ष्य जागृत नहीं हुआ है, तो भगवान महावीर की भाषा में कहें तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त हुआ है, तो वह तप मोक्ष साधक नहीं। उस तप को भगवान् महावीर ने बाल-तप कहा है।

उत्तरप्रदेश में विहार करते हुए एक गाँव में एक साधक को देखा, जो बारह वर्षों से खड़ा रहता था। उसके पैरों में सूजन आ गई थी। जब उससे पूछा कि आप ऐसा क्या करते हैं इस कष्ट सहन का क्या उद्देश्य है, तो उसने बताया कि मेरे गुरुजी का आदेश है।

औपपातिकसूत्र में ऐसे कई तपस्वियों का वर्णन है। भगवान् महावीर ने उन साधकों के तप को जिसका कोई लक्ष्य नहीं, जिसके साथ कोई आत्मदर्शन सम्यग्दर्शन नहीं, बालतप कहा है। ऐसे तपस्वी को बालतपस्वी कहने के पीछे उनका कोई द्वेष नहीं, कोई साम्प्रदायिक कदाग्रह नहीं, और न ही किसी को नीचा दिखाने की भावना थी। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि—

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥

वह साधक चाहे इस संघ का हो, चाहे दूसरे धर्म संघ का, जिसे अभी तक आत्मस्वरूप की प्रतीति नही हुई, सम्यग्दर्शन की ज्योति और उनके कारण आत्मा की अनन्त शक्तियों का परिबोध प्राप्त नही हुआ है, वह मास-मास के तप के अनन्तर पारणा करे और पारणे में भी सिर्फ कुश नामक घास के तिनके की नोक पर आए, उतना-सा आहार ले; इतना कठोर तपश्चरण करता हुआ भी वह तपस्वी शास्त्रोक्त आत्मधर्म की सोलहवी कला को भी प्राप्त नही कर सकता है। वास्तव मे जिसे आत्मदर्शन नही हुआ, वह चाहे जितनी उग्र तपश्चर्या कर ले, फिर भी वह मोक्षमार्ग से काफी दूर है।

मोक्ष की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है, अगर सम्यग्दर्शन नही है तो वह यात्री सच्चा (मुक्ति का) यात्री नही है, वह भटकने वाला है, विना ही लक्ष्य के वह अंधेरे में चला जा रहा है। अज्ञान के अंधेरे में वह भटकता रहा है। आचार्य अमितगति ने सम्यग्दर्शन-विहीन तप करने वाले की वृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है —

सुदर्शनेनेह विना तपस्यामिच्छन्ति ये सिद्धिकरीं विमूढा. ।
कांक्षन्ति बीजेन विना पि मन्ये कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥[1]

जो विमूढ सम्यग्दर्शन के बिना ही चाहते है कि हमारी तपस्या मुक्ति (सिद्धि) प्रदायिनी हो, मैं समझता हूं वे बीज बोये बिना ही समृद्ध और फलशालिनी (लहलहाती) हुई खेती चाहते है। वास्तव में ऐसे लोगों का मनोरथ निष्फल होता है। ऐसे लोग तन से बच्चे तो नही, मन से बच्चे है। क्योकि उनकी दृष्टि केवल देह पर आकर अटक गई है। जो दृष्टि देह और देह से सम्बंधित यश, प्रतिष्ठा, अर्थ आदि के या परिवार के क्षुद्र घेरे में बंद हो गई है, वह उस शुद्ध आत्मज्योति या सम्यग्दर्शन की ज्योति को कैसे प्राप्त कर सकेगी? सम्यग्दर्शन की ज्योति के बिना तप अभीष्ट मोक्षफलदायी नही होता।

बृहत्कल्पसूत्र के भाष्यकार ने तो सम्यग्दर्शन का उपदेश दिये बिना पहले ही मद्य-मास-विरति आदि का उपदेश देना भी व्यर्थ माना है।[2]

---

१. अमितगतिश्रावका० सर्ग ३, श्लोक ८४।
२. बृहत्कल्प भाष्य गाथा ११३।

युगानुकूल विकासवर्द्धक नये नियमोपनियम, विधिविधान बना लिये जाते हैं।

अध्यात्म साधना का मूल : सम्यग्दर्शन

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन समग्र धर्मों का मूल है, उसी प्रकार अध्यात्म साधना का मूल भी सम्यग्दर्शन है, श्रावक के लिए सामायिक पौषध, जप, तप, ध्यान, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित, भेदविज्ञान, स्वाध्याय आदि साधनाएँ अध्यात्म साधनाएँ हैं। उसका मूल आधार भी सम्यग्दर्शन ही है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही समग्र आध्यात्मिक साधनाएँ पनपती हैं, फलती-फूलती और विकसित होती हैं। आध्यात्मिक साधनाओं के तौर-तरीकों, या विधि-विधानों में परिवर्तन अपने-अपने देश-काल-परिस्थिति एवं पात्रानुसार हो सकता है, लेकिन उनके मूल विश्वास उनकी मूल निष्ठा या मूल आचार भावना में कोई परिवर्तन नहीं होता। बाहर के क्रियाकाण्ड चाहे जितने बदले, यदि सम्यग्दर्शन सुरक्षित है तो वह साधक संवर और निर्जरा की भावना को कभी भूल नहीं सकता। यदि सम्यग्दर्शन रूपी मूल आधार ही न रहे तब तो सब कुछ गड़बड़ा जाएगा। यदि मूल विशुद्ध पवित्र एवं स्थिर हो, सुदृढ़ हो तो उसके बाह्य आचार में यथावश्यक संशोधन सह्य हो जाता है। परन्तु मूल ही डावाडोल हो तो फिर उसका सारा ही आचार-विचार गड़बड़ा जाता है, अशुद्ध और मिथ्यात्व-दूषित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन : साधना का मूल केन्द्र

आध्यात्मिक क्षेत्र की तमाम साधनाओं का मूल केन्द्र सम्यग्दर्शन है। साधना का क्षेत्र चाहे कितना ही व्यापक और विशाल क्यों न हो, उसका मूल केन्द्र से सतत सम्बन्ध रहना चाहिए। मानव साधना के मैदान में जब आता है तो वहां हजारों मोर्चे विषय, कषाय आदि विकारों के लगे हुए मिलते हैं। साधना का क्षेत्र एक तरह से युद्ध क्षेत्र है। वहां कहीं तो क्रोध का मोर्चा लगा हुआ है। कहीं काम, लोभ, मोह, माया, राग, द्वेष, अभिमान आदि विकार शत्रुओं का मोर्चा लगा रहता है। उक्त सभी मोर्चों पर हुए आध्यात्मिक युद्ध में साधक तभी सफल हो सकता है, जब उसका सम्पर्क अपनी साधना के मूल केन्द्र से बना रहे। सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक साधना का मूल केन्द्र है। आध्यात्मिक युद्ध-क्षेत्र में यदि साधक का सम्पर्क अपने मूल केन्द्र से बना रहता है तो वह विकारों के विविध मोर्चों पर डटे हुए काम क्रोधादि शत्रुओं से बराबर टक्कर ले सकता है, वहां सुरक्षित रह

वह अपने जीवन की निर्बलताओं पर जोर से प्रहार कर सकता है और जीवन के एक-एक दोष का निरीक्षण करके आत्मालोचन, निन्दना गर्हणा और क्षमापना और प्रायश्चित आदि के द्वारा उसका संशोधन परिमार्जन कर सकता है। आध्यात्मिक जीवन के विविध मोर्चों पर लड़ने वाला साधक यदि सम्यग्दर्शन के मूल केन्द्र से सम्बन्ध बनाए हुए है, तो संसार की कोई भी शक्ति उसे पराजित नही कर सकती।

युद्ध क्षेत्र में सेना तभी विजय प्राप्त कर पाती है, जब उसका अपने मूल केन्द्र से सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। जो सेना अपने मूल केन्द्र से सतत सम्बन्ध रखती है वह कभी पराजय का मुँह नही देख सकती। मान लीजिए कोई सेना आगे-आगे कूच कर रही है दुर्भाग्य से उसका मूल केन्द्र से सम्बन्ध टूट गया तो उसकी विजय खटाई में पड़ जाती है, उसका भविष्य दुर्भाग्य और खतरे से घिर जाता है। उसकी विजय सन्देहास्पद रहती है। अत. कुशल सेनाधिपति सदा इस बात के लिए सतर्क रहता है कि उसकी सेना का मूल केन्द्र से सतत सम्बन्ध बना रहे। अध्यात्म क्षेत्र की साधना का भी इसी तरह जब मूल केन्द्र के साथ सम्बन्ध बना रहता है—सम्यग्दर्शन उसके रोम-रोम में, उसकी दृष्टि, बुद्धि और अन्त करण में रमा रहता है तो वह क्रोधादि विकारो से जूझते समय सदैव सतर्क रहता है। उसे साधनाओ में सफलता मिलती है।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का प्रथम साधन

सम्यग्दर्शन अध्यात्म साधना का मूलाधार है। मोक्षमार्ग की साधना का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन को छोड़कर नही हो सकता। चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु, दोनो के जीवन की आधार शिला सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन प्राप्त नही किया है तो श्रावक बन कर भी कुछ नही प्राप्त किया और साधु बनकर भी कर्म बन्धन से मुक्ति की कोई साधना नही की। यह कहना यथार्थ नही है कि गृहस्थ जीवन तो मोह, माया, ममता आदि से भरा हुआ है, उसमें कहा मोक्ष की साधना हो सकती है ? गृहस्थजीवन में भी यदि सम्यक्त्व-प्राप्ति हो चुकी है तो उसके लिए मोक्ष के द्वार खुल जाते है और साधु बन जाने पर भी अगर व्यक्ति मोह, माया, ममता, वासना और भोग दृष्टि के चक्कर मे पड़ा हुआ है तो उससे समस्या हल नही होती। अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित साधु जीवन भी मुक्ति से बहुत दूर है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में ऐसे आदर्श गृहस्थो के चरित्र भी अंकित हैं, जो संसार की मोहमाया मे

ये तो आत्मा के अनन्तगुण हैं। सम्यग्दर्शन भी उन गुणों में से एक है। किन्तु सम्यग्दर्शन की यह विशेषता है कि वह गुणों के अर्जन के साथ-साथ गुणों हृदय में यह प्रकाश कर देता है, कि यह गुण शुद्धि सिर्फ आत्म-लक्ष्यी होने चाहिए, न कि प्रसिद्धिलक्ष्यी, स्वार्थलक्ष्यी या किसी कामना-लक्ष्यी। गुणों के अर्जन के साथ-साथ अगर व्यक्ति गाफिल रहता है, गुणोपार्जन का उद्देश्य भूल जाता है, तब उन गुणों से आत्मा में चमक-दमक आने के बजाय आत्मा का विकास अवरुद्ध हो जाता है, आत्मा कर्मक्षय के मार्ग के बदले कर्मबन्धन के मार्ग पर चल पड़ती है। मनुष्य के जीवन में गुणोपार्जन के साथ यह विशुद्ध दृष्टि नहीं होती है, तो वह गुणोपार्जन से संसार परिभ्रमण का ह्रास करने के बदले, संसार परिभ्रमण में वृद्धि कर बैठता है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन के रहते गुणों के साथ-साथ घुस जाने वाले मोह, अहंकार, ईर्ष्या आदि दोषों का दाव नहीं लगता। सम्यग्दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक गुण है कि जिसके पूर्ण विकसित हो जाने पर आध्यात्मिक (क्षायिक भाव) अनन्त काल के लिए शाश्वत हो जाता है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में अन्य सब गुण अधोमुख से ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं, भौतिकलक्ष्यी से आत्मिकलक्ष्यी हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मैत्री, प्रज्ञा, समता, करुणा, क्षमा, दया आदि सभी गुण सार्थक, सिद्धिलाभ के कारण एवं सफल होते हैं, वे सब आत्मविकास के कार्य में लग जाते हैं। निःसन्देह कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन समस्त सद्गुणों की शुद्धि, वृद्धि और सुरक्षा का आधार है।

साधना मन्दिर का प्रवेश द्वार : सम्यग्दर्शन

अध्यात्म साधना के मन्दिर में प्रवेश करने के लिए आपको सम्यग्दर्शन के द्वार से ही प्रवेश करना होगा। अगर आप किसी मन्दिर या महल में प्रविष्ट होना चाहते हैं तो आपको किसी न किसी द्वार से ही प्रविष्ट होना होगा। सम्यग्दर्शन ही वह द्वार है, जिसमें से होकर अध्यात्म साधना के मन्दिर में प्रवेश किया जा सकता है। क्योंकि अध्यात्म साधना के मन्दिर का अधिष्ठायक देव आत्मा है, सम्यग्दर्शन सबसे पहले आत्मदेव का स्वरूप बताता है, तत्पश्चात् आत्मदेव की उपासना के तथा आत्मदेवता को गुणरत्नों से विभूषित करने के उपाय बताता है। इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना मन्दिर का प्रवेश द्वार

तत्त्वार्थ भाष्य में सम्यग्दर्शन को श्रावकधर्म की साधना का द्वार आदि बताते हुए कहा है —

द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः ।
द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य सम्यक्त्वं परिकीर्तितम् ॥

सम्यक्त्व बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का द्वार है, मूल है, प्रतिष्ठान है, आधार है, भाजन है और निधि बताया गया है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन श्रावकधर्म और साधुधर्म दोनों की साधना का द्वार है, सम्यग्दर्शन के माध्यम से ही व्रत, नियम, तप, जप आदि साधना सफल हो सकती है।

मोक्ष का प्रथम कारण : सम्यग्दर्शन

गहराई से देखा जाय तो मोक्ष की साधना सम्यग्दर्शन से ही प्रारम्भ होती है। क्योंकि मोक्ष का अर्थ है—कर्मों से मुक्ति पाना। कर्मबन्ध के कारण है—राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि। सम्यग्दर्शन जब प्राप्त हो जाता है तो जो भी तप, जप, सामायिक, ध्यान, व्रत, नियम आदि के रूप में साधना की जाती है, वे सब सम्यक्त्व से युक्त होने के कारण कर्ममुक्ति का कारण बनते है। जितने-जितने अंशो में रागादि रहित प्रवृत्ति होती है, उतने-उतने अंशो मे कर्ममुक्ति होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मोक्ष का प्रथम आदिकारण सम्यग्दर्शन है।

यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन मोक्ष की साधना का सर्वप्रथम और आवश्यक अंग है। इसके बिना मोक्ष की ओर गति-प्रगति नही हो सकती।

मुक्ति का अधिकार पत्र : सम्यग्दर्शन

यह तो निर्विवाद है कि सम्यग्दर्शन शुद्ध भावो में रमण करने का ही नाम है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध भावो में जब निष्ठा हो जाती है, तब प्रथम अशुभ भावो से फिर क्रमशः शुभ (प्रशस्तराग) भावों से भी साधक की अरुचि होने लगती है। कई लोग शुभ भाव को धर्म और मुक्ति का कारण मान लेते है, किन्तु तत्वदृष्टि से देखा जाय तो शुभ भाव के साथ रागात्मक विकार रहता है, भले ही वह प्रशस्त राग हो, अतः वह पुण्य का कारण हो सकता है किन्तु कर्म-निर्जरा किंवा मुक्ति का कारण नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव भी पुण्य की रुचि सहित शुभ भावों से नवम ग्रैवेयक देवलोक तक चला जाता है। फिर वहाँ से च्यवन करके निगोद या स्थावर

भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए शुभ भाव भी वास्तव में संसार
ण का ही कारण है, संसार-मुक्ति का नहीं। संसार मुक्ति का कारण
भाव ही है। परन्तु सम्यग्दर्शन न होने के कारण बहुत से अज्ञजीव
में ही अटक जाते हैं। उन्हें धर्म-अधर्म पुण्य-पाप आदि की ठीक
ही होती। अतः सम्यग्दर्शन होने पर साधक में ही शुद्धभाव (धर्म)
रुचि होने लगती है, उस साधक को मुक्ति का अधिकार पत्र मिल
। जिसने एक बार भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया, उसका
परिमित (परित्त) हो जाता है, अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्ति का सायलेंस
जाता है, वह एक न एक दिन मुक्ति अवश्य प्राप्त कर लेता है। जैसा
संग्रह में कहा गया है :—

> अंतोमुहुत्तमित्तंपि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
> तेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो चेव संसारो॥[1]

जीवों ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया
जीवों का अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल से कुछ कम संसार परिभ्रमण
ह जाता है।

मोक्ष प्राप्ति का आधार : सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व वास्तव में अवश्य ही एक अद्भुत प्रकार
क्ति है। यह शक्ति जीवन में आते ही उसका जीवन पलट जाता है।
ा को अगर सिद्धि या मुक्ति मिल सकती है तो सम्यग्दर्शन के प्रभाव से
यद्यपि मोक्ष मार्ग के रत्नत्रय रूप तीन साधन हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन न
ो वे दोनों या अकेला ज्ञान या अकेला चारित्र आत्मा को मुक्ति नहीं
सकता। मोक्षप्राभृत में कहा है :

> किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
> सिज्झहिइ जे वि भविया तं जाणई सम्माहप्पं॥[2]

धिक क्या कहूं, अतीतकाल में जो भी उत्तमपुरुष सिद्ध-मुक्त हुए हैं, मोक्ष
गए हैं, तथा भविष्य में जो जो सिद्ध होंगे, वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य
झो।'

---

[1] धर्मसंग्रह अधिकार २, श्लोक २१ टीका।
[2] मोक्षप्राभृत गा० ८८।

निष्कर्ष यह है कि [illegible] किसी भी [illegible] और [illegible] की किसी भी [illegible] का आधार सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी [illegible] नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि [illegible] भी [illegible] प्राप्त किया, उसका मूल आधार सम्यग्दर्शन होगा [illegible] भविष्यकाल में भी जो कोई [illegible] प्राप्त करेगा, उसका भी मूल [illegible] सम्यग्दर्शन ही रहेगा।

अध्यात्म साधना के प्रासाद की नींव : सम्यग्दर्शन

आप यह [illegible] होगा, जितनी बड़ी इमारत होगी उतनी ही गहरी उसकी नींव (आधारशिला) रखी जाती है। अगर [illegible] हो तो उस इमारत के बहुत शीघ्र ही धसने, भूचाल या तूफान के झोंके से ढहने की आशंका रहती है। ठीक, इसी प्रकार अध्यात्मसाधना के [illegible] प्रासाद की नींव भी गहरी और ठोस होनी चाहिए। वह नींव है— सम्यग्दर्शन। यदि सम्यग्दर्शन रूपी गहरी और ठोस नींव न हो तो [illegible] साधना का भव्य महल टिक नहीं सकेगा। सम्यग्दर्शन रूपी नींव के अभाव में ज्ञान और चारित्र की साधना का महल धरमरा, अन्धविश्वासों, निरर्थक क्रिया काण्डों, कुमार्गगामी ज्ञानभार, अहंकार, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, प्रपंच, प्रसिद्धिलिप्सा, प्रदर्शन, आडम्बर आदि के अनेक अंधड़ों एवं तूफानों में ढह जाएगा। इसलिए साधना के भव्य महल को सुरक्षित रखने के लिए सम्यग्दर्शन रूपी नींव की जरूरत है। नन्दीसूत्र में सम्यग्दर्शन को संघरूपी सुमेरुपर्वत की आधारशिला बताते हुए कहा है :—

> सम्महंसण वर वइर दढरूढगाढावगाढपेढस्स ।
> धम्मवररयण मंडियचामीयर—मेहलागस्स ।।[1]

भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन संघरूपी श्रेष्ठ रत्नों से मण्डित सुमेरु पर्वत की गहन और सुदृढ़ भूपीठिका (आधारशिला) है, जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी धर्मरत्न से मंडित स्वर्णमेखला अर्थात् पर्वतमाला स्थिर रही हुई है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन धर्मसंघ रूपी सुमेरु पर्वत की सुदृढ़ आधारशिला न होता तो उस पर ज्ञान और चारित्र साधना की मेखला कैसे टिकती? इसलिए सम्यग्दर्शन अध्यात्मसाधना की नींव है, आधार शिला है।

---

1. नन्दी सूत्र १/१२

ये आवरण दूर हो सकते है ? आदि। ये सब आत्मा और शरीर में तथा आत्मा और जड़पदार्थों से सम्बन्धित सारी उलझनें, सारी गुत्थियाँ वह समझ जाता है और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हे सुलझाने का प्रयत्न करता है। जैसे मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थी उत्तरोत्तर आगे की कक्षाओं में चढ़ सकता है और एक दिन एम०ए० तथा पी-एच०डी० तक कर लेता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की कक्षा में उत्तीर्ण साधक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास करता-करता एक दिन १४ वे गुण स्थान तक पहुँच कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है। इसलिए सम्यग्दर्शन को आध्यात्मिक विकास का सिंह द्वार कहना कोई अत्युक्ति नही होगी।

पूर्णता की यात्रा का पाथेय: सम्यग्दर्शन

आत्मिक परिपूर्णता अथवा आत्मश्री की पूर्णता १४वें गुणस्थान में पहुँचने पर प्राप्त होती है, पूर्णता की अन्तिम मंजिल चौदहवां गुणस्थान है। परन्तु उसकी यात्रा कहाँ से प्रारम्भ होती है ? जैनशास्त्रों में बताया है, उसकी यात्रा प्रारम्भ होती है—चतुर्थ गुण स्थान से।

वर्तमान युग में बाह्य साधनों से—शरीर, इन्द्रिय, धन, भौतिक साधन आदि से सम्पन्न लोग अपने आपको पूर्णता के दावेदार मानते हैं ? क्या यही वास्तविक पूर्णता है या और कोई है? इसके उत्तर में प्राचीन आचार्य का एक सुभाषित प्रस्तुत करता हूँ—

> पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम्
> या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभा-निभा ॥

बाह्य साधनों, बाह्य (आत्म-बाह्य-पर की) उपाधि से और बाहर के मन आडम्बरों से जो अपने आपको पूर्ण मान बैठता है, वह उसकी भ्रान्ति है। बाह्य उपाधियों से युक्त जो पूर्णता है, वह तो माग कर लाए हुए गहनों के समान है। जो स्वाभाविक पूर्णता है, वह तो निरुपाधिक है, और श्रेष्ठ रत्नों की प्रभा से परिपूर्ण है।

जो मनुष्य विवाह आदि अवसर पर कहीं से माग कर आभूषण आदि लाए और फिर उन्हें पहनकर वह अपने आपको सम्पन्न और वैभवशाली दिखाने का प्रयत्न करे तो लोग उसकी बात पर हंसेगे। परन्तु वास्तव में माग कर लाए हुए आभूषणादि से सुसज्जित मनुष्य अपने हृदय से, मन से, और अन्तःकरण से अपने आपमें दीन-हीन व दरिद्र बन जाता है, उसे रात-दिन उन पराये साधनों की देखभाल करनी पड़ती है। कुछ लोग उसकी बाह्

वेशभूषा देखकर प्रशंसा कर देते हैं, मगर वह दूसरे के उपकार से दबा हुआ एवं आत्मिक तेज से हीन बन जाता है। आन्तरिक स्वत्व खो बैठता है।

परोपाधि का दुःख यह है कि इससे मनुष्य बाहर से दिखने में अच्छा लगता है, परन्तु अन्दर से वह दुर्बल हो जाता है। उसकी तुलना हम उस व्यक्ति से कर सकते हैं, जिसका सारा शरीर सूज गया हो। इस प्रकार के शोथरोग से फूला हुआ मनुष्य बहुत ही सुन्दर और मोटा तगड़ा लगता है, मालूम होता है वह कितना स्वस्थ और मस्त है। परन्तु यह तो सूजन है, जो उसकी निर्बलता की निशानी है। सूजन वाला मनुष्य बाहर से सुन्दर दिखाई देता है, परन्तु वह स्वस्थ नहीं होता। इसलिए पर की उपाधि से अपने को परिपूर्ण मानने वाला व्यक्ति बाहर से तो अच्छा लगता है, पर वह स्वस्थ और सशक्त नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न पुण्य द्वारा याचित बाह्य पदार्थों (शरीर,धन आदि साधनों) से सुसज्ज बना हुआ मनुष्य भी बाहर से सम्पन्न दीखता हुआ भी आत्मिक शक्ति से, आत्मिक श्री से दीन-हीन, पराधीन है। उसके जीवन में उत्साह, स्फूर्ति और आनन्द नहीं होता।

आत्मश्री की वास्तविक सम्पन्नता-पूर्णता की यात्रा चौथेगुण स्थान से प्रारम्भ हो जाती है, जो अन्त में १४वें गुणस्थान में आकर परिपूर्ण होती है इस आत्मश्री की पूर्णता की यात्रा में पाथेय बनता है—सम्यग्दर्शन। दूर का यात्री अगर रास्ते के लिए अपने साथ भोजन आदि सामग्री (पाथेय) नहीं लेता तो उसे कई कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है। आध्यात्मिक यात्री भी अपनी इस यात्रा में सम्यग्दर्शन का पाथेय लेकर चलता है, जो उसे समय-समय पर आध्यात्मिक चिन्तन खुराक देता रहता है, सही मार्गदर्शन भी करता रहता है, स्व-पर का भेदविज्ञान भी करा देता है, जिससे यात्री अपनों परायों को पहचान सके और पर की उपाधि से अपने आपको बचा सके। तभी उसकी यह यात्रा निर्विघ्न और सकुशल होती है।

सम्यग्दर्शन से आत्मस्वरूप के बोध का प्रारम्भ

आज के अधिकांश लोग विभाव—परभाव के चक्कर में पड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप को—आत्म श्री को भूल गए हैं, इसी कारण वे यहाँ भी अपने अज्ञान एवं प्रमादवश अनेक दुःख और कष्ट पाते हैं और आगे भी।

कल्पना करो, एक धनिक का पुत्र है, उसे जब तक पता नहीं होता कि मैं धनवान हूँ, तब तक वह रास्ते चलते किसी पथिक से चाकलेट खरीदने के लिए दो आने मांगता है। क्योंकि उसे मालूम नहीं है कि वह किस धनी

का उत्तराधिकारी है ? या उसका पिता ऐसे कितने ही हजार प
नौकर रख सकता है ? ऐसे धनिक पुत्र के अज्ञान को देखकर अ
पर दया आती है। जब वह बड़ा और समझदार हो जाता है, औ
वह पूर्वस्मृति आती है कि मैं वही हूँ जो एक दिन किसी पथिक से
के लिए दो आने मांगता था, एक धनिक का पुत्र और भिखारी
जब उसे अपना भान होता है कि मैं तो बहुत बड़ी सम्पत्ति का
तब उसे अपने पर हंसी आती है।

अगर व्यक्ति आत्मश्री की पूर्णता को सम्यग्दर्शन द्वारा स
वह जगत में आनन्दमय जीवन जी सकता है। उपाध्याय यशोवि
आत्मश्री की सहजावस्था का स्वरूप बताते हुए कहा है :—

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन लीलालग्नमिवाखिलम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥

जिसे इस आत्मश्री का अनुभव हो जाता है, वह अनिर्वचनीय
सुख का अनुभव करता है। जगत् में रहते हुए भी अपूर्व आन
भी करता है।

किन्तु जब तक आत्मा अपनी आत्मश्री को पहचानता न
सांसारिक विषयों की याचना करता है, विभिन्न कामनाओं
भीख मांगता है। क्योंकि उसे पता नहीं है मेरी आत्मा में
और कितना बल है ? कितना ज्ञान और कितना दर्शन है ? आ
समृद्धि कहीं बाहर से लानी नहीं है और न ही किसी से उ
वह तो उसके अपने अंदर ही पड़ी है उस पर आवरण आए
रहता है।

परन्तु अधिकांश लोग ऐसे भी हैं, जो पूर्णता के भ्रम में हैं। वे धन
प्रतिष्ठा, सत्ता और पद आदि को ही अपनी पूर्णता समझ बैठे हैं। पर
वह पूर्णता आत्मा की नहीं है, भौतिकता से सम्बन्धित है। पैसा आज है
कल नहीं रहेगा तो पैसे के साथ बंधी हुई प्रतिष्ठा या सत्ता अथवा पद
समाप्त हो सकता है। आत्मा की पूर्णता होगी तो आत्मा के साथ रहे
पूर्णता आत्म-स्वरूप का, आत्मा की पूर्णता का बोध कराने वाला प्र
[illegible] है वह सम्यग्दर्शन है।

[illegible] का [illegible] सम्यग्दर्शन से

आत्मस्वरूप की अज्ञानता और मिथ्यात्व के कारण क्रोध,
[illegible] राग-द्वेष, मोह आदि असंख्य विकार एवं विकल्प अ

काल मे मोह-निद्राग्रस्त आत्मा को परेशान कर रहे हैं केवल अन्तर्मुहूर्त में ही असंख्य परिणाम आत्मा में उठने और लुप्त होते है। सतत इनके आवागमन के कारण आत्मा आकुल-व्याकुल रहती है। परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर ये विकल्प और विकार शान्त होने लगते हैं, जैसे वर्षा होने पर भूमि की गर्मी शात होती है।

इन कपायादि विकल्पों और विकारो के भी एक-एक के असंख्य प्रकार हैं, बाहर का दिखाई देने वाला यह संसार तो बहुत छोटा है, उसकी तुलना मे अन्दर का संसार कई गुना बड़ा है। अध्यात्म-परायण महापुरुषों ने इन विकारो और विकल्पों के आतंक से बचने के लिए आध्यात्मिक जागरण की आवश्यकता पर बल दिया है। आध्यात्मिक जागरण होते ही ये सब *विकल्प एवं विकार पलायन कर जाते हैं। जब तक 'स्व' का जागरण नही* होता, आत्मा परस्वरूप से हटकर स्वरूप में नही आता, तब तक इन विकल्पों और विकारों से मुक्ति पाना सम्भव नही है। यह 'स्व' का जागरण ही आध्यात्मिक जागरण है, यही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से ही ऐसा आध्यात्मिक जागरण प्रारम्भ होता है, यही अज्ञान एवं विकारो के भय और आतंक को मिटा सकता है।

सम्यग्दर्शन : अनन्तशक्ति पर विश्वास का प्रेरणा-स्रोत

सम्यग्दर्शन स्व और पर के भेदविज्ञान को अवगत कर लेने की एक कला है। इस कला के उपयोग और प्रयोग से आत्मा संसार के समस्त बन्धनो से मुक्त हो सकता है, फिर उनके जीवन में दुःख और क्लेश का अनुभव नही होता। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने पर आत्मा मे यह विश्वास दृढ होने लगता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं अजर अमर हूँ, शाश्वत हूँ, सर्वशक्तिमान हूँ। मैं केवल चेतन हूँ, जड़ नहीं, मैं अविनाशी हूँ क्षणभंगुर नही। ये जन्म-मरण मेरे नही, ये तो तन के खेल है। शरीर को लेकर ही ये रिश्ते नाते बनते हैं, शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। सिवाय मेरी आत्मा के वस्तुतः अन्य कोई भी मेरा नही है। जैसी सिद्ध भगवान की आत्मा है, वैसी ही मेरी आत्मा है। इस प्रकार की दृढ प्रतीति, सहज विश्वास और सहज बोध सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन इस प्रकार के अखण्ड विश्वास का प्रेरणास्रोत है। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन की अद्भुत ज्योति जगमगाने लगती है, उसके जीवन में प्रविष्ट घनघोर अंधकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसकी आत्मा में दृढ़ श्रद्धा का शुभ प्रकाश हो जाता है। सम्यग्दर्शन उसके लिए दृढ़विश्वास का वरदान लेकर आता है।

ऐसे सम्यग्दर्शन को जिन्होंने धारण कर लिया है, वे तीनों लोकों में पूज्य है, सार-असार का विचार करने में वे सबसे अधिक चतुर है, वे ही पापरूप शत्रुओं का सर्वथा नाश करने वाले है। ऐसे मनुष्य सारभूत, समस्त गुणों के गृहसम, अद्वितीय सम्यग्दर्शन का आश्रय लेकर देवों और मनुष्यों के सर्वोत्तम सुखों का अनुभव करते है और अन्त में मोक्ष में विराजमान होते हैं।

सचमुच, दिव्यता के धनी सम्यग्दृष्टि कर्मों का सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त कर लेते है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

चेतना की मलिनता-निवारण का प्रथम साधन : सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन के बिना व्यक्ति अपनी चेतना पर आने वाली मलिनता को दूर नहीं कर सकता। रागद्वेषादि परिणतियों के कारण आत्मा पर प्राय मलिनताएँ आती रहती हैं, परन्तु उन्हें सम्यग्दर्शन के द्वारा साधक निवारण करता रहता है। आत्मा पर आने वाली मलिनता को रोक कर उसकी निर्जरा अपने शुद्ध परिणामों द्वारा कर लेते है।

जिस प्रकार दुःख आत्मा का पर-भाव है, उसी प्रकार सुख भी आत्मा का एक पर-भाव है। भले ही शुभकर्मों की प्रबलतावश सुख अधिक मिल रहा हो, या पापकर्म की प्रबलतावश नरकादि में दुःखों का बाहुल्य रहा हो, लेकिन सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त हो जाता है, वह दोनों को ही चेतना का पर-भाव समझकर समभाव—स्व-भाव में रहता है और कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिए चेतना के बाह्य दशा से अन्तर दशा में लौटने का यदि कोई साधन है तो वह सम्यग्दर्शन ही है।

परमात्मदशा का बीज : सम्यग्दर्शन

जब से सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव आत्मा में होता है, तभी से वह आत्मा परमात्मभाव का बीजारोपण कर देती है। जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन के रूप में परमात्मभाव का बीज गिर चुका, वह आत्मा धन्य बन जाती है। एक दिन उसे परमात्मभाव (शुद्ध-आत्मत्व) के रूप में वह *परमश्रेष्ठ फल अवश्य प्राप्त हो जाता है, जिसे पाकर अन्य कुछ भी पाना* शेष नहीं रहता।

आप कहेंगे कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद क्या वह जीव अपने आप अकस्मात् ही परमात्मा बन जाता है, या उसके लिए कुछ पुरुषार्थ करना पड़ता है?

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है, कि जैसे सम्यग

सा बीज भविष्य में अनन्त गुणों से समृद्ध महावृक्ष के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यों भी सम्यग्दर्शन रूपी बीज बीच-बीच में यम, संयम आदि के रूप में वृद्धिगत दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि आचार्य अमितगति ने कहा है—

> विवर्द्धमाना यमसंयमादय. पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा।
> फलन्ति हृद्यानि फलानि पादपा', घनोदकेर्नेवामलापहारिणा॥

जिस प्रकार मैल को धो डालने वाले मेघो के जलवर्षण मे वृक्ष मनोहर फलो से समृद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान आदि मलो (दोषो) को दूर करने वाले पवित्र सम्यग्दर्शन गुण-मेघ के सतत सिंचन से आत्मा मे यम, संयम आदि गुण वृद्धिगत होते हुए उसे समृद्ध बना देते है।

शुद्ध साधना का मूल : सम्यग्दर्शन

आध्यात्मिक साधना आत्मशुद्धि और आत्मिक शक्तियों के विकास के लिए की जाती है। प्रत्येक धर्म आध्यात्मिक साधना पर जोर देता है। साथ ही प्रत्येक धर्म इस प्रकार का दावा भी प्राय करता है कि मेरी साधना सच्ची, अच्छी और पुरानी है। किन्तु साधना में जब मद, ईर्ष्या, राग-द्वेष अहंकार, लोभ, अन्ध श्रद्धा, पूर्वाग्रह लौकिक-पारलौकिक सुखो की कामना, दम्भ, छल, दिखावा, आडम्बर, प्रदर्शन, अविद्या, अज्ञान, मोह आदि दोष घुस जाते है, तब वे पवित्र से पवित्र साधना को अधर्म और अपवित्र कर डालते है। फिर वह साधना साधना न रहकर प्रसाधना या दुराग्रह स्थली बन जाती है। शुद्ध साधना के लिए मन, वाणी और आचरण तीनो की शुद्धता अनिवार्य बताई है। जैसा कि साधना मे शुद्धि की निष्ठा के लिए कहा गया है :—

> दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्, वस्त्रपूत पिबेज्जलम्।
> शास्त्रपूता वदेद्वाच, मन.पूत समाचरेत्॥

दृष्टि से भलीभांति मार्ग की छानबीन करके कदम रखे। वस्त्र से बिना छानकर जल नही पीए, शास्त्र से छान कर धर्म सम्मत वाणी का प्रयोग करे। मनन के द्वारा अच्छी तरह मांज कर योग्य कर्तव्य का आचरण करे।

वास्तव में शुद्ध साधना ही वहाँ है, जहाँ साधना के साथ स्वार्थ, लोभ, भय, प्रलोभन, कामना, दम्भ, दिखावा, छल आदि विकार न हो। ऐसी शुद्ध साधना के लिए सर्वप्रथम सम्यक् (शुद्ध) दृष्टि की आवश्यकता है। दृष्टि सम्यक् होगी तो वाणी और कर्म भी शुद्ध होगे। परन्तु साधना के

के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है, वैसे ही, बल्कि उससे भी बढ़कर पुरुषार्थ उसे सहेज-संभाल कर रखने के लिए करना पड़ता है. फिर उसका उत्तरोत्तर विकास करने एवं उसे उत्तरोत्तर विशुद्ध-विशुद्धतर करने के लिए सतत ज्ञान, चारित्र और तप की प्रबल साधना करनी पड़ती है कोई-कोई जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही अन्तरंग पुरुषार्थ को प्रबल-प्रबलतम करके परमात्मत्व-सिद्धत्व रूप साध्य को सिद्ध कर लेते है, लेकिन सब जीवों के लिए ऐसा क्रम नहीं है । अधिकांश जीवों को सम्बोधि प्राप्ति के पश्चात् विशिष्ट साधना करनी पड़ती है । यदि साधना के पुरुषार्थ में जागृति से पूर्व ही तद्रूप कर्मों के उदय से सम्यग्दर्शन का विलोप हो गया तो कुछ काल तक के लिए उसका वियोग हो सकता है । परन्तु एक बात निश्चित है कि जिसने पलभर के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया, वह अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध-पुद्‌गल परावर्तनकाल में परमात्मपद प्राप्त करेगा ही ।

इसका रहस्य यह है कि जिसे अपने में शुद्ध आत्मतत्व की प्रतीति हो गई, उसे सिद्धत्व (परमात्मत्व) पर आस्था हो गई । यही जीव में परमात्म दशा का बीजारोपण है । सम्यक्त्व दशा बीज है तो परमात्म दशा उसका वृक्ष है । वृक्ष के लिए छोटा-सा बीज ही बोया जाता है; वृक्ष कभी नही बोया जाता । यदि फल-फूल के लिए कोई किसी बड़े वृक्ष को लगा दे तो, फल तो क्या, उस वृक्ष का ही अस्तित्व समाप्त हो जाएगा; वही सूख जाएगा । एक नन्हा-सा बीज, जिस मे न कोई ऊँचाई है, न मोटाई, न पत्ते है, न फूल, न कोई शाखा-प्रशाखा है, उसमें इन सबका कुछ भी अस्तित्व नहीं दिखाई दे रहा है परन्तु है उस छोटे से बीज में समग्र विशालकाय वृक्ष का अस्तित्व छिपा हुआ । वही बीज समय पाकर महावृक्ष के रूप मे फलता-फूलता है, संसार को अपनी शीतल सघन छाया और मधुर फल देकर तृप्त एवं आनन्दित करता है ।

सम्यग्दर्शन भी एक छोटा-सा बीज है, हृदयभूमि में छिपा हुआ साधना के क्षेत्र में यदि वह एक बार पड जाता है तो वही तेजस्वी बीज एक दिन मोक्ष या परमात्मा पद रूप महावृक्ष के रूप में दिखाई देता है ।

बीज की महत्ता इसमें नही है कि वह अधिक डाला गया है या कम, सघन डाला गया है या विरल ? उसकी महत्ता उसकी विशुद्धि, तेजस्विता और शक्ति में है । सम्यग्दर्शन रूपी बीज की महत्ता भी उसकी विशुद्धि, तेजस्विता और शक्ति मे है । जब परमात्मपद की समृद्धि—अनन्तज्ञानादि विभूति के रूप मे देखते है, तब हमें सम्यग्दर्शन की महत्ता की प्रतीति हो जाती है और हम आश्चर्य चकित हो उठते है । एक दिन बोया हुआ सम्यग्दर्शन का नन्हा

सा बीज भविष्य में अनन्त गुणों से समृद्ध महावृक्ष के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यों भी सम्यग्दर्शन रूपी बीज बीच-बीच में यम, संयम आदि के रूप में वृद्धिगत दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि आचार्य अमितगति ने कहा है—

> विवर्द्धमाना यमसंयमादयः पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा।
> फलन्ति हृद्यानि फलानि पादपाः, घनोदकेनेवामलापहारिणा॥

जिस प्रकार मैल को धो डालने वाले मेघों के जलवर्षण से वृक्ष मनोहर फलों से समृद्ध हो जाते है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान आदि मलों (दोषों) को दूर करने वाले पवित्र सम्यग्दर्शन गुण-मेघ के सतत सिंचन से आत्मा में यम, संयम आदि गुण वृद्धिगत होते हुए उसे समृद्ध बना देते है।

शुद्ध साधना का मूल : सम्यग्दर्शन

आध्यात्मिक साधना आत्मशुद्धि और आत्मिक शक्तियों के विकास के लिए की जाती है। प्रत्येक धर्म आध्यात्मिक साधना पर जोर देता है। साथ ही प्रत्येक धर्म इस प्रकार का दावा भी प्रायः करता है कि मेरी साधना सच्ची, अच्छी और पुरानी है। किन्तु साधना में जब मद, ईर्ष्या, राग-द्वेष अहंकार, लोभ, अन्ध श्रद्धा, पूर्वाग्रह लौकिक-पारलौकिक सुखों की कामना, दम्भ, छल, दिखावा, आडम्बर, प्रदर्शन, अविद्या, अज्ञान, मोह आदि दोष घुस जाते है, तब वे पवित्र से पवित्र साधना को अधर्म और अपवित्र कर डालते है। फिर वह साधना साधना न रहकर प्रसाधना या दुराग्रह स्थली बन जाती है। शुद्ध साधना के लिए मन, वाणी और आचरण तीनों की शुद्धता अनिवार्य बताई है। जैसा कि साधना मे शुद्धि की निष्ठा के लिए कहा गया है :—

> दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
> शास्त्रपूतां वदेद्वाच, मनःपूतं समाचरेत्॥

दृष्टि से भलीभाँति मार्ग की छानबीन करके कदम रखे। वस्त्र से बिना छान-कर जल नहीं पीए, शास्त्र से छान कर धर्म सम्मत वाणी का प्रयोग करे। मनन के द्वारा अच्छी तरह सोच कर योग्य कर्तव्य का आचरण करे।

वास्तव में शुद्ध साधना ही वहाँ है, जहाँ साधना के साथ स्वार्थ, लोभ, भय, प्रलोभन, कामना, दम्भ, दिखावा, छल आदि विकार न हों। ऐसी शुद्ध साधना के लिए सर्वप्रथम सम्यक् (शुद्ध) दृष्टि की आवश्यकता है। दृष्टि सम्यक् होगी तो वाणी और कर्म भी शुद्ध होंगे। परन्तु साधना के

पीछे अगर दृष्टि ही स्पष्ट, उदार, व्यापक, धर्मपुनीत और विवेकमयी नहीं है तो वे ही विचार वाणी में उतर कर आएंगे और कार्यों में भी उसी की झलक होगी। अशुद्ध एवं मिथ्यादृष्टि अशुद्ध, मिथ्या एवं विपरीत कार्य को जन्म देगी, उसके निमित्त से वाणी में भी अशुद्धता आएगी। अगर दृष्टि सत्य और शुद्ध होगी तो विचार और वचन में भी सत्यता और शुद्धि आ जाएगी।

अतः निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि शुद्ध साधना का मूल सम्यक् दृष्टि है। जहाँ दृष्टि सम्यक् होती है वहाँ प्रज्ञा भी स्थिर होती है, बुद्धि भी निश्चयात्मिका होती है।

सम्यग्दर्शन के बिना बुद्धि का विपर्यय नष्ट नहीं होता, प्रज्ञा स्थिर नहीं होती और न ही मन की वासना छूटती है। इसलिए भगवान महावीर कहते हैं—साधना प्रारम्भ करने से पहले मन के संस्कार शुद्ध करो, दृष्टि शुद्ध करो, प्रज्ञा और प्रतीति स्थिर और सुदृढ़ बनाओ, आत्मा का लक्ष्य निश्चित करो, क्योंकि शुद्ध मानस में ही धर्म स्थिर रह सकता है।[1] मलिन वस्त्र को रंगने से पहले रंगरेज उसे धोकर साफ करता है, अन्यथा, रंग की चमक नहीं आ सकती, समय और श्रम भी व्यर्थ जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना प्रारम्भ करने से पहले भी हृदय भूमि शुद्ध कर लेना आवश्यक है। हृदय भूमि शुद्ध करने के लिए अपने हृदयरूपी वस्त्र को साधना के रंग में रंगने से पहले विशुद्ध दृष्टि रूपी साबुन से धोकर उज्ज्वल बना लेना चाहिए।

एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझिए। दो चेंटे थे। एक रहता था नमकीन पहाड़ी पर और एक रहता था मिश्री के पहाड़ पर। एक बार नमकीन पहाड़ी पर रहने वाला चेंटा मिश्री की पहाड़ी वाले के पास आया। दोनों में सहृदयतापूर्वक बात हो रही थी, तभी नमकीन पहाड़ी वाले से मिश्री वाले ने पूछा—तुम कहाँ रहते हो? वहाँ का वातावरण कैसा है? उसने कहा—मैं जिस पहाड़ी पर रहता हूँ, वह एकदम खारा है। परन्तु यह बताओ कि "तुम कहाँ" रहते हो, वह जगह कैसी है? मिश्री की पहाड़ी वाले ने कहा—मैं जिस पहाड़ी पर रहता हूँ, वह एकदम मीठा है। आओ न जरा चखो तो सही। नमक की पहाड़ी वाले ने जाकर मिश्री की डली चखी और कहा—"यहाँ" पर भी तो खारा है। मिश्री के पहाड़ी वाले ने कहा—जरा मुँह खोलकर दिखलाओ तो, उसने मुँह खोला तो उसमें नमक के कण पड़े थे

---

१ [illegible]

तो दूसरे ने कहा—"तुम्हारे मुँह में तो अभी नमक के कण है, पेट में उन्ही का रस जा रहा है। मिश्री तो अभी होठो तक ही लगी है। अत पहले नमक को थूक दो, फिर मिश्री चखो तो उसके रस का अनुभव होगा। उस चेटे ने ऐसा ही किया, फिर मिश्री चबाई, तब कहा—हाँ, अब तो मीठा-मीठा लग रहा है।

भारतीय मनीषियों ने बताया है कि ये दो चेंटे है—मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी। मिथ्यात्वी है नमक की पहाड़ी वाला, जिसे सब खारा ही खारा लगता है। दूसरा है—सम्यक्त्वी, जो मिश्री की पहाड़ी वाला है। जब तक मिथ्यात्वी के मुह में मिथ्यात्व या अज्ञानरूपी नमक के कण रखे रहेगे, तब तक वह जितना भी तत्वज्ञान का रस चखेगा, उपदेश सुनेगा, या शास्त्र पढ़ेगा-सुनेगा, उसे सारा कड़वा ही कड़वा लगता रहेगा। जब वह उस मिथ्यात्व के कणों को थूक कर सम्यक् चिन्तन के जल से मुह धोएगा, तभी उसे तत्वज्ञान, उपदेश, सत्य, दया, क्षमा आदि के मिठास की अनुभूति होगी। क्योंकि उस समय अपने अपने मिथ्यात्व का सर्वथा वमन करके सम्यक्त्व के मधुर रस का पान किया है।

निष्कर्ष यह है कि जब संस्कार शुद्ध होगे, तभी अहिंसा, सत्य आदि धर्म साधना की ओर रुचि पैदा होगी। हृदय, बुद्धि आदि भी स्वस्थ होगे, तभी तत्वरुचि-आध्यात्मिक भोजन रुचि जगेगी। ज्वरग्रस्त व्यक्ति को चाहे जितना मधुर रस दिया जाए, उसे वह कड़वा ही लगता है, उसे ज्वर न उतरने तक भोजन में कोई रुचि नही होती, इसी प्रकार मिथ्यात्व-ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति भी धर्मोपदेश, तत्वज्ञान आदि का कितना ही मधुर रस पिलाया जाए, उसे कड़वा कहकर अरुचि प्रगट करेगा, आध्यात्मिक भोजन भी उसे रुचिकर नही लगेगा। अमितगति श्रावकाचार मे कहा है—

> अतथ्य मन्यते तथ्य विपरीतरुचिर्जनः।
> दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुर रसम्॥[1]

जैसे ज्वर ग्रस्त व्यक्ति मधुर रस को भी तीखा और खारा मानता है, वैसे ही मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति दोषातुर मन एवं विपरीत रुचि वाला होने से अतथ्य को भी तथ्य समझता है। मिथ्यात्व का ज्वर जब शान्त हो जाएगा, सम्यग्दर्शन रूपी औषध मिलेगी, तब तत्वज्ञान, धर्मोपदेश, आत्मस्वरूप के

---

१ अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद २, श्लोक १०।

क्यो बखान किया था ? जब मगध समाट् श्रेणिक उससे सामायिक खरीदने गया था, तब उसे एक सामायिक किसी भी मूल्य पर नही मिल सकी, उसका क्या कारण था ? कारण यह था कि उसकी सामायिक-साधना तेजस्विनी और प्रभावशाली थी, वह जीवन के प्रत्येक अंग और क्षेत्र में समभाव की धारा बहा देने वाली थी, पूणिया के प्रत्येक व्यवहार में सामायिक-साधना की सम्पत्ति दृष्टिगोचर होती थी। उसके अन्तर में सामायिक के प्रति गहरी निष्ठा, लगन, उत्साह और दृढता थी। इसीलिए सम्राट् श्रेणिक द्वारा अपार भौतिक वैभव का वचन देने पर भी एक सामायिक भी नही खरीदी जा सकी क्योकि उसकी एक सामायिक में नरकयात्रा टालने की शक्ति थी, जीवन को बदलने की शक्ति थी।

प्रश्न होता है, साधना में तेजस्विता, प्रभावशालिता और जीवन परिवर्तन की क्षमता कैसे आ सकती है ? इसका समाधान यह है कि जब आत्मा के साथ किसी साधना की रगड होती है, उसमें से सम्यग्दर्शन की चिनगारियां प्रकट होती हैं, तो यह साधना आत्मा को छूती है, देह तक ही सीमित नही रहती, भावनाओ का स्पर्श करती है, तब उस साधना मे रस का प्रादुर्भाव होता है, आनन्द की ऊर्मियां उछलने लगती हैं, उत्साह की किरणें फूटने लगती है। आत्माभावो की ज्योति अन्तर में जगमगाने लगती है, तभी साधना में तेजस्विता, शक्ति, प्रभावशालिता और क्षमता आती है। जब जीवन में साधना का मूल्याकन उसकी समयावधि, एवं संख्या की गणना से किया जाता है, तब वह साधना साधक की आत्मा को न छूकर उसके देह से ही लिपटी रहती है। उसका विश्वास-धारणा भ्रान्त होकर साधना की गिनती और काल-मापन में लगी रहती है। इतना जप, इतनी तपस्या, इतनी सामायिक-साधना, इतने समय तक की हो चुकी है तो उसकी साधना उच्च मानली जाती है परन्तु यह मापदण्ड गलत है। यह लेखा-जोखा या गणना करने की बनिया वृत्ति ही गलत है। साधना का मूल्य उसके भाव में है, और साधना तभी मूल्यवान् बनती है, जब सम्यग्दर्शन रूपी धन उसके साथ-साथ रहे। जो साधना सम्यग्दर्शन से युक्त होगी, वह परमार्थ को छुएगी। परमार्थ स्पर्श से रहित साधना करने वाले निर्वाण से वंचित रह जाते हैं।

साधना के पूर्व सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रज्वलित न होने पर अनन्त-*अनन्तकाल बीत चुका है, और अनन्तकाल बीत सकता है, मगर मुक्ति दूराति-*दूर ही रहेगी।

यामन नहीं होता, न उनके अभाव में रोता-बिलखता है, बल्कि उनके प्रति विरक्ति हो जाती है।

जिनत्व की प्रथम भूमिका : सम्यग्दर्शन

आध्यात्मिक विकास की अन्तिम भूमिका 'जिनत्व' मानी गई है। यह १३ वें-१४ वें गुणस्थान में जाकर पूर्ण होती है। यही पूर्णजिनत्व की भूमिका है। पूर्णरूप मे जिसमें जिनभाव अर्थात वीतराग भाव जागृत हो जाता है, उसे जिन कहते है। उस जिनभाव की पहली भूमिका निजभाव को समझना है। इसे ही हम सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि कहते है। यही (चतुर्थगुणस्थान) मे सर्वप्रथम आत्मा की शुद्ध शक्तियों मे विश्वास जागृत होता है, आत्मा अन्तर्मुखी होकर निजभाव में स्थिर होने लगता है। यही से आशिक जिनत्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है, जिसे हम जैनधर्म की भाषा में 'जैन' कहते हैं। संक्षेप में कहें तो, श्रद्धा के रूप में आत्मस्वरूप की उपलब्धि के हेतु आत्म-पुरुषार्थ जागृत होते ही जिनत्व की प्रथम मंजिल प्राप्त हो जाती है, इसके प्राप्त होने पर साधक को आशिक रूप से जिनत्व का अधिकार मिल जाता है, जिनत्व का आशिक विकास ही जैनत्व है, और पूर्ण विकास है—जिनत्व। स्व-भाव की दृष्टि जितनी निर्मल होती जाती है, उतना ही सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता जाता है जब आत्मा पूर्णरूप से स्व मे लीन हो जाती है, तब वह 'जिन' बन जाती है। स्वलीनता ही धर्म है। जिनत्व स्वलीनतारूप धर्म का चरम विकास है, सम्यग्दर्शन उसकी प्रथम भूमिका है। इसलिए सम्यग्दर्शन वीतराग भाव का अग्रदूत है। इसलिए कहा गया है :—

> जे जे अंशेरे निरुपाधिकपणो, ते ते अंशे रे धर्म।
> सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणा थकी जाव लहे शिवशर्म॥

जितने-जितने अंश मे आत्मा निरुपाधिकता (वाह्यभाव से हटकर स्वभाव मे लीनता) मे आती है, उतने-उतने अंश में वह धर्म (स्व-भाव) के, जिनत्व के निकट आती है, और सम्यग्दृष्टि से गुणस्थान से क्रमश उत्तरोत्तर निर्मल होती हुई अन्त में जिनत्व (स्वभाव में पूर्ण लीनता) की भूमिका पर पहुँच कर मुक्ति प्राप्त कर लेती है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन धर्म और साधना का मूल है। □

निष्कर्ष यह है कि पथ अनन्त है, मंजिल बहुत दूर है। अनन्त-अनन्त यात्री न जाने कब से चले आ रहे हैं, भटकते हुए, लड़खड़ाते हुए। उनकी साधना अनन्तकाल से चल रही है, पर सम्यग्दर्शन नहीं मिला है, इसलिए वे साधना की पगडंडी पर ठीक ढंग से चल नहीं रहे हैं। वे साधना के क्षेत्र में अभी तक जप, तप, सामायिक आदि की संख्या और काल की गणना करते हुए चल रहे हैं। इसलिए (मुक्ति) दूर होती जा रही है। जिस दिन उन्हें सम्यग्दर्शन मिल जाएगा, वे कुछ ही क्षणों में ठीक ढंग से चलने का फैसला कर लेंगे और वे बहुत शीघ्र ही मंजिल को पा लेंगे।

आध्यात्मिक शक्ति का मूल नियंता : सम्यग्दर्शन

संसार में शक्ति के दो रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं—भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक शक्ति का क्षेत्र बाह्य जगत् है। शरीर, धन, ऐश्वर्य, सत्ता, प्रभुता, आदि भौतिक शक्ति के रूप हैं। किन्तु इन भौतिक शक्तियों द्वारा बाह्य जगत् का जितना विकास होता है, जितना इन्द्रिय विषय सुख मिलता है, उतना ही ह्रास और विनाश, दुःख और संकट भी सम्भव है। वर्तमान में विश्व के प्रमुख राष्ट्र विशाल भौतिक शक्ति के उन्माद में दूसरे राष्ट्र को कुचलने और अपने अधीन बनाने की होड़ लगा रहे हैं। इसलिए भौतिक शक्ति के प्रवाह पर आध्यात्मिक शक्ति का अंकुश रहना अनिवार्य है। संसार में कुछ महाशक्तियाँ पैदा हुई, उन्होंने अपने बल और प्रभाव का आतंक भी फैलाया, परन्तु आखिर वे शक्तियाँ आध्यात्मिकता के नियन्त्रण से मुक्त होकर विनाशकारी सिद्ध हुई। रावण, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती जैसे पराक्रमी भी यहाँ हुए किन्तु वे भौतिक शक्तियों से पराजित ही हुए, आखिर वह विनाश के गर्त में जा गिरे। इसलिए भौतिक शक्तियों की गति पर आध्यात्मिक शक्ति का नियन्त्रण रहना आवश्यक है। भौतिक शक्तियों से आकृष्ट होने पर जब उनके सुखद फलों का लोभ घुस जाता है और व्यक्ति उनका गुलाम बन जाता है, तब पतन और विनाश होता है। यदि उस समय उन पर आध्यात्मिक शक्ति का अंकुश लग जाए तो भौतिक शक्तियों की तृष्णा या आकर्षण से मनुष्य उनसे विरत हो सकता है।

प्रश्न है आध्यात्मिक शक्ति का मूल नियंता या प्रमुख कौन है, जो भौतिक शक्तियों पर नियंत्रण कर सके, या उनसे विरत कर सके? सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक शक्तियों का प्रमुख एवं मूल नियंता है, जिसके आने पर व्यक्ति की भौतिक शक्ति, भौतिक समृद्धि और उपलब्धि के प्रति मन का

यामन नही होता, न उनके अभाव में रोता-विलखता है, बल्कि उनके प्रति विरक्ति हो जाती है।

जिनत्व की प्रथम भूमिका : सम्यग्दर्शन

आध्यात्मिक विकास की अन्तिम भूमिका 'जिनत्व' मानी गई है। यह १३ वें-१४ वें गुणस्थान मे जाकर पूर्ण होती है। यही पूर्णजिनत्व की भूमिका है। पूर्णरूप से जिसमें जिनभाव अर्थात वीतराग भाव जागृत हो जाता है, उसे जिन कहते हैं। उस जिनभाव की पहली भूमिका निजभाव को समझना है। इसे ही हम सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि कहते है। यही (चतुर्थगुणस्थान) से सर्वप्रथम आत्मा की शुद्ध शक्तियों में विश्वास जागृत होता है, आत्मा अन्तर्मुखी होकर निजभाव में स्थिर होने लगता है। यही से आंशिक जिनत्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है, जिसे हम जैनधर्म की भाषा में 'जैन' कहते हैं। संक्षेप में कहें तो, श्रद्धा के रूप में आत्मस्वरूप की उपलब्धि के हेतु आत्म-पुरुषार्थ जागृत होते ही जिनत्व की प्रथम मंजिल प्राप्त हो जाती है, इसके प्राप्त होने पर साधक को आंशिक रूप से जिनत्व का अधिकार मिल जाता है, जिनत्व का आंशिक विकास ही जैनत्व है, और पूर्ण विकास है—जिनत्व। स्व-भाव की दृष्टि जितनी निर्मल होती जाती है, उतना ही सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता जाता है जब आत्मा पूर्णरूप से स्व मे लीन हो जाती है, तब वह 'जिन' बन जाती है। स्वलीनता ही धर्म है। जिनत्व स्वलीनतारूप धर्म का चरम विकास है, सम्यग्दर्शन उसकी प्रथम भूमिका है। इसलिए सम्यग्दर्शन वीतराग भाव का अग्रदूत है। इसलिए कहा गया है :—

> जे जे अंशेरे निरुपाधिकपणो, ते ते अंशे रे धर्म।
> सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणा थकी जाव लहे शिवशर्म॥

जितने-जितने अंश मे आत्मा निरुपाधिकता (बाह्यभाव से हटकर स्वभाव में लीनता) मे आती है, उतने-उतने अंश में वह धर्म (स्व-भाव) के, जिनत्व के निकट आती है, और सम्यग्दृष्टि से गुणस्थान से क्रमश उत्तरोत्तर निर्मल होती हुई अन्त में जिनत्व (स्वभाव मे पूर्ण लीनता) की भूमिका पर पहुँच कर मुक्ति प्राप्त कर लेती है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन धर्म और साधना का मूल है। □

५. सम्यग्दर्शन की जीवन परिणति

●●

पिछले पृष्ठों में विभिन्न पहलुओं से सम्यग्दर्शन की महत्ता और मुख्यता पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब हमें यह देखना है कि सम्यग्दर्शन से जीवन में किस प्रकार की समता तटस्थता और सहिष्णुता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि के जीवन में अन्य जीवन से क्या विशेषता होती है, यह प्रस्तुत में हम विचार करेंगे।

सम्यग्दर्शन : त्रिलोक में सर्वोत्कृष्ट श्रेयस्कर

यह तो निर्विवाद है कि सम्यग्दर्शन से बढ़कर संसार में कोई भी वस्तु कल्याणकर नहीं है। यों तो क्षमा, दया आदि अनेक गुण हैं, सत्य, अहिंसा आदि अनेक व्रत, नियम, उपनियम आदि हैं, प्रश्न होता है, इतने गुणों तथा व्रतों आदि से क्या आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता? क्या इतने गुण आत्मा के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकते? इसका समाधान यह है कि क्षमा, दया आदि गुण तथा सत्य, अहिंसा आदि व्रत, एवं नियमोपनियम, त्याग आदि सब आत्मा के लिए कल्याणकारी है, परन्तु ये [सभी गुण, व्रत, नियम जप, तप आदि तभी कल्याणकारी हो सकते हैं, जब इनमें पूर्व सम्यग्दर्शन हो।

तात्पर्य यह है कि व्रत, नियम, तप, गुण आदि कल्याणकारक अवश्य है, किन्तु इन सबकी कल्याणकारकता सम्यग्दर्शन पर अवलम्बित है। आचार्य समंतभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्पष्ट कह दिया है :—

> न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
> श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम्॥[1]

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, श्लोक ३४।

जीवों के लिए तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान कोई और कल्याणकारक नही है, इसीप्रकार तीन काल, तीन लोक मे मिथ्यात्व के समान कोई और अकल्याणकारक नही है।

अनन्त अतीत, वर्तमान का एक समय और अनन्त भविष्य इन तीनों कालो मे तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक इन तीनो लोको मे सम्यग्दर्शन जैसा कोई भी तत्व जीव का कल्याणकारक—उपकारक नही हुआ, न होगा और न ही वर्तमान मे है।

प्रश्न होता है, अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु या धर्मसंघ, तथा इन्द्र, अहमिन्द्र, बलदेव-वासुदेव आदि या माता-पिता आदि आप्तपुरुष को शास्त्रों में उपकारी एवं कल्याणकर्ता बताया गया है, मणि, मंत्र, औषध आदि भी उपकारक है तो क्या सम्यग्दर्शन ही अकेला उपकारक या कल्याणकर्ता है, ये नही हैं?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि देव, गुरु, धर्म आदि तथा इन्द्रादि या माता पिता आदि सच्चे माने मे तभी कल्याणकारी हो सकते हैं, जब सम्यग्दर्शन हो। दृष्टि सम्यक् न हो तो सच्चे देव, गुरु, धर्म आदि भी या और कोई भी आत्मा के लिए उपकारी या कल्याणकारी नही हो सकते। जब तक दृष्टि सम्यक् न हो, तब तक मणि, मंत्र, औषधि आदि भी आत्मकल्याण का उद्देश्य सिद्ध नही कर सकते।

कोई भी महापुरुष या महान् धर्म क्यो न हो, जब तक मिथ्यात्व है, ...ब तक वे आत्मकल्याण के निमित्त नही बन सकते। गोशालक भगवान ...हावीर के साथ वर्षों तक रहा, परन्तु भगवान महावीर जैसे तीर्थंकर देव ...ा जगद्गुरु मिलने पर भी तथा महान् निर्ग्रन्थ धर्म का योग मिलने पर ... वह आत्म-कल्याण न कर सका, बल्कि इनके प्रतिकूल ही चलता रहा। ...के पीछे क्या कारण था? गोशालक की दृष्टि सम्यक् नही थी, विपरीत ...ट के कारण वह इनसे आत्मकल्याण रूप लाभ न उठा सका। अन्यथा ... गोशालक की दृष्टि सम्यक् होती तो भगवान महावीर जैसे देव और ...था उनका महान् धर्म-संघ उसके लिए उपकारक या कल्याणकारक ...र बनते। इसलिए नि.सन्देह यह कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन ही ...लोक और तीन काल में सर्वोत्कृष्ट उपकारक एवं कल्याणकारक है। ...भी निमित्त तभी कल्याणकारक हो सकते हैं, जब कि सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन : आध्यात्मिक जीवन का प्राण

आध्यात्मिक जीवन के दो फेफड़े है—ज्ञान और चारित्र। अहिंसा, सत्य आदि व्रत तथा तप, समिति, गुप्ति, धर्म अनुप्रेक्षा आदि उसके अंगोपांग है। शास्त्रज्ञान तथा स्वाध्याय आदि भी उसके आवश्यक अंग हैं और सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण हैं। अगर सम्यग्दर्शन नही रहता है तो ज्ञान और चारित्र भी विकृत हो जाते हैं, अहिंसा, सत्य आदि समस्त अंगोपांग भी बिगड जाते है. वे भी अपना कार्य यथोचित-रूप से नही कर पाते। आत्मा जब स्वभाव को छोडकर विभाव में चली आती है, तब क्षण-क्षण मे उसका भावमरण होता जाता है, अर्थात् ऐसी स्थिति में प्रतिक्षण आत्मा सम्यग्दर्शन रूपी प्राण से रहित होती जाती है। इसी कारण सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति को चलता-फिरता शव बताते हुए भावपाहुड (गा० १४३) मे कहा है —

> 'जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होई चलसवओ।
> सवओ लोय-अपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥

इस लोक मे जीव (प्राण) रहित शरीर को शव (मुर्दा) कहा जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में सम्यग्दर्शन से रहित जीव को चलता फिरता शव (मुर्दा) माना गया है। इन दोनों मे जीव रहित शव लौकिक में, व्यवहार मे अपूज्य माना जाता है। कोई भी व्यक्ति मुर्दे का स्पर्श नहीं करना चाहता है, अगर मुर्दे का स्पर्श हो जाय तो वह अपवित्र माना जाता है, ऐसी स्थिति में उसे स्नान करना पडता है, जबकि लोकोत्तर व्यवहार में ज्ञानियो की दृष्टि मे सम्यग्दर्शन-रहित चलते फिरते शव-सा जीव इस लोक में अपूज्य, संगति न करने योग्य, अपवित्र एवं अनादरणीय माना जाता है। परलोक मे भी वह नरक तिर्यंच आदि नीच गति मे जाता है।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र मे आयुष्य की अन्तिम वेला मे मरण को ही मरण नही कहा है, अपितु मरण के अनेक प्रकार बताए है, उनमें से एक मरण बताया है—आवीचिमरण, जिसमे प्रतिक्षण आयु के क्षण घटते जाते है। और वही क्षण अगर स्वभाव को छोड कर विभाव मे चला गया तो एक प्रकार का भावमरण ही है। जैसा कि श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है —

> 'क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो।'[1]

—जिसकी विभाव-परिणति रुकी नही, उसे ज्ञानी पुरुषो ने चलता-फिरता शव कहा है। जितना समय स्वभाव दशा मे व्यतीत होता है, उसे ही ज्ञानी-पुरुष जीवन कहते हैं, बाकी का उसका समय भावमरण मे ही बीतता है।

अतः सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक जीवन का प्राण है, जो आत्मा की स्वदशा को स्थिर रखता है; ज्ञान, चारित्र, सत्य, अहिंसा आदि तथा तप, जप आदि को सम्यक् बनाकर उनमे प्राणो का संचार करता है।

सम्यग्दृष्टि : विषय-कषायों से निर्लिप्त

सम्यग्दर्शन संसार को और संसार के सभी पदार्थों को अपने असली स्वरूप मे देखने की दृष्टि दे देता है। सम्यग्दर्शी की दृष्टि मे ही ऐसा जादू पैदा हो जाता है कि वह ससाररूपी कीचड़ में रहते हुए भी कमल की तरह निर्लेप रहता है। 'समणसुत्तं' में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

> जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
> तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥[1]

—जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नही होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयो में लिप्त नही होते।

सम्यग्दृष्टि महान् आत्मा की दृष्टि मे ही ऐसा जादू है कि वह 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान हृदय से समझ लेता है। वह समझ लेता है कि कषाय और विषय अपने नही है, ये परभाव है, इसलिए वह चारो ओर इन्द्रियविषयो और कषायो से घिरा रहने पर भी उनमे लिप्त नही होता।

कई लोग पाँचो इन्द्रियो के विषयो का त्याग कर देते है, आँखों के सामने जब कभी कोई मोहक रूप आता है तो वे आँखें मूँद लेते है, कानो में ज्यों ही कोई रसीली स्वरलहरी पड़ी कि वे कान बन्द कर लेते हैं, या वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाते है। नाक में सुगन्धित इत्र या सेंट की महक पड़ते ही वे नाक बंद कर लेते हैं, हाथों से या शरीर से ज्यों ही किसी कोमल वस्तु का स्पर्श हुआ, वे छोडकर भाग खड़े होते हैं, जीभ पर मनोज्ञ वस्तु पड़ते ही वे भड़क जाते हैं। अथवा मोहक रूप सामने आते ही वे आँखें फाड़-

---

१. समणसुत्त, गा० ७४—दसण पाहुड।

फाड़कर आसक्तिपूर्वक देखने लग जाते हैं, और कुरूप, असुन्दर, अमनोज्ञ रूप सामने आते ही वे उसके प्रति घृणा, द्वेष, अरुचि एवं विरोध प्रगट करने लगते हैं या मन ही मन ऐसा सोचने लगते हैं।

इसी प्रकार कानों में सुरीली मधुर प्रशंसात्मक या मोहक ध्वनि पड़ते ही बड़े चाव से उसे सुनने लगते हैं, अथवा कानों में गंदी, निन्दात्मक, कर्कश, कर्कश आवाज पड़ते ही वे क्रोध के मारे झल्ला उठते हैं, उसके प्रति अरुचि, घृणा, द्वेष या रोष उनके मन में पैदा हो जाता है। नाक में सुगन्धित पदार्थ की महक पड़ते ही वे मस्ती में झूमने लगते हैं, और बदबू एवं दुर्गन्ध पड़ते ही वे नाक बंद करके वहाँ से भागने लगते हैं, उसके प्रति अरुचि या घृणा प्रगट करते हैं। कोमल गदगुदा स्पर्श होते ही उसे आसक्तिपूर्वक अपनाने लगते हैं और उसके प्रति मन में मोह और राग पैदा होता है। अगर कठोर, खुरदरा और अत्यन्त गर्म या ठंडा स्पर्श हो तो अरुचि या घृणा होने लगती है, उस स्पर्श को छोड़कर भागने का मन होता है। जीभ पर मनोज्ञ, मधुर स्वादिष्ट वस्तु आते ही वह मचल उठती है और अमनोज्ञ, कड़वी, कसैली, अत्यन्त खट्टी, अस्वादिष्ट वस्तु के आते ही तिलमिला उठती है, थूक देती है, अरुचि प्रगट करने लगती है। ये सब विकृत दर्शन के ही रूप हैं। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है वह इन मनोज्ञ विषयों को अपना समझकर राग, मोह और आसक्ति करता है, और अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष, घृणा, अरुचि और रोषादि प्रकट करने लगता है। परन्तु सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति वस्तुस्वरूप समझकर न तो इन विषयों पर राग करता है, और न द्वेष। वह इन्हें अपना समझता ही नहीं। वह तटस्थ रहता है, समभावपूर्वक रहता है। वह न तो इनमें लिप्त होता है और न ही इनसे दूर भागता है। मान लीजिए कोई प्रशंसात्मक शब्द कहे तो वह उन शब्दों को पर समझकर राग एवं मोह से लिप्त नहीं होगा और न ही निन्दात्मक, कटु एवं उत्तेजक शब्दों से भड़ककर द्वेष ही करेगा, न रोष और वैर विरोध करेगा। वह वस्तुस्वरूप समझकर तटस्थ रहेगा। वह न रागवश लिपटेगा और न द्वेषवश छिटकेगा।

वास्तव में, संसार में रहते हुए भी जो संसार के विषयों में अलिप्त रहता है उनमें आसक्त नहीं होता, वही व्यक्ति मोक्ष की ओर [illegible] कर सकता है। सम्यग्दृष्टि का जीवन इसी प्रकार [illegible] है जिसका जन्म तो भोग के कीचड़ में हुआ है,

जो इस भोग के पंक से ऊपर उठकर कमल के समान निर्लिप्त और विकसित रहता है।

भोग के तीन रूप

संसार में भोग के तीन रूप दृष्टिगोचर होते है—

एक रूप तो यह है कि जब आत्मा किसी पदार्थ का भोग-उपभोग करता है, तब उसके रूप, रंग, गंध आदि का एक विशेष अनुभव करता है। वर्तमानकाल में जिस वस्तु का इन्द्रियो द्वारा उपभोग किया जा रहा है, उस वस्तु के भी भूत और भविष्य के रूप का मन के द्वारा उपभोग करता रहता है।

दूसरा रूप है—भोजन करने से पहले ही भोजन की आसक्ति मन में जग जाती है। उसके रस-गंध आदि की मधुर कल्पना से मुंह में पानी आने लग जाता है। वस्तु का भोग अभी इन्द्रियों द्वारा हुआ नही है, किन्तु मन भोजन का काल्पनिक आस्वाद लेने लग जाता है। इसे भोग के पहले भोग कहते हैं।

तीसरा रूप है—भोजन कर चुकने के बाद भी भोगक्रिया बंद नही होती, भोग के साथ राग या आसक्ति के तन्तु जब तक नही टूटते, तब तक भोग चालू रहता है। भोग की स्मृति होती है, तब मन आकुल और आतुर हो जाता है। किसी सुख-भोग के साथ जुडी हुई स्मृति से मन में उस वस्तु के प्रति आसक्ति या राग प्रबल हो उठता है। यदि स्मृति किसी दु ख-भोग से जुड़ी हुई है, तो मन में द्वेष, घृणा, अरुचि आदि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। भोग की यह प्रक्रिया जागृत अवस्था मे भी चलती है, स्वप्नावस्था में भी। स्वप्न में भोग होता है, केवल मन के द्वारा।

इस प्रकार भोग की ये तीन अवस्थाएँ है। तीनो अवस्थाओ मे भोग के साथ राग और द्वेष की वृत्ति जुडी रहती है। भोग की यह परम्परा एक जन्म मे ही नही, जन्म-जन्मान्तरो तक चलती रहती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि इष्ट विषय प्राप्त होने पर राग और अनिष्ट विषय प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करता।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादि से अलिप्त रहकर नवीन कर्मबंध नहीं करता।

जैसे किसी व्यापारी ने अपनी दुकान पर किसी को मुनीम रखा। वही दुकान का सारा कारोबार संभालता, हिसाब-किताब व्यवस्थित

ग्रता, खरीदने, बेचने आदि का सारा कार्य वही करता । किन्तु वह मन सदैव यही समझता कि मैं इस दुकान का मालिक नही हूँ, मालिक अमुक व्यापारी है। मैं तो मालिक द्वारा बताया हुआ या कराया हुआ व्यापार सम्बन्धी कार्य करता हूँ। दूसरी ओर जो व्यापारी है, वह स्वयं कान सम्बन्धी कोई कार्य नही करता, घर में ही रहता है, तथापि व्यापार तथा उसमे होने वाले हानि-लाभ का स्वामी होने से वह व्यापारी उस व्यापार सम्बन्धी कार्य का कर्ता (मालिक) समझा जाता है, मुनीम नही, मुनीम को घाटे-नफे में दुःख-सुख महसूस नही होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी पूर्वसंचित कर्मों के उदय से प्राप्त हुए पाँचो इन्द्रियो के विषयो का सेवन करता हुआ भी उनके प्रति राग-द्वेष, मोह, कर्तृत्व का अहंकार आदि विकार न होने से तथा विषय-सेवन का कर्तृत्व एवं स्वामित्व न होने के कारण विषय-सेवनकर्ता नही होता; जबकि मिथ्यादृष्टि विषयो का सेवन नही करता या थोडा करता है; फिर भी वह विषयो के प्रति अतृप्त रहता है, अप्राप्त विषयो के प्रति भी राग-द्वेष-मोह रखता है, रात-दिन मनोज्ञ विषयो को प्राप्त करने और अमनोज्ञ विषयो को हटाने का मन मे चिन्तन करता रहता है। अत. विषय-सेवन न करता हुआ भी विषय-सेवन फल का स्वामित्व भाव होने से वह विषय-सेवनकर्ता माना जाता है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि अपने घर में रहता हुआ भी स्वयं को घर का स्वामी नही मानता, वह अपने को केवल व्यवस्थापक और ज्ञाता-द्रष्टा मानता है।

पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) मे इसी तथ्य का स्पष्ट समर्थन किया गया है—

> इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
> वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥[1]

—इस प्रकार स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि आत्मिक ज्ञान और सुख का ज्ञाता होता है, इसलिए इन्द्रियजन्य वैषयिक सुख और ज्ञान में राग-द्वेष का परित्याग करता है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि प्रत्येक इन्द्रिय से यथावश्यक विषय का उपभोग करता है, किन्तु उस इन्द्रियविषय के प्रति राग और द्वेष से, उससे

---

१. पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, गा० २७१।

वासना और आसक्ति से लिप्त नही होता । आचाराग सूत्र मे सम्यग्दृष्टि की इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए कहा है :—

> न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागय ।
> रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
> न सक्का फासमवेएउ फासविसयमागयं ।
> रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥[1]

—यह सम्भव नही है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने मे न आए । किन्तु भिक्षु (अथवा सम्यग्दृष्टि) उनके प्रति मन मे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का त्याग अवश्य करे । इसी प्रकार शरीर से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, ऐसा शक्य नही है, किन्तु भिक्षु या सम्यग्दृष्टि उन स्पर्शों के प्रति उठने वाले राग या द्वेष का परित्याग अवश्य करे ।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्पर्क मे आए हुए शब्दादि अन्य विषयो के रसो का भी अनुभव न होना शक्य नही है । किन्तु उनके प्रति मन मे राग-द्वेष का परिहार सम्यग्दृष्टि अवश्य करता है ।

आँखें हैं तो वे रूप का ग्रहण अवश्य करेंगी, अच्छा या बुरा जो भी दृश्य सामने आएगा, आँखे उन्हें ग्रहण किये बिना रह न सकेंगी । साधक बनने के लिए सूरदास बनना आवश्यक नही है । सम्यग्दृष्टि यह आवश्यक समझता है कि वह आँखों के सामने सहज भाव मे जो भी अच्छा या बुरा रूप आ जाए, उसे ग्रहण भले ही करे, परन्तु उसके सम्बन्ध मे मन मे राग-द्वेषादि का भाव या दुर्विकल्प न आने पाए । इसी प्रकार वह यह भी समझता है कि कान है तो अच्छा या बुरा स्वर या शब्द उनमे पडेगा ही, उसे वह ग्रहण-श्रवण तो करेगा, निन्दा-स्तुति, जयकार और भर्त्सना दोनो ही प्रकार की ध्वनियाँ कर्णकुहरो मे अवश्य पड़ेगी, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष का विकल्प नही उठना चाहिए ।

निश्चयदृष्टि से सम्यग्दृष्टि का यह निश्चित मत होता है कि बन्धन न शरीर मे है, न इन्द्रियो मे और न किसी [illegible] यह शरीर मेरा नही है, न इन्द्रियाँ मेरी हैं और न ही [illegible] भी मेरे है । ये सब जड है । मैं इन सबसे [illegible] हूँ ।

---

[1] आचाराग २। ३। १५। १३४-१३५ ।

रखता, खरीदने, बेचने आदि का सारा कार्य वही करता। किन्तु वह मन में सदैव यही समझता कि मैं इस दुकान का मालिक नहीं हूँ, मालिक तो अमुक व्यापारी है। मैं तो मालिक द्वारा बताया हुआ या कराया हुआ व्यापार सम्बन्धी कार्य करता हूँ। दूसरी ओर जो व्यापारी है, वह स्वयं दुकान सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करता, घर में ही रहता है, तथापि व्यापार का तथा उसमें होने वाले हानि-लाभ का स्वामी होने से वह व्यापारी ही उस व्यापार सम्बन्धी कार्य का कर्ता (मालिक) समझा जाता है, मुनीम नहीं, मुनीम को घाटे-नफे में दुःख-सुख महसूस नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी पूर्वसंचित कर्मों के उदय से प्राप्त हुए पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनके प्रति राग-द्वेष, मोह, कर्तृत्व का अहंकार आदि विकार न होने से तथा विषय-सेवन का कर्तृत्व एवं फल-भागित्व न होने के कारण विषय-सेवनकर्ता नहीं होता; जबकि मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन नहीं करता या थोड़ा करता है; फिर भी वह विषयों के प्रति अतृप्त रहता है, अप्राप्त विषयों के प्रति भी राग-द्वेष-मोह रखता है, रात-दिन मनोज्ञ विषयों को प्राप्त करने और अमनोज्ञ विषयों को हटाने का मन में चिन्तन करता रहता है। अतः विषय-सेवन न करता हुआ भी विषय-सेवन फल का स्वामित्व भाव होने से वह विषय-सेवनकर्ता माना जाता है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि अपने घर में रहता हुआ भी स्वयं को घर का स्वामी नहीं मानता, वह अपने को केवल व्यवस्थापक और ज्ञाता-द्रष्टा मानता है।

पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) में इसी तथ्य का स्पष्ट समर्थन किया गया है—

> इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
> वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥[1]

—इस प्रकार स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि आत्मिक ज्ञान और सुख का ज्ञाता होता है, इसलिए इन्द्रियजन्य वैषयिक सुख और ज्ञान में राग-द्वेष ... है।

...दृष्टि प्रत्येक इन्द्रिय से यथावश्यक विषय का उप-... उस इन्द्रियविषय के प्रति राग और द्वेष से, उसकी

भला यह कैसी बात है, कि कोई इन्द्रिय अपने विषय के उपभोग में प्रवृत्त हो, और उससे अहित होता है, ऐसा मानकर उसे तोड़-फोड़ डाला जाए। यह अत्यन्त मूर्खता की बात होगी कि आँख यदि संकल्पित धारणा से दूर भागे तो फोड़ दी जाए, कान अपवित्र शब्द सुने तो वे काट लिए जाएँ, हाथ कोई अनिष्ट कर्म करे तो उसे काट लिया जाए, पैर कहीं बुरे स्थान में जाएँ तो वे काट दिये जाएँ, दिल साथ न दे तो उसे नष्ट कर दिया जाए। तो फिर संसार-मुक्ति का साधन क्या आत्महत्या को बनाया जाएगा? आत्महत्या से तो और अधिक कर्मबन्धन होकर संसार-यात्रा करनी पड़ेगी। जब तक आत्मा संसार में यात्रा करती रहेगी, तब तक इन्द्रियाँ और शरीर का यह संग उसके साथ चलता रहेगा।

प्रश्न होता है, फिर क्या किया जाए, जिससे इन्द्रियाँ विषयगामी न हों, आत्मा का अहित न करे? इस समस्या का सम्यग्दृष्टि सही समाधान यही करता है कि वह वृत्तियों को बदलता है, भावनाओं का जो प्रवाह असंयम की ओर उन्मुख होता है, उसे वह संयम की ओर मोड़ता जाता है।

सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि इन्द्रियों की प्राप्ति अत्यन्त पुण्य से होती है, शुभकर्मों के उदय से स्वस्थ सशक्त शरीर व परिपूर्ण इन्द्रियाँ मिलती हैं। शरीर व इन्द्रियों के बिना साधना कैसे हो सकेगी? कान से सुनाई न दे तो किसी शास्त्र या भगवद्वचन का श्रवण कैसे हो सकता है? आँखों से दिखाई न दे तो जीवों की दया कैसे पल सकती है? अतः इन्द्रियों की प्राप्ति या इन्द्रियों से विषय ग्रहण करना अपने आप में पाप नहीं है, पाप है इन्द्रियों की दुष्प्रवृत्ति। पाप और पुण्य का स्रोत आत्मा है, इन्द्रियों के नाले में वह बहता है। अगर आन्तरिक वृत्तियाँ शुभ हों तो पापवृत्तियाँ दब जाती हैं, कमजोर हो जाती हैं। जब भावनाएं अशुद्ध योग में रमती हैं, तब पाप का स्रोत प्रबल हो जाता है, पुण्य का स्रोत निर्बल। भगवान् महावीर ने पुण्य-पाप का आधार इन्द्रियों को नहीं माना है।

निष्कर्ष यह है कि शरीर और इन्द्रियों को नष्ट न किया जाए, उन्हें बदला जाए, मन पर नियंत्रण रखा जाए। मन अगर समता की पगडंडी छोड़कर राग-द्वेष की अनिष्ट गलियों में भटकता है, तो उसे समझाया जाए। सभी धर्मशास्त्र कहते हैं—जीवनचक्र की महानगरी में शरीर और इन्द्रियों को निर्देश देने वाले जो परम सूक्ष्म तत्त्व एवं आत्म-

मेरे स्व-स्वरूप में काल और कर्म बाधक नहीं हो सकते। क्योंकि कर्म जड़ हैं और 'स्व' से भिन्न पर है। आत्मा सदा अपने स्व (चित्) रूप में है, पर-जड़रूप में नहीं है। अतः पर-जड़रूप में बन्धन और मोक्ष की क्षमता नहीं है। क्या आत्मा इन पर (कान, आँखें, जीभ आदि इन्द्रियों) के बन्धन में बंध सकती है? अनन्त शक्तिशाली आत्मा को बाँधने की शक्ति इनमें नहीं है। परन्तु जब कभी बन्धन होता है तो आत्मा के अपने विचार—रागादि भाव से होता है। आत्मा मन के जरिये ही बन्धन और मुक्ति प्राप्त करती है। इन्द्रियों, शरीर और बाह्य पदार्थों के सम्पर्क के पश्चात् जो भावना में विकृति आती है, रागादि का संचार होता है, वही आत्मा को बन्धन में डालता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में यह विशेषता होती है, कि वह राग-द्वेष आसक्ति आदि विकल्पों का निमित्त नहीं बनता, इसलिए उसकी आत्मा बंधती नहीं। वह रागादि विकारों को इन्द्रिय-सम्पर्क के समय अपने मन में नहीं आने देता, फलतः कर्मबन्धन नहीं होता।

कई लोग कहते हैं कि जिस इन्द्रिय की गलती हो, उसे समझाया जाए, विषय में प्रवृत्त होने से रोका जाय या दण्ड दिया जाए या उसे नष्ट ही कर दिया जाए, ताकि विषयों का उपभोग करना ही बन्द हो जाए। परन्तु ऐसा करना मूर्खता या अज्ञानता ही होगी, सम्यग्दृष्टि कदापि ऐसा नहीं करता। सम्यग्दृष्टि चिन्तन करता है कि इन्द्रियों का क्या दोष है? उनका तो स्वभाव ही अपने-अपने विषय को प्रदर्शित कर देना है। मान लीजिए आँखों ने कोई रूप सहज भाव से देख लिया, इसमें आँखों का क्या दोष? आँखों का कार्य ही है, जो भी अच्छा या बुरा रूप या दृश्य सामने आ जाए, उसे देखना। दर्पण के समक्ष चाहे जैसा अच्छा या बुरा पदार्थ आए, अच्छा या बुरा आदमी आए या खूँख्वार पशु आए, उसका प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है। वह यह नहीं देखता कि यह कुत्ता या बिल्ली है, तथा साधु या दुराचारी है? दर्पण में दुराचारी का रूप क्यों प्रतिबिम्बित हुआ? यह सोचकर दर्पण के टुकड़े करना मूर्खता होगी। इसी प्रकार आँखों ने कोई बुरा रूप देख लिया तो उन्हें फोड़ डालना, विषचक्र फैलाना है। आँखों का तो रूप-ग्रहण का स्वभाव है। इसी प्रकार जीभ का भी स्वभाव है कि पदार्थ के स्पर्श से जैसा भी कटु या मधुर स्वाद आए, उसे प्रकट कर देना। इसी भाँति प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना अनुभव हमें सूचित कर देती है। इन्हें नष्ट कर देना अनन्त जन्मों के बाद बहुत बड़े पुण्य से उपलब्ध पदार्थ को नष्ट करना है।

भला यह कैसी बात है, कि कोई इन्द्रिय अपने विषय के उपभोग में प्रवृत्त हो, और उसमें अहित होता है, ऐसा मानकर उसे तोड़-फोड़ डाला जाए। यह अत्यन्त मूर्खता की बात होगी कि आँख यदि गंदलित धारणा से दूर भागे तो फोड़ दी जाए, कान अपवित्र शब्द सुने तो वे काट लिए जाएँ, हाथ कोई अनिष्ट कर्म करे तो उसे काट लिया जाए, पैर कहीं बुरे स्थान में जाएँ तो वे काट दिये जाएँ, दिल साथ न दे तो उसे नष्ट कर दिया जाए। तो फिर संसार-मुक्ति का साधन क्या आत्महत्या को बनाया जाएगा? आत्महत्या में तो और अधिक कर्मबन्धन होकर संसार-यात्रा करनी पड़ेगी। जब तक आत्मा संसार में यात्रा करती रहेगी, तब तक इन्द्रियों और शरीर का यह संग उसके साथ चलता रहेगा।

प्रश्न होता है, फिर क्या किया जाए, जिससे इन्द्रियाँ विषयगामी न हों, आत्मा का अहित न करे? इस समस्या का सम्यग्दृष्टि सही समाधान यही करता है कि वह वृत्तियों को बदलता है, भावनाओं का जो प्रवाह असंयम की ओर उन्मुख होता है, उसे वह संयम की ओर मोड़ता जाता है।

सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि इन्द्रियों की प्राप्ति अत्यन्त पुण्य से होती है, शुभकर्मों के उदय से स्वस्थ सशक्त शरीर व परिपूर्ण इन्द्रियाँ मिलती हैं। शरीर व इन्द्रियों के बिना साधना कैसे हो सकेगी? कान से सुनाई न दे तो किसी शास्त्र या भगवद्वचन का श्रवण कैसे हो सकता है? आँखों से दिखाई न दे तो जीवों की दया कैसे पल सकती है? अतः इन्द्रियों की प्राप्ति या इन्द्रियों से विषय ग्रहण करना अपने आप में पाप नहीं है, पाप है इन्द्रियों की दुष्प्रवृत्ति। पाप और पुण्य का स्रोत आत्मा है, इन्द्रियों के नाले से वह बहता है। अगर आन्तरिक वृत्तियाँ शुभ हों तो पापवृत्तियाँ दब जाती हैं, कमजोर हो जाती हैं। जब भावनाएं अशुद्ध योग में रमती हैं, तब पाप का स्रोत प्रबल हो जाता है, पुण्य का स्रोत निर्बल। भगवान् महावीर ने पुण्य-पाप का आधार इन्द्रियों को नहीं माना है।

निष्कर्ष यह है कि शरीर और इन्द्रियों को नष्ट न किया जाए, उन्हें बदला जाए, मन पर नियंत्रण रखा जाए। मन अगर समता की पगडंडी छोड़कर राग-द्वेष की अनिष्ट गलियों में भटकता है, तो उसे समझाया जाए। सभी धर्मशास्त्र कहते हैं—जीवनचक्र की महानगरी में शरीर और इन्द्रियों को निर्देश देने वाले जो परम सूक्ष्म तत्त्व एवं आत्म-

सम्यग्दृष्टि : क्षायिक सम्यग्दृष्टि का ऐसा पक्का मनस्तट होता है कि उसमें संसार सागर की रागद्वेषात्मक तूफानी लहरें टकराकर वापस लौट जाती हैं। परन्तु जो कच्ची मिट्टी के तट की तरह कच्चे मन वाले हैं, जिनके मन में दृढ़ता का अभाव है या जो मिथ्यादर्शन से युक्त हैं, जिनका मन जरा-से वैभव-प्रलोभन या स्वार्थ की लहर से पिघल जाता है या टूट जाता है, वह राग द्वेष से लिप्त होकर कर्मबन्ध और संसार-परिभ्रमण के चक्र में फँस जाता है। सम्यग्दर्शन-सम्पन्न साधक का मन स्व-पर का भेद समझता है, वह ऐश्वर्य और प्रलोभनों के आघातों से टूटता नहीं, राग-द्वेष की लहरों से पिघलता नहीं, सोना और मिट्टी को वह एकमात्र पुद्गल के रूप में देखता है।

भरत चक्रवर्ती संसार-सागर में पूरी तरह डूबे हुए थे, वैभव का अम्बार उनके चारों ओर लगा हुआ था, किन्तु वे ऐश्वर्य और विलास के सागर के बीच रहकर भी सूखे रहे। उनके जो भोगावली कर्म थे, उन्हें वे भोग रहे थे, किन्तु भोग की स्थिति में रहते हुए उनमें सम्यग्दर्शन का योग था जिस कारण उनकी प्रत्येक क्रिया सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती थी। इसलिए सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती कर्मोदय के संसार में रहकर भी कर्मबन्धन के संसार से अमुक अंशों से अलग-थलग थे। वे परिवार के बीच रहकर भी अनासक्त भाव—राग-द्वेषरहित भाव के कारण प्रगाढ़ बन्धनों से दूर थे।

इसीलिए भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—सम्यग्दृष्टि चाहे जहाँ रहता है, वन में या भवन में, अपने मन को शुद्ध और राग-द्वेष से निर्लिप्त रखता है। सम्यग्दृष्टि ऐश्वर्य के बीच रहकर भी त्यागी और वैरागी रह सकता है और मिथ्यादृष्टि दरिद्रता और अभाव की चक्की में पिसता हुआ भी मन में राग-द्वेष की लहरें व्याप्त होने से बहुत बड़ा परिग्रही और संसारासक्त मनुष्य बन जाता है। सम्यग्दृष्टि का मन सोने के समान है, जबकि मिथ्यादृष्टि का मन लोहे के समान है। लोहा पानी में पड़ा रहता है तो उसे जंग लग जाता है, जबकि सोने को पानी में वर्षों रहने पर भी जंग नहीं लगता। सम्यग्दृष्टि का मन दृढ़ है, उसकी दृष्टि में विशुद्धता है, इस कारण कहीं भी राग-द्वेष का जंग नहीं लगता। विशुद्ध सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति के मन का किनारा चट्टान की तरह इतना सुदृढ़ होता है कि कितनी ही रागद्वेष की लहरें टकराएँ, तूफान उठें, वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इसीलिए दर्शन प्राभृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है :—

सम्मत्तसलिलपवाहो णिच्चं हियए पवहए जस्स ।
कम्मं बालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥[1]

—जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी निर्मल जल का प्रवाह सतत बहता रहता है उसके पूर्वबद्ध कर्ममल धुल जाते हैं, आत्मनिर्मलता बढती जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही इस संसार को देखते हैं और संसार में रहते हैं, परन्तु दोनों के देखने और रहने में बड़ा अन्तर है। दोनों के जीवन में एक-सा ऐश्वर्य और सम्पत्ति होने पर भी दृष्टिभेद होने से उनके उपभोग और प्रयोग में बड़ा अन्तर पैदा हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि की यह पक्की मान्यता होती है कि मैं संसार में रहता हूँ, मुझे उससे भागने की जरूरत नहीं। भागकर भी कहाँ जाऊँगा ? बाहर में तो चारों ओर संसार ही है। अत. सम्यग्दर्शन अध्यात्म जीवन में सबसे बडी कला सिखाता है कि तुम संसार में रहो, इसमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु संसार तुम्हारे में न रहे, यह ध्यान रखना है। मन में संसार है तो कहीं भी व्यक्ति चला जाए, संसार से वह छूट नहीं सकेगा। और मन में अगर संसार नहीं है, अर्थात्—संसार में रहते हुए भी मन अगर राग-द्वेष, और आसक्ति मोह के कीचड़ में लिप्त नहीं है तो वह व्यक्ति संसार में रहता हुआ भी संसार से पृथक् है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

जहा पोमं जलेजायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥[2]

—जिस प्रकार कीचड़ से भरे जल में उत्पन्न हुआ कमल उस जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामभोगों के कीचड़ में पैदा होकर भी उनमें अलिप्त रहता है, उसे ही हम ब्राह्मण (सम्यक्त्वी) कहते हैं।

संसार में रहने और संसार को देखने मात्र से संसार उसके तब तक नहीं चिपक जाता, जब तक वह स्वयं संसार या सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व या राग-द्वेष सम्बन्ध नहीं जोड़ता। संसार के पदार्थों का ज्ञान मात्र करने से वे पदार्थ बन्धनकारक नहीं हो जाते, किन्तु पदार्थज्ञान के साथ जब राग-द्वेष को जोड दिया जाता है, तभी बाह्य पदार्थ आत्मा को बाँधते

१ दर्शन प्राभृत, गा० ७।
२ उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २५, गा० २७।

गया। अमितगति श्रावकाचार में इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा गया है—

> यत्   सञ्चितमनेकभवैर्दुरन्तं
> सम्यक्त्वशोधितमिदं सकलं क्षिणोति।
> वह्नी करोति भस्मसात् तृणकाष्ठराशिं
> किं नोन्नतोऽग्निरुद्धतशिखो दहति लघुम्॥[1]

—अनेक जन्मों में अर्जित किया जा सके, ऐसा समस्त पाप-पुंज सम्यक्त्व रूपी अग्नि तत्काल उसी प्रकार भस्म कर देती है जिस प्रकार अत्यन्त ऊँची उठी हुई सलगती हुई ज्वालाओं वाली अग्नि घास और लकड़ी के बढ़े हुए ढेर को शीघ्र ही भस्म कर डालती है।

सम्यग्दृष्टि इस रहस्य को भलीभांति जानता है कि संसार में अच्छी वस्तुएँ हैं, बुरी भी। ये कल भी थीं, आज भी हैं, और भविष्य में भी रहेंगी। हमारी दृष्टि उनसे टकराती है, कभी आसक्ति के रूप में, कभी घृणा के रूप में, तभी तो वे बन्धनकारक होती हैं। जब किसी वस्तु से राग या मोह होता है, व्यक्ति उसे पकड़ता है, जब किसी से नफरत या घृणा होती है, तब वह उसे फेंक देता है। यही संसार है, यही बन्धन है। राग के कारण उस वस्तु पर मुग्ध होना और द्वेष के कारण झुंझला उठना आध्यात्मिक क्षेत्र में बचकानापन, बालबुद्धि है। मिथ्यादृष्टि वस्तु से टकराता है। ईंट से चोट लगने पर नादान बच्चा सजा देने के लिए ईंट को पीटता है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि वस्तु को अच्छी या बुरी, मनोज्ञ या अमनोज्ञ ठहराता है, राग-द्वेष के कारण। अपनी दृष्टि को वह रागद्वेषरहित निर्मल बनाकर नहीं देखता।

कोई भी वस्तु अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं, दृष्टि ही अच्छी या बुरी होती है, तब वह वस्तु को भी वैसी ही बताती है। अतः सम्यग्दृष्टि का सिद्धान्त है—संसार के पदार्थों को प्राप्त करने या समाप्त करने का विचार मत करो, केवल तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा बनो। दोष या गुण दृश्यमान पदार्थ का नहीं, व्यक्ति की अपनी दृष्टि का है। राग-द्वेष के निमित्त सदा संसार में रहेंगे, वे कदापि समाप्त नहीं होंगे। रागद्वेष का उपादान कारण समाप्त हो गया तो कर्मबन्धन समाप्त हो जाएंगे, क्रमशः कर्मबन्धन का स्रोत ही बन्द हो जाएगा, फिर तो संसार में रहते हुए सर्वत्र मुक्ति है।

---

१ अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ८७।

सम्यग्दृष्टि राग-द्वेष के भँवरजाल से अलिप्त

संसार एक ऐसी झील है, जिसमें विषय-कषाय का कीचड़ भरा है। राग-द्वेष की तरंगों से महान् भँवरजाल बन जाते हैं, उसी में सामान्य संसारी जीव फँस जाता है। इस संसाररूपी झील में स्वजन, स्वधन और स्वतन ये राग-मोह के तीन भयंकर भँवरजाल हैं। यह विराट् आत्मा स्वजन– के राग की सीमा में बँध जाती है। यह मेरा है, मेरी जाति या वंश का है, मेरी परम्परा और सम्प्रदाय का है—यह स्व-पर की कल्पना ऊपर-ऊपर से बड़ी मोहक, आकर्षक और मधुर लगती है, पर इसके विष-बीज बहुत भयानक एवं दुःखजनक हैं। स्व-पर का भेद करने के कारण चेतन-चेतन के बीच दूरी पैदा हो जाती है, अपने-पराये का भेद-भाव जन्म ले लेता है, जिसमें होने वाले संघर्ष एवं दुःख की समाप्ति सहज ही नहीं होती। परन्तु सम्यग्दृष्टि—सच्चा सम्यग्दृष्टि इन सबसे अलिप्त रहता है। बृहदालोयणा में बताया है—

> जे जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
> अन्तर से न्यारा रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

सम्यग्दृष्टि अपने परिवार एवं स्वजनों के बीच रहता है, कर्तव्य का पालन भी करता है, सभी व्यवहार करता है, परन्तु निश्चय-दृष्टि से वह अन्तर् में इन सब से अपने (आत्मा) को पृथक् समझता है। वह इन सबको 'पर' समझता है। इसलिए न तो अपने स्वजनों के प्रति उसे राग होता है, न पराये कहे जाने वाले लोगों के प्रति द्वेष। वह समभावपूर्वक जीता है, स्वजन-परजन के प्रति राग-द्वेष के भँवरजाल से वह दूर रहता है।

संसार में दूसरा भँवर जाल है– स्वधन के राग का। सामान्य व्यक्ति धन के नशे में पागल हो जाता है। जब आत्मा में धन के ममत्व का दावानल सुलगता है तो वह बड़े से बड़े संघर्ष, हत्याकाण्ड, चोरी, असत्य, अनीति आदि पापों के लिए तैयार हो जाता है। पर स्वधन में आसक्त व्यक्ति यह नहीं समझता कि उसमें सुख-शान्ति समाप्त होकर देर-सवेर दुःख, पीड़ा और अशान्ति की ज्वाला ही उठेगी, और वह उसमें झुलसता रहेगा। मगर सम्यग्दृष्टि इस भँवरजाल में नहीं फँसता। वह धन अवश्य कमाता है, गृहस्थ-जीवन में रहता हुआ आजीविका के लिए पुरुषार्थ करता है, परन्तु स्वधन-परधन के राग और द्वेष की आग में नहीं जलता। वह धन को अपना (स्वभाव) नहीं मानता, आवश्यकतानुसार धन रखते हुए भी वह उस पर राग करके मेरा धन, मेरी सम्पत्ति के कोलाहल में

अन्तर्मन को उद्वेलित नहीं करता। वह स्वधन-राग के भँवरजाल से बचता है।

तीसरा भँवरजाल है—स्व-तन के राग का। सामान्य मनुष्य अपने तन की सुख-सुविधाओं के पीछे रात-दिन दौड़-धूप, संघर्ष एवं प्रयत्न करता है। दूसरों के सुखों को उजाड़कर भी अपने सुख के स्वप्न पूरे करता है। अपने तन के सामने वह दूसरे हजारों-लाखों प्राणियों के तन का कोई मूल्य नहीं समझता। स्वतन का यह व्यामोह ही समस्त संघर्षों और दुःखों की जड़ है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि अपने तन को धर्मपालन एवं स्वभाव-रमण के लिए आवश्यक समझकर उसकी सुरक्षा करता है, परन्तु उस पर राग, मोह या आसक्ति करके पापकर्म का बन्धन नहीं करता बल्कि इन तीनों 'स्व' को अमूढदृष्टि—मोहरहित शुद्धद्रष्टा की नजर से देखता है, तभी तो दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

"खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो"[१]

—सम्यग्दृष्टि अपने माने जाने वाले पदार्थों के प्रति असोहदर्शी होकर कर्मों का क्षय कर देते हैं।

वह अपने शरीर को भी पर-पदार्थ समझता है, समय आने पर आत्मा की रक्षा के लिए उसे होमने के लिए तैयार रहता है। स्वतन-राग के भँवरजाल में वह नहीं फँसता।

वह संसाररूपी जलाशय में रहते हुए भी इन स्वजन, स्वधन और स्वतन के पापपंक से अपने आपको निर्लिप्त रखता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहते हुए भी सदा अशुभ-अविवेक से दूर—रहता है। वह तैरते हुए जहाज के समान संसार-समुद्र में राग-मोहवश नहीं डूबता। वह संसार को एक प्रकार से जल समझता है, राजमहल नहीं। संसार की भूलभुलैया या रंगीनियों के मोहक जाल में वह कतई नहीं फँसता। वह संसार की काली कोठरी में रहता हुआ भी उसे कांच की कोठरी मानकर रहता है, जिसमें वह स्व और पर को यथार्थरूप से निरन्तर दृष्टि के दर्पण से देखता रहता है। वह नेत्र रोगी की तरह संसार की प्रत्येक वस्तु को उसके विकृत रूप में नहीं, किन्तु उसके असली और यथावस्थित रूप में देखता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

१ दशवैकालिक ६।६२

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥[1]

जो यतना—विवेक से चलता है, विवेक से खड़ा होता है, विवेक से बैठता है, विवेक से सोता है, विवेकपूर्वक खाता है तथा बोलता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

इसके अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में यह भी बताया है कि जो महान् आत्मा समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव रखता है, सब प्राणियों को समभाव से देखता है, जिसने आस्रव-द्वारों को बंद कर दिया है, और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।[2]

वास्तव में सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही स्थिति है।

सम्यक्त्वमेघ पापकल्मष धोने वाला

जिसके जीवनाकाश में सम्यग्दर्शनरूपी बादल उमड़-घुमड़कर आते है और बरसते है, भला वहाँ पाप-कल्मष कहाँ जमा रह सकता है! पृथ्वी पर जब मेघ बरसते है तो भूमि पर पड़ा हुआ सारा कूड़ा-कर्कट आदि वह जल बहा ले जाता है, भूमि को साफ स्वच्छ कर देता है। उसी प्रकार जहाँ सम्यक्त्व-मेघ बरस गया, वहाँ मिथ्यात्व, अज्ञान आदि कूड़ा-कर्कट, मैल आदि सब धुल जाता है। आचार्य अमितगति ने इस सम्बन्ध में सुन्दर चिन्तन प्रस्तुत किया है :—

सम्यक्त्वमेघ कुशलाम्बुवर्जितम्; निरन्तरं वर्षति, धौतकल्मषः।
मिथ्यात्वमेघो व्यसनाम्बुनिर्जितम्; जनावनौ क्षालितपुण्यसंचयः ॥[3]

अर्थात् सम्यक्त्वमेघ जब जनजीवन रूपी भूमि पर सतत बरसते हैं तो वे मंगल-कल्याणरूप जल बरसाते है और वे सारे ही पाप-मल धो डालते है, किन्तु जब मिथ्यात्वमेघ जन-जीवनरूपी भूमि पर बरसते है तो वे अनेक निन्द्य दुःखजल की वर्षा करते है, फलस्वरूप जितने भी पुण्य संचित थे, उन सबको वे धो डालते है।

१ दशवैकालिक अ० ४ गा० ८।
२ सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ ॥
३ अमितगति श्रावकाचार परि० २, श्लोक ३०।

सम्यग्दर्शन के दिव्य प्रकाश में बाह्य दु खो के बीच भी आन्तरिक सुखो के स्रोत फूटेंगे। दु खो के बीच भी वह आत्मिक आनन्द और शान्ति का अनुभव करेगा।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न आत्मा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता की अनुभूति करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा अनुकूलता में भी प्रतिकूलता महसूस करता है। सम्यग्दर्शन का प्रकाश जिस आत्मा में हो जाता है, वह नरक में भी सुख-शान्ति का अनुभव कर सकता है, इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि आत्मा स्वर्ग मे जाकर भी ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, आसक्ति एवं मोह के कारण परिताप एवं विलाप करता है।

संगम मिथ्यादृष्टि देव था। उसे मर्त्यलोक में विराजमान भगवान् महावीर के दु ख और कष्ट में भी दृढसमत्व की बात सुनकर ईर्ष्या हो गई थी। वह उनकी क्षमता और धीरता की परीक्षा लेने हेतु स्वर्ग से चलकर मर्त्यलोक में आया। स्वर्गीय सुखो से परितृप्त न होने तथा अपने से समतादि गुणो में बढकर मानव की प्रशंसा असह्य होने से वह रोष और ईर्ष्या से जल-भुन रहा था। उसने साधनावली एव समत्वदृढ भगवान महावीर को समत्वादि गुणो से विचलित करने के लिए एक-दो दिन नही, दो-चार मास ही नही लगातार छह महीने तक नाना दु खो और कष्टो की परम्परा निर्मित की। किन्तु अन्ततोगत्वा भगवान् की जिस अटल-अचल सम्यग्दर्शन की जीवनज्योति को बुझाना चाहता था, उसे बुझा न सका, बल्कि उनकी वह आत्मज्योति और अधिक प्रकाशित हो उठी, भयंकर कष्टो और दु खो की आग में तपकर। भौतिक शक्ति का अन्धकार आध्यात्मिक शक्ति के आलोक के समक्ष पराजित हो गया।

वास्तव में, जिसे सम्यग्दर्शन की आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हुई, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए स्वर्ग भी नरक से बढकर संतापमय है। जब आत्मा मे शुद्धभाव की जागृति हो जाती है, क्षयोपशम भाव जाग जाता है तब नरक की भयंकर से भयंकर यंत्रणाएँ या अप्रिय घटनाएँ भी उसे विचलित नही कर सकती। जिसे अध्यात्मदृष्टि नही मिली, उसका दु ख मे तो पतन होता ही है, सुख मे भी उसका पतन होते देर नही लगती। सम्यग्दर्शन के अभाव में नरक के दु.ख और स्वर्ग के सुख पवित्रता प्रदान नहीं कर सकते। परन्तु जिस व्यक्ति ने सम्यग्दर्शन की अमर ज्योति प्राप्त कर ली, वह सुख और दु.ख दोनो ही स्थिति में चमकता है, पवित्र रहता है। सारसमुच्चय में कहा है—"सम्यग्दर्शन सहित जीव का नरकवास

९. सम्यग्दर्शन : जीवन-कला

●●

संसार में सभी देहधारी प्राणी जीवन यापन करते हैं। कीड़े-मकोड़े भी, पशु-पक्षी भी, नारक-देव और मानव भी, किन्तु जीना, आयुष्य का काल व्यतीत करना एक अलग बात है, और जीने का आनन्द लेते हुए, अर्थात् जीवन-कला के साथ जीना एक अलग बात है। जीवन-कला जिसने सीख ली, जीने की सही दृष्टि और सही विधि जिसे प्राप्त हो गई वह प्राणी चाहे नरक में रहे, चाहे स्वर्ग में—उसके लिए सर्वत्र स्वर्ग ही है। वह जहाँ भी जायेगा, नरक को भी स्वर्ग बना देगा। क्रन्दन में भी आनन्द की स्वर-लहरी पैदा कर देगा। पतझड़ में भी बहार ला देगा। दुःख में भी सुख, कष्ट में भी शान्ति का अनुभव कराने वाली इस जीवन-कला का नाम है—सम्यग्दृष्टि।

प्रस्तुत प्रकरण में हम इसी जीवन-कला पर चिन्तन करेंगे।

सम्यग्दृष्टि : सुख और दुःख में सम

जीवन में कभी सुख आता है तो कभी दुःख। एकान्तरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि जीवनाकाश में सुख के मेघ ही निरन्तर आयेंगे, दुःख-मेघ आएँगे ही नहीं। कभी अनुकूलता आती है तो कभी प्रतिकूलता। एकान्त जीवन में सुख ही सुख रहे या दुःख ही दुःख रहे, ऐसा कभी सम्भव नहीं होता। परन्तु मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी व्यक्ति दुःख आने पर घबरा जाता है और सुख प्राप्त होने पर हर्ष और अहंकार से फूल उठता है।

सम्यग्दृष्टि की यह विशेषता है कि वह सुख और दुःख दोनों में सन्तुलित रहता है। न तो वह दुःखों में व्याकुल होता है और न ही सुखों के हर्ष में उन्मत्त। सम्यग्दृष्टि आत्मा सुख और दुःख दोनों में सम रहता है।

सम्यग्दर्शन के दिव्य प्रकाश में बाह्य दुःखों के बीच भी आन्तरिक सुखों के स्रोत फूटेंगे। दुःखों के बीच भी वह आत्मिक आनन्द और शान्ति का अनुभव करेगा।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न आत्मा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता की अनुभूति करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा अनुकूलता में भी प्रतिकूलता महसूस करता है। सम्यग्दर्शन का प्रकाश जिस आत्मा में हो जाता है, वह नरक में भी सुख-शान्ति का अनुभव कर सकता है, इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि आत्मा स्वर्ग में जाकर भी ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, आसक्ति एवं मोह के कारण परिताप एवं विलाप करता है।

संगम मिथ्यादृष्टि देव था। उसे मर्त्यलोक में विराजमान भगवान् महावीर के दुःख और कष्ट में भी दृढसमत्व की बात सुनकर ईर्ष्या हो गई थी। वह उनकी क्षमता और धीरता की परीक्षा लेने हेतु स्वर्ग से चलकर मर्त्यलोक में आया। स्वर्गीय सुखों से परितृप्त न होने तथा अपने से समतादि गुणों में बढ़कर मानव की प्रशंसा असह्य होने से वह रोष और ईर्ष्या से जल-भुन रहा था। उसने साधनावली एवं समत्वदृढ भगवान महावीर को समत्वादि गुणों से विचलित करने के लिए एक-दो दिन नहीं, दो-चार मास ही नहीं लगातार छह महीने तक नाना दुःखों और कष्टों की परम्परा निर्मित की। किन्तु अन्ततोगत्वा भगवान् की जिस अटल-अचल सम्यग्दर्शन की जीवनज्योति को बुझाना चाहता था, उसे बुझा न सका, बल्कि उनकी वह आत्मज्योति और अधिक प्रकाशित हो उठी, भयंकर कष्टों और दुःखों की आग में तपकर। भौतिक शक्ति का अन्धकार आध्यात्मिक शक्ति के आलोक के समक्ष पराजित हो गया।

वास्तव में, जिसे सम्यग्दर्शन की आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हुई, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए स्वर्ग भी नरक से बढ़कर संतापमय है। जब आत्मा में शुद्धभाव की जागृति हो जाती है, क्षयोपशम भाव जाग जाता है तब नरक की भयंकर से भयंकर यंत्रणाएँ या अप्रिय घटनाएँ भी उसे विचलित नहीं कर सकती। जिसे अध्यात्मदृष्टि नहीं मिली, उसका दुःख में तो पतन होता ही है, सुख में भी उसका पतन होते देर नहीं लगती। सम्यग्दर्शन के अभाव में नरक के दुःख और स्वर्ग के सुख पवित्रता प्रदान नहीं कर सकते। परन्तु जिस व्यक्ति ने सम्यग्दर्शन की अमर ज्योति प्राप्त कर ली, वह सुख और दुःख दोनों ही स्थिति में चमकता है, पवित्र रहता है। सारसमुच्चय में कहा है—"सम्यग्दर्शन सहित जीव का नरकवास

भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शनरहित जीव का स्वर्ग में निवास भी शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मभाव के बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है। आत्मज्ञान ही सच्चा गुरु है।"[1]

एक जैनाचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया—"अगर एक ओर कोई यह शर्त रखे कि सम्यग्दर्शन को छोड़ दो तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, दूसरी ओर यह शर्त भी रखे कि अगर सम्यग्दर्शन पाना हो तो नरक की ज्वाला में जलना होगा या नरक की भयंकर गंदगी में सड़ना होगा, तो मुझे दोनों शर्तों में से दूसरी शर्त ही मंजूर होगी। मिथ्यात्व की भूमिका में स्वर्ग भी मेरे किस काम का? क्योंकि मिथ्यादृष्टि आत्मा स्वर्ग में ऊँचे चढ़कर भी नीचे गिरता है, जबकि सम्यग्दृष्टि नरक में नीचे जाकर अपने ऊर्ध्व-मुखी जीवन के कारण नीचे से ऊपर की ओर अग्रसर होता जाता है। इसलिए स्वर्ग में मैं लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सकूँगा, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ नरक मिलता हो तो वहाँ लक्ष्य की ओर तो बढ़ सकूँगा।"

सम्यग्दर्शन के लिए कितने बड़े उत्सर्ग की भावना है।

नरक में नारकी जीव दो प्रकार के होते हैं—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे द्वारा दी गई वेदना का अनुभव करते हुए यह सोचते हैं कि हमने पिछले जन्म में प्राणियों की हिंसा आदि घोर पाप किये थे, इसीलिए इस जन्म में दुःख भोग रहे हैं। यह समझकर वे दूसरे जीवों द्वारा दिये गये कष्टों को तो सम्यक् प्रकार से सहते हैं, किन्तु अपनी ओर से दूसरों को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि वे नये कर्मबन्ध से बचना चाहते हैं। नरकस्थित मिथ्यादृष्टि जीव क्रोधादि कषायों से अभिभूत होकर अपने बाँधे हुए कर्मरूपी वास्तविक शत्रु को न समझकर दूसरे नारकी जीवों को मारने दौड़ते हैं। इस तरह वे सब आपस में लड़ते रहते हैं। जिस तरह नये कुत्ते को देखकर गाँव के कुत्ते भौंकने लगते हैं, उसी तरह नारकी जीव एक-दूसरे को देखते ही क्रोध में भर जाते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वी को चीरने, फाड़ने, मारने आदि के लिए तरह-तरह की विक्रियाएँ करते हैं। इस तरह वे एक दूसरे द्वारा पीड़ित होते हुए करुण रुदन करते हैं।[1]

मिथ्यादृष्टि आत्मा सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता रहता है, जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा सुख में हँसता तो है, लेकिन सावधान होकर चलता

1

है, उसमें सुभाता नही। वह सुख और दुःख में राग और द्वेष से अपनी आत्मा को प्रभावित नहीं होने देता।

सम्यग्दृष्टि के लिए दुःख बहुत बड़ा शिक्षक, बोधपाठ देने वाला और जगाने वाला होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा दुःख और कष्ट आने पर सोचता है 'जो कुछ मैंने किया, या जैसा भी बीज बोया, या जो भी दिया उसी को तो मैं भोग रहा हूँ या ले रहा हूँ। मेरे ही अतीत का कर्म आज फलीभूत हो रहा है, ये दुःख और कष्ट के बीज मैंने ही अपने जीवन की धरती पर बोये थे, उसी के कंटीले वृक्ष के कटुफल मुझे भोगने पड़ रहे हैं। आखिर एक न एक दिन तो किये हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता, अगर आज ये भोगने पड़ रहे है तो मुझे दुःख क्यों ? कर्ज तो जितना जल्दी चुका दिया जाए, उतना ही जल्दी सिर से परेशानी का बोझ उतर जाता है। यह कर्मों का कर्ज भी मेरे सिर से जितना जल्दी उतरे, उतना ही जल्दी मैं चिन्तामुक्त बनूँगा। कृतकर्म को और उसके शुभ-अशुभ फल को समभावपूर्वक भोग लेना ही सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है, ताकि भविष्य के लिए फिर कर्म का बन्ध न हो।

आचार्य अमितगति ने सम्यग्दृष्टि के सुख-दुःख की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है :—

> न दुःख बीजं शुभदर्शनक्षितौ,
> कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।
> सदाऽप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं,
> कुदर्शनेतद् विपरीतमिष्यते ॥[1]

अर्थात्—सम्यग्दर्शनरूपी भूमि में कदाचित बोया हुआ दुःख बीज भी उगता नही है, किन्तु बिना बोया उत्तम सुख का बीज सदैव उगता है, जबकि मिथ्यात्वभूमि मे इससे बिलकुल विपरीत दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शन की पवित्र भूमि में कदाचित् दुःख का बीज गिर भी जाए तो भी वह अंकुरित नही हो पाता। यदि कदाचित् अंकुरित भी हो जाए, तो वह मिथ्यादृष्टि के समान उद्वेगकारी और अनर्थकारी नहीं होता।

सम्यग्दर्शन की पवित्र भूमि में पुण्यानुबन्धीपुण्यरूप या आत्मरमणतारूप उत्तम सुख का बीज तो खूब ही अंकुरित, पल्लवित-पुष्पित एवं

---

१ अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद २, श्लोक ६६।

है, उसमें सुभाता नही। वह सुख और दुख में राग और द्वेष मे अपनी आत्मा को प्रभावित नही होने देता।

सम्यग्दृष्टि के लिए दुख बहुत बडा शिक्षक, बोधपाठ देने वाला और जगाने वाला होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा दुख और कष्ट आने पर सोचता है 'जो कुछ मैंने किया, या जैसा भी बीज बोया, या जो भी दिया उसी को तो मैं भोग रहा हूँ या ले रहा हूँ। मेरे ही अतीत का कर्म आज फलीभूत हो रहा है, ये दुख और कष्ट के बीज मैंने ही अपने जीवन की धरती पर बोये थे, उसी के कंटीले वृक्ष के कटुफल मुझे भोगने पड रहे हैं। आखिर एक न एक दिन तो किये हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता, अगर आज ये भोगने पड़ रहे हैं तो मुझे दुख क्यों ? कर्ज तो जितना जल्दी चुका दिया जाए, उतना ही जल्दी सिर से परेशानी का बोझ उतर जाता है। यह कर्मों का कर्ज भी मेरे सिर से जितना जल्दी उतरे, उतना ही जल्दी मैं चिन्तामुक्त बनूँगा। कृतकर्म को और उसके शुभ-अशुभ फल को समभावपूर्वक भोग लेना ही सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है, ताकि भविष्य के लिए फिर कर्म का बन्ध न हो।

आचार्य अमितगति ने सम्यग्दृष्टि के सुख-दुख की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है :—

> न दुःख बीजं शुभदर्शनक्षितौ,
> कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।
> सदाऽप्यनुप्त सुखबीजमुत्तम,
> कुदर्शनेतद् विपरीतमिष्यते ॥[1]

अर्थात—सम्यग्दर्शनरूपी भूमि में कदाचित बोया हुआ दुख बीज भी उगता नही है, किन्तु विना बोया उत्तम सुख का बीज सदैव उगता है, जबकि मिथ्यात्वभूमि में इससे बिलकुल विपरीत दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शन की पवित्र भूमि में कदाचित् दुख का बीज गिर भी जाए तो भी वह अंकुरित नही हो पाता। यदि कदाचित् अंकुरित भी हो जाए, तो वह मिथ्यादृष्टि के समान उद्वेगकारी और अनर्थकारी नहीं होता।

सम्यग्दर्शन की पवित्र भूमि में पुण्यानुबन्धीपुण्यरूप या आत्मरमणतारूप उत्तम सुख का बीज तो खूब ही अंकुरित, पल्लवित-पुष्पित एवं

---

१ अमितगति [illegible]

फलित होता है। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि सम्यग्दर्शन ही सुख-शान्ति और आनन्द का स्रोत है। सम्यग्दर्शन जीवन की एक ऐसी कला है, जिसके हस्तगत हो जाने पर पूर्वकृत कर्मवश यथाप्रसंग आया हुआ दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है। सम्यग्दर्शन ही वस्तुतः अनुपम सुख का पावर हाउस है।

जिस दुःख, कष्ट और विपत्ति की ज्वाला में मिथ्यादृष्टि घास, या कागज की तरह जलकर खाक हो जाता है, वर्तमान जीवन में दोषों के काले धब्बे पड जाते हैं, वह हाय तोबा मचाकर या आर्त्तध्यान करके भविष्य के लिए भी दुःख के बीज बो देता है। इस प्रकार दुःख ही नहीं, सुख भी मिथ्यादृष्टि आत्मा को जला और गला देता है।

जिसे सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, उस वैषम्यधारी व्यक्ति को दुःख में परेशानी होती है, सुख में भी कम परेशानी नहीं होती, क्योंकि मिथ्यादृष्टि सुख आने पर यह सोचता है कि इस व्यक्ति ने मुझे सुख दिया है, इस पदार्थ या व्यक्ति से मुझे सुख मिला है, अतः वह उस व्यक्ति या पदार्थ से राग, मोह या आसक्ति करता है, जबकि सम्यग्दृष्टि निमित्त को न पकड़कर उपादान को पकड़कर चलता है। वह उस व्यक्ति या पदार्थ के प्रति राग या मोह नहीं करता।

मिथ्यादृष्टि सोचता है—इसने मुझे प्रेम दिया है, उसने मुझसे घृणा की है, इस प्रकार सुख या प्यार करने वाले पर वह राग करता है, दुःख देने या घृणा करने वाले पर द्वेष करता है। इस प्रकार प्यार भी उसे बाँधता है और घृणा भी। न उसे प्यार में सुख है, न घृणा में।

मिथ्यादृष्टि जहाँ दुःख, संकट और आफत के लिए निमित्त को दोषी ठहराता है, वहाँ सम्यग्दृष्टि दुःख और संकट के लिए अपनी आत्मा (आप) को, अपने पूर्वकृत कर्मों को उत्तरदायी समझता है।

वास्तव में देखा जाए तो संसार में जितने भी दुःख, कष्ट, संकट और आफतें हैं, उनकी गहराई में जाकर ठीक-ठीक विश्लेषण करें तो दुःखादि की उत्पत्ति का प्रमुख कारण स्वयं ही प्रतीत होगा। सम्यग्दृष्टि का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत होता है।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने भी यही प्रश्न संसार से पूछा था कि तुम दुःख-दुःख चिल्ला रहे हो, तथा दुःख-मुक्ति के लिए अनेक उपाय कर रहे हो, पर यह तो बताओ—"दुक्खे केण कडे ? यह दुःख किसने पैदा किया ?"

इस और प्रश्न पर सभी चुप हो गए बोले—"भगवन् ! आप ही बतलाएँ।" तो उन्होंने दार्शनिक समाधान देते हुए कहा—'जीवेण कडे पमाएण'[1]—आत्मा ने स्वयं प्रमादवश दुःख पैदा किया है। सम्यग्दृष्टि यही मानता है कि दुःख अपने ही प्रमाद (मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद) के वश होकर जीव ने पैदा किया है। सम्यग्दृष्टि विपरीत संयोगो, प्रतिकूल परिस्थितियों मे, दुःख, संकट और आफत के समय भी मन को संतुलित रखता है, वह दुःखी नही होता, सोचता है—इसमे मेरी आत्मा का क्या बिगड़ गया ? इसी प्रकार सुख एवं अनुकूल संयोगों में भी वह मन को रागाविष्ट होने से बचाता है। दोनों ही परिस्थितियों मे मन को जल-कमलवत् निर्लिप्त रखता है।

सम्यग्दृष्टि सुखी, क्यों व कैसे ?

सम्यग्दृष्टि से पूछा जाए कि संसार कैसा है ? तो उसका एक ही उत्तर होगा—*संसार तो संसार है। वह न सुखरूप है, न दुःखरूप।* संसार के प्रति व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है, संसार उसी रूप मे उसके सम्मुख उपस्थित होता है। आशय यह है कि सुख-दुःख संसार मे नहीं, मनुष्य की अपनी अन्तर्दृष्टि में है। सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति यह स्पष्ट जान लेता है कि सुख और दुःख दोनों का दायित्व स्वयं पर है। दुःख से मुक्त होने का एक ही उपाय है—अपने मूलस्वरूप को समझा जाए। जो अपनी आत्मा को समझ गया, वह निश्चय ही सुखी है।

जैसे अग्नि का अपना स्वभाव उष्णता है, जल का शीतलता है। अग्नि में शीतलता और पानी मे उष्णता स्वभावतः नही है। वह संयोगजन्य है। पानी के साथ जब तक अग्नि का संयोग रहेगा, तब तक पानी अपने मूल स्वभाव में नही आएगा, अग्नि का संयोग हटा दिया जाए तो पानी अपने मूल स्वभाव मे आ जाएगा। ऐसे ही काम, क्रोध, मद, विषय, राग-द्वेषादि विकार आत्मा के असली स्वभाव नहीं है। कर्मपुद्गलो के संयोग से ये आत्मा में आगये हैं। जैसे ही पुद्गल का संयोग आत्मा से दूर होगा, आत्मा स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध हो जाएगा। *आत्मा की विशुद्धि आत्मा का अपना स्वरूप है।* आत्मा का अपने मूलस्वरूप में आ जाना ही परमसुख एवं शान्ति है। सम्यग्दृष्टि इस बात को समझता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नही समझता, इसलिए वह जड़मूल से आत्मा पर आए हुए विकारो को साफ नहीं कर सकता, जबकि सम्यग्दृष्टि इन विकारो को साफ कर सकता है, क्योंकि

---

१. भगवती सूत्र

उसकी दृष्टि में विकारों का संयोग क्षणस्थायी होता है, इसलिए विकारों का नाशक भी स्वयं ही है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि तन और मन की सीमा को पार करके अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव को पहचान लेता है, शुद्ध रहता है और स्वभाव में रम जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन की कला जिसे उपलब्ध हो गई, उसके जीवन में दुःख टिक नहीं सकते। आचार्य अमितगति ने इसी बात का समर्थन किया है —

> संव मार्तण्डकिरणैरिव जीवे,
> शीतमिवापि न तिष्ठति दुःखम्।
> दुःख निरस्तनिरस्तमिति नैते,
> ग्रीष्मदिवाकरबोधितबोधे॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की किरणों से परितप्त क्षेत्र में ठंड नहीं टिक सकती वैसे ही संसार की स्थिति के ज्ञाता तथा सम्यग्दर्शन से सुशोभित जीव के जीवन में दुःख भी नहीं टिक सकता।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि दुःख दूर करने की कला जानता है, इसलिए कदाचित् पूर्वकर्मोदयवश दुःख भी आ पड़े तो वह उसे अपने सम्यक् विचार से शान्तिपूर्वक भोगकर शीघ्र ही उस दुःख से (दुःखजनक कर्म से) निवृत्त हो जाता है अथवा दुःख को सुख रूप में परिणत कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि विकल्पों को बाहर फेंक देता है

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति शास्त्र में दो नदियों का वर्णन आता है। उनमें से एक का नाम उन्मग्नजला और दूसरी का निमग्नजला है। उन्मग्नजला नदी में जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे उछालकर बाहर फेंक देती है, जबकि निमग्नजला नदी का स्वभाव है कि उसमें जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे बाहर नहीं फेंकती अन्दर ही रख लेती है। इन दोनों नदियों के समान ही क्रमशः सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में जब कभी राग-द्वेषात्मक विकल्प उठता है, वह उसे बाहर फेंक देता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा उन विकल्पों को अपने अन्दर ही रख लेता है, बाहर नहीं फेंकता। सम्यग्दृष्टि किसी भी विकार-विकल्प को अन्दर आते ही बाहर फेंकता है, कर्मपुद्गलों को भी अन्दर आते ही झटपट भोगकर बाहर फेंकना प्रारम्भ कर देता है।

जब शरीर स्वस्थ एवं सशक्त रहता है तब वह विकार को बाहर फेंकता रहता है, किन्तु शरीर पर रोग का आक्रमण होने से जब शरीर दुर्बल और अशक्त हो जाता है, तब भी वह अपनी शक्ति केअ सार ज्वरादिनु

रोग एवं विकार को बाहर फेंकता रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में उन्मग्नजला नदी के समान शुद्ध भावों का उछाल आता है तब वह अपने अन्दर में प्रविष्ट होने वाले बाहर के विकार को बाहर फेंकता रहता है। सम्यग्दृष्टि के जीवन में ज्यों ही कर्मबन्ध होता है, त्यों ही उसका भोग भी प्रारम्भ हो जाता है। भोग का अर्थ ही है—अन्दर की वस्तु को बाहर की ओर फेंकना। सम्यग्दृष्टि की आत्मा ने अनन्त अतीत में जो भी कर्मबन्ध किया है, उसे वह भोग लेता है, और कर्मों को बाहर की ओर फेंक देता है। भोगा हुआ कर्म फिर आत्मा में नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शनसम्पन्न की यही विशेषता उसे आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ाती है।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न : अमृतोपजीवी

संसार में अमृत और विष दोनों है। संसार के प्रत्येक सजीव या निर्जीव पदार्थ में अपने आप में कोई अमृत या विष नहीं है। मनुष्य की दृष्टि में ही अमृत है और उसकी दृष्टि में ही विष है। संसार का एक साधारण व्यक्ति जिसे अमृत समझता है, ज्ञानी की दृष्टि में वह विष है, इसके विपरीत तत्त्वदर्शी ज्ञानी की दृष्टि में जो विष है, वह एक संसारी साधारण आत्मा की दृष्टि में अमृत है। ऐसा क्यों है ? यह सब दृष्टि का खेल है। संसारी आत्मा में—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की बाह्यदृष्टि में, देखने में, वस्तु के दिखाई देने में कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर होता है सिर्फ आन्तरिक दृष्टि का। मिथ्यादृष्टि भी सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है, और सम्यग्दृष्टि भी। मिथ्यादृष्टि आत्मा संसार के भोगों में आसक्त होने के कारण भोगों को ही अमृत समझता है; जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेकदृष्टि उपलब्ध होने से उन्हीं भोगों को विष समझता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विरक्त आत्मा को सांसारिक भोग विषतुल्य प्रतीत होने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेक और वैराग्य की तुला पर संसार के प्रत्येक पदार्थ को तोलता है, उसके बाद ही उसे ग्रहण करता है। जबकि मिथ्यादृष्टि संसार के भोग्य पदार्थों को भोगवाद की तुला पर ही तोलता रहता है।

भोजन सम्यग्दृष्टि भी करता है, मिथ्यादृष्टि भी। सम्यग्दृष्टि भोजन करता है, केवल शरीर को टिकाने और उसमें धर्मपालन करने के लिए, जबकि मिथ्यादृष्टि भोजन करता है, केवल स्वाद के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए। इसी तरह वस्त्र-परिधान, भ्रमण, श्रवण, निरीक्षण, सूंघना, स्पर्श करना, बोलना, मनन करना, आदि प्रत्येक क्रिया में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में अन्तर रहता है। सम्यग्दृष्टि प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया

उसकी दृष्टि में विकारों का संयोगकर्ता वह स्वयं ही है, इसलिए विकार
नाशक भी स्वयं ही है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि तन और मन की
को पार करके अपनी आत्मा के मूलस्वभाव को पहचान लेता है, शुद्ध र
है और स्वभाव मे रम जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन की कला जिसे उप
हो गई, उसके जीवन मे दु ख टिक नही सकते। आचार्य अमितगति ने
बात का समर्थन किया है —

> नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे,
> दर्शनशालिनि तिष्ठति दु खम्।
> कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे,
> ग्रीष्म दिवाकर दीधिति दीप्ते॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की किरणों से परितप्त क्षेत्र में ठंड नही टि
सकती वैसे ही संसार की स्थिति के ज्ञाता तथा सम्यग्दर्शन से सुशोभित उ
के जीवन में दु ख भी नही टिक सकता।

वास्तव मे सम्यग्दृष्टि दु ख दूर करने की कला जानता है, इसलि
कदाचित् पूर्वकर्मोदयवश दु ख भी आ पडे तो वह उसे अपने सम्यक् विचार
शान्तिपूर्वक भोगकर शीघ्र ही उस दु ख से (दु.खजनक कर्म से) निवृत्त
जाता है अथवा दु ख को सुख रूप में परिणत कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि विकल्पों को बाहर फेंक देता है

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति शास्त्र मे दो नदियों का वर्णन आता है। उनमे
एक का नाम उन्मग्नजला और दूसरी का निमग्नजला है। उन्मग्नजला नदी
मे जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे उछालकर बाहर फेंक देती है, जबकि
निमग्नजला नदी का स्वभाव है कि उसमें जो भी वस्तु गिर जाती है, व
उसे बाहर नहीं फेंकती अन्दर ही रख लेती है। इन दोनों नदियों के समान
ही क्रमश सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा मे जब कभी
राग-द्वेषात्मक विकल्प उठता है, वह उसे बाहर फेंक देता है, जबकि मिथ्या-
दृष्टि आत्मा उन विकल्पों को अपने अन्दर ही रख लेता है, बाहर नहीं
फेंकता। सम्यग्दृष्टि किसी भी विकार-विकल्प को अन्दर आते ही बाहर
फेंकता है, कर्मपुद्गलों को भी अन्दर आते ही झटपट भोगकर बाहर फेंकना
प्रारम्भ कर देता है।

जब शरीर स्वस्थ एवं सशक्त रहता है तब वह विकार को बाहर
फेंकता रहता है किन्तु शरीर पर रोग का आक्रमण होने से जब शरीर
दुर्बल और अशक्त हो जाता है, तब भी वह अपनी शक्ति के अनुसार ज्वरादि

रोग एवं विकार को बाहर फेंकता रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में उन्मग्नजला नदी के समान शुद्ध भावों का उछाल आता है तब वह अपने अन्दर में प्रविष्ट होने वाले बाहर के विकार को बाहर फेंकता रहता है। सम्यग्दृष्टि के जीवन में ज्यों ही कर्मबन्ध होता है, त्यों ही उसका भोग भी प्रारम्भ हो जाता है। भोग का अर्थ ही है—अन्दर की वस्तु को बाहर की ओर फेंकना। सम्यग्दृष्टि की आत्मा ने अनन्त अतीत में जो भी कर्मबन्ध किया है, उसे वह भोग लेता है, और कर्मों को बाहर की ओर फेंक देता है। भोगा हुआ कर्म फिर आत्मा में नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शनसम्पन्न की यही विशेषता उसे आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ाती है।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न : अमृतोपजीवी

संसार में अमृत और विष दोनों है। संसार के प्रत्येक सजीव या निर्जीव पदार्थ में अपने आप में कोई अमृत या विष नहीं है। मनुष्य की दृष्टि में ही अमृत है और उसकी दृष्टि में ही विष है। संसार का एक साधारण व्यक्ति जिसे अमृत समझता है, ज्ञानी की दृष्टि में वह विष है, इसके विपरीत तत्त्वदर्शी ज्ञानी की दृष्टि में जो विष है, वह एक संसारी साधारण आत्मा की दृष्टि में अमृत है। ऐसा क्यों है? यह सब दृष्टि का खेल है। संसारी आत्मा में—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की बाह्यदृष्टि में, देखने में, वस्तु के दिखाई देने में कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर होता है सिर्फ आन्तरिक दृष्टि का। मिथ्यादृष्टि भी सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है, और सम्यग्दृष्टि भी। मिथ्यादृष्टि आत्मा संसार के भोगों में आसक्त होने के कारण भोगों को ही अमृत समझता है; जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेकदृष्टि उपलब्ध होने से उन्हीं भोगों को विष समझता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विरक्त आत्मा को सांसारिक भोग विषतुल्य प्रतीत होने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेक और वैराग्य की तुला पर संसार के प्रत्येक पदार्थ को तोलता है, उसके बाद ही उसे ग्रहण करता है। जबकि मिथ्यादृष्टि संसार के भोग्य पदार्थों को भोगवाद की तुला पर ही तोलता रहता है।

भोजन सम्यग्दृष्टि भी करता है, मिथ्यादृष्टि भी। सम्यग्दृष्टि भोजन करता है, केवल शरीर को टिकाने और उससे धर्मपालन करने के लिए, जबकि मिथ्यादृष्टि भोजन करता है, केवल स्वाद के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए। इसी तरह वस्त्र-परिधान, भ्रमण, श्रवण, निरीक्षण, सूंघना, स्पर्श करना, बोलना, मनन करना, आदि प्रत्येक क्रिया में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में अन्तर रहता है। सम्यग्दृष्टि प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया

उसकी दृष्टि में विकारों का संयोग क्षणिक व पर रूप ही है, इसलिए विकारों का नाश भी स्वयं ही है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि तन और मन की सीमा को पार करके अपनी आत्मा में शुद्ध स्वभाव को पहचान लेता है, शुद्ध बनता है और स्वभाव में रम जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन की कला जिसे उपलब्ध हो गई, उसके जीवन में दुःख टिक नहीं सकते। आचार्य अमितगति ने इसी बात का समर्थन किया है —

> मत्र भवविभवविवेकिनि जीवे,
> दर्शनशालिनि तिष्ठति दुःखम्।
> कुत्र हिमानिविनाशिनि हि तेजे,
> ग्रीष्म दिवाकर दीधिति बीजे॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की किरणों से तपित क्षेत्र में ठंड नहीं टिक सकती वैसे ही संसार की स्थिति के ज्ञाता तथा सम्यग्दर्शन से सुशोभित जीव के जीवन में दुःख भी नहीं टिक सकता।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि दुःख दूर करने की कला जानता है, इसलिए कदाचित् पूर्वकर्मोदयवश दुःख भी आ पड़े तो वह उसे अपने सम्यक् विचार से शान्तिपूर्वक भोगकर शीघ्र ही उस दुःख से (दुःखजनक कर्म से) निवृत्त हो जाता है अथवा दुःख को सुख रूप में परिणत कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि विकल्पों को बाहर फेंक देता है

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति शास्त्र में दो नदियों का वर्णन आता है। उनमें से एक का नाम उन्मग्नजला और दूसरी का निमग्नजला है। उन्मग्नजला नदी में जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे उछालकर बाहर फेंक देती है, जबकि निमग्नजला नदी का स्वभाव है कि उसमें जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे बाहर नहीं फेंकती अन्दर ही रख लेती है। इन दोनों नदियों के समान ही क्रमशः सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में जब कभी राग-द्वेषात्मक विकल्प उठता है, वह उसे बाहर फेंक देता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा उन विकल्पों को अपने अन्दर ही रख लेता है, बाहर नहीं फेंकता। सम्यग्दृष्टि किसी भी विकार-विकल्प को अन्दर आते ही बाहर फेंकता है, कर्मपुद्गलों को भी अन्दर आते ही झटपट भोगकर बाहर फेंकना प्रारम्भ कर देता है।

जब शरीर स्वस्थ एवं सशक्त रहता है तब वह विकार को बाहर फेंकता रहता है, किन्तु शरीर पर रोग का आक्रमण होने से जब शरीर दुर्बल और अशक्त हो जाता है, तब भी वह अपनी शक्ति के अनुसार ज्वरादि

रोग एवं विकार को बाहर फेंकता रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में उन्मग्नजला नदी के समान शुद्ध भावों का उछाल आता है तब वह अपने अन्दर में प्रविष्ट होने वाले बाहर के विकार को बाहर फेंकता रहता है। सम्यग्दृष्टि के जीवन में ज्यों ही कर्मबन्ध होता है, त्यों ही उसका भोग भी प्रारम्भ हो जाता है। भोग का अर्थ ही है—अन्दर की वस्तु को बाहर की ओर फेंकना। सम्यग्दृष्टि की आत्मा ने अनन्त अतीत में जो भी कर्मबन्ध किया है, उसे वह भोग लेता है, और कर्मों को बाहर की ओर फेंक देता है। भोगा हुआ कर्म फिर आत्मा में नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शनसम्पन्न की यही विशेषता उसे आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ाती है।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न : अमृतोपजीवी

संसार में अमृत और विष दोनों है। संसार के प्रत्येक सजीव या निर्जीव पदार्थ में अपने आप में कोई अमृत या विष नहीं है। मनुष्य की दृष्टि में ही अमृत है और उसकी दृष्टि में ही विष है। संसार का एक साधारण व्यक्ति जिसे अमृत समझता है, ज्ञानी की दृष्टि में वह विष है, इसके विपरीत तत्त्वदर्शी ज्ञानी की दृष्टि में जो विष है, वह एक संसारी साधारण आत्मा की दृष्टि में अमृत है। ऐसा क्यों है? यह सब दृष्टि का खेल है। संसारी आत्मा में—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की बाह्यदृष्टि में, देखने में, वस्तु के दिखाई देने में कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर होता है सिर्फ आन्तरिक दृष्टि का। मिथ्यादृष्टि भी सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है, और सम्यग्दृष्टि भी। मिथ्यादृष्टि आत्मा संसार के भोगों में आसक्त होने के कारण भोगों को ही अमृत समझता है; जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेकदृष्टि उपलब्ध होने से उन्हीं भोगों को विष समझता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विरक्त आत्मा को सांसारिक भोग विषतुल्य प्रतीत होने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा विवेक और वैराग्य की तुला पर संसार के प्रत्येक पदार्थ को तोलता है, उसके बाद ही उसे ग्रहण करता है। जबकि मिथ्यादृष्टि संसार के भोग्य पदार्थों को भोगवाद की तुला पर ही तोलता रहता है।

भोजन सम्यग्दृष्टि भी करता है, मिथ्यादृष्टि भी। सम्यग्दृष्टि भोजन करता है, केवल शरीर को टिकाने और उससे धर्मपालन करने के लिए; जबकि मिथ्यादृष्टि भोजन करता है, केवल स्वाद के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए। इसी तरह वस्त्र-परिधान, भ्रमण, श्रवण, निरीक्षण, सूंघना, स्पर्श करना, बोलना, मनन करना, आदि प्रत्येक क्रिया में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में अन्तर रहता है। सम्यग्दृष्टि प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया

[illegible]

... जीवन में दुःख भी नहीं टिक सकता।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि दुःख दूर करने की कला जानता है, इसलिए कदाचित् पूर्वकर्मोदयवश दुःख भी आ पड़े तो वह उसे अपने सम्यक् विचार से शान्तिपूर्वक भोगकर शीघ्र ही उस दुःख से (दुःखजनक कर्म से) निवृत्त हो जाता है अथवा दुःख को सुख रूप में परिणत कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि विकल्पों को बाहर फेंक देता है

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति शास्त्र में दो नदियों का वर्णन आता है। उनमें से एक का नाम उन्मग्नजला और दूसरी का निमग्नजला है। उन्मग्नजला नदी में जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे उछालकर बाहर फेंक देती है, जबकि निमग्नजला नदी का स्वभाव है कि उसमें जो भी वस्तु गिर जाती है, वह उसे बाहर नहीं फेंकती अन्दर ही रख लेती है। इन दोनों नदियों के समान ही क्रमशः सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में जब कभी राग-द्वेषात्मक विकल्प उठता है, वह उसे बाहर फेंक देता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा उन विकल्पों को अपने अन्दर ही रख लेता है, बाहर नहीं फेंकता। सम्यग्दृष्टि किसी भी विकार-विकल्प को अन्दर आते ही बाहर फेंकता है, कर्मपुद्गलों को भी अन्दर आते ही झटपट भोगकर बाहर फेंकना प्रारम्भ कर देता है।

जब शरीर स्वस्थ एवं सशक्त रहता है तब वह विकार को बाहर फेंकता रहता है, किन्तु शरीर पर रोग का आक्रमण होने से जब शरीर दुर्बल और अशक्त हो जाता है, तब भी वह अपनी शक्ति के अनुसार ज्वरादि

कि वह संसार और संसार के पदार्थों को अपने असली स्वरूप में देख सकता है। वह प्रत्येक पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रिय, मन तथा समस्त अव-यवों को अपने स्वरूप—आत्मस्वरूप से भिन्न जड़रूप में देखता है, पर-पदार्थ के रूप में जानता है, रागद्वेषादि पर-भावों को भी जानता-देखता है। संसार और संसार के प्रत्येक पदार्थ को सम्यग्दृष्टि भी देखता है, मिथ्यादृष्टि भी किन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें देखकर यथावसर, यथोचित, मर्यादा में उनका उप-योग करता है, किन्तु राग-द्वेषादि विकारों को उनके साथ नहीं जोड़ता।

नाट्यशाला के रंगमंच पर अनेकों दृश्य आते हैं, उसमें एक राजा की हार होती है, एक की जीत, लेकिन दर्शक के मन पर उसका कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी स्वयं को संसार की नाट्यशाला का एक द्रष्टा समझता है। संसार के रंगमंच पर अनेकों अनुकूल-प्रतिकूल दृश्य आते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टिरूप द्रष्टा दुनिया के इन दृश्यों को देखकर हर्ष या शोक नहीं करता। नाटक में राजा का पार्ट अदा करते समय मिला हुआ राज्य या खोया हुआ राज्य, जैसे सत्य नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि वैभव, पद, प्रतिष्ठा, परिवार या सत्ता के मिलने-बिछुड़ने या इष्टानिष्ट संयोग-वियोग को सत्य नहीं समझता, वह केवल द्रष्टा बनकर देखता है, वह इन सबको पर समझता है। जबकि मिथ्यादृष्टि इन्हें अपने मानकर इनके संयोग-वियोग में हर्ष-शोक करता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार के समस्त पदार्थों को अपने असली स्वरूप में जानकर हेय को त्याज्य, ज्ञेय को जानने योग्य और उपादेय को ग्राह्य मानता है।

दिल्ली के एक धर्मनिष्ठ सम्यग्दृष्टि श्रावक का इकलौता पुत्र चल बसा। पुत्र की बीमारी के समय सेवा-शुश्रूषा करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी थी, लेकिन वह बच न सका। किसी भी प्रकार का रुदन-विलाप न करके उन्होंने पुत्र का अग्निसंस्कार किया और मरघट से ही सीधे उपाश्रय में पहुँच गये। आज कुछ विलम्ब से आए देख मुनिराज ने पूछा—"श्रावकजी! आज देर से कैसे आए?" वे बोले—"आज एक मेहमान को विदा करने गया था। इससे देर हो गई।" पुत्र के वियोग का उनके मन में कोई रंज नहीं था। उनकी दृष्टि में सम्यग्दृष्टि का जादू था। वे एक द्रष्टा बने रहे पुत्र के संयोग के समय भी और वियोग के समय भी।

सम्यग्दर्शन : एक अंजन

सम्यग्दर्शन एक अंजन भी है, जिसे हृदय-नेत्रों पर आंजने से अज्ञाना-

व्यक्ति भी अगर मुझे (परमात्मतत्त्व) को भजता है, अर्थात्—परमात्मतत्त्व के
प्रति श्रद्धा रखता है तो, उसे साधु समझा जाना चाहिए, वह शीघ्र ही
धर्मात्मा होकर चिरशान्ति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह आत्मा-परमात्मा
के स्वरूप के प्रति दृढनिश्चयी हो चुका है। इस प्रकार का सम्यग्दृष्टि कभी
आत्मस्वरूप से नष्ट या भ्रष्ट नहीं होता।[1] वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही सुख,
शान्ति और आनन्द की जन्मभूमि है। आत्मरमणतारूप सुख का बीज
सम्यक्त्व की पावन भूमि में ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित-फलित
होता है।

सम्यग्दर्शन एक कला

सम्यग्दृष्टि एक कला है। यह भौतिक कला नहीं, आध्यात्मिक क
है। आत्मा में समस्त श्रेष्ठ गुणों के विकास के लिए सम्यग्दर्शन की क
की जरूरत है।

कोई वस्तु अपने-आप में कितनी ही अच्छी हो, उसे यदि कलापूर्ण ढं
से सजाया-संवारा जाता है, तब उसका मूल्य बढ जाता है, उसका आक
भी अधिक हो जाता है। अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया, शील, सन्तोष, अ
गुण अपने आप में बहुत अच्छे है, लेकिन सम्यग्दर्शन के स्पर्श होते ही अहिं
सत्य आदि गुणों पर श्रद्धा, निष्ठा, लगन, रुचि और उद्देश्यदृष्टि स
एवं सुदृढ हो जाती है, जिससे इन गुणों का महत्व बढ़ जाता है। इन गु
के साथ राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ आदि कुविकार या मै
पाते। ये गुण अपने यथार्थ—शुद्ध रूप में रहते हैं। बल्कि इन शुद्ध गुण
सम्यग्दर्शन की पालिश होने से ये गुण उद्देश्यपूर्वक जीवन में रम जा
उनके साथ इहलौकिक और पारलौकिक कामनाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ,
आकांक्षाएं नहीं जुड पाती। जिस प्रकार कला का धनी कलाकार घ
घटिया वस्तु को अपनी कलापूर्ण दृष्टि से अच्छी से अच्छी और मू
बना देता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिरूपी कला का धनी सम्य
सम्पन्न कलाकार जीवन के हर विचार, वचन और कार्य, या प्रवृत्ति
सम्यग्दर्शन की कला से सुन्दर, शुभ एवं शुद्ध बना लेता है।

सम्यग्दर्शन : एक जादू

सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि में ऐसा जादू पैदा हो जा

---

1 गीता, अध्याय ९, श्लोक ३०-३१।

कि वह संसार और संसार के पदार्थों को अपने असली स्वरूप में देख सकता है। वह प्रत्येक पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रिय, मन तथा समस्त अवयवों को अपने स्वरूप—आत्मस्वरूप से भिन्न जडरूप में देखता है, पर-पदार्थ के रूप में जानता है, रागद्वेषादि पर-भावों को भी जानता-देखता है। संसार और संसार के प्रत्येक पदार्थ को सम्यग्दृष्टि भी देखता है, मिथ्यादृष्टि भी, किन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें देखकर यथावश्यक, यथोचित, मर्यादा में उनका उपयोग करता है, किन्तु राग-द्वेषादि विकारों को उनके साथ नहीं जोडता।

नाट्यशाला के रंगमंच पर अनेकों दृश्य आते है, उसमें एक राजा की हार होती है, एक की जीत, लेकिन दर्शक के मन पर उसका कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी स्वयं को संसार की नाट्यशाला का एक द्रष्टा समझता है। संसार के रंगमच पर अनेकों अनुकूल-प्रतिकूल दृश्य आते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टिरूप द्रष्टा दुनिया के इन दृश्यों को देखकर हर्ष या शोक नही करता। नाटक में राजा का पार्ट अदा करते समय मिला हुआ राज्य या खोया हुआ राज्य, जैसे सत्य नही होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि वैभव, पद, प्रतिष्ठा, परिवार या सत्ता के मिलने-बिछडने या इष्टानिष्ट संयोग-वियोग को सत्य नहीं समझता, वह केवल द्रष्टा बनकर देखता है, वह इन सबको पर समझता है। जबकि मिथ्यादृष्टि इन्हे अपने मानकर इनके संयोग-वियोग में हर्ष-शोक करता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार के समस्त पदार्थों को अपने असली स्वरूप में जानकर हेय को त्याज्य, ज्ञेय को जानने योग्य और उपादेय को ग्राह्य मानता है।

दिल्ली के एक धर्मनिष्ठ सम्यग्दृष्टि श्रावक का इकलौता पुत्र चल बसा। पुत्र की बीमारी के समय सेवा-शुश्रूषा करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी थी, लेकिन वह बच न सका। किसी भी प्रकार का रुदन-विलाप न करके उन्होंने पुत्र का अग्निसंस्कार किया और मरघट से ही सीधे उपाश्रय में पहुँच गये। आज कुछ विलम्ब से आए देख मुनिराज ने पूछा—"श्रावकजी! आज देर से कैसे आए?" वे बोले—"आज एक मेहमान को विदा करने गया था। इससे देर हो गई।" पुत्र के वियोग का उनके मन में कोई रंज नहीं था। उनकी दृष्टि में सम्यग्दृष्टि का जादू था। वे एक द्रष्टा बने रहे पुत्र के संयोग के समय भी और वियोग के समय भी।

सम्यग्दर्शन : एक अंजन

सम्यग्दर्शन एक अंजन भी है, जिसे हृदय-नेत्रों पर आजने से अज्ञाना-

व्यक्ति भी अगर मुझे (परमात्मतत्त्व) को भजता है, अर्थात्—परमात्मतत्त्व के प्रति श्रद्धा रखता है तो उसे साधु समझा जाना चाहिए, वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिरशान्ति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह आत्मा-परमात्मा के स्वरूप के प्रति दृढ़निश्चयी हो चुका है। इस प्रकार का सम्यग्दृष्टि कभी आत्मस्वरूप से नष्ट या भ्रष्ट नहीं होता।[1] वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही सुख, शान्ति और आनन्द की जन्मभूमि है। आत्मरमणतारूप सुख का बीज सम्यक्त्व की पावन भूमि में ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित-फलित होता है।

सम्यग्दर्शन : एक कला

सम्यग्दृष्टि एक कला है। यह भौतिक कला नहीं, आध्यात्मिक कला है। आत्मा के समस्त श्रेष्ठ गुणों के विकास के लिए सम्यग्दर्शन की कला की जरूरत है।

कोई वस्तु अपने-आप में कितनी ही अच्छी हो, उसे यदि कलापूर्ण ढंग से सजाया-संवारा जाता है, तब उसका मूल्य बढ़ जाता है, उसका आकर्षण भी अधिक हो जाता है। अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया, शील, सन्तोष, आदि गुण अपने आप में बहुत अच्छे हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन के स्पर्श होते ही अहिंसा, सत्य आदि गुणों पर श्रद्धा, निष्ठा, लगन, रुचि और उद्देश्यदृष्टि स्पष्ट एवं सुदृढ़ हो जाती है, जिससे इन गुणों का महत्त्व बढ़ जाता है। इन गुणों के साथ राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ आदि कुविकार या मैल नहीं घुसते। ये गुण अपने यथार्थ—शुद्ध रूप में रहते हैं। बल्कि इन शुद्ध गुणों पर सम्यग्दर्शन की पालिश होने से ये गुण उद्देश्यपूर्वक जीवन में रम जाते हैं। उनके साथ इहलौकिक और पारलौकिक कामनाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ नहीं जुड़ पाती। जिस प्रकार कला का धनी कलाकार घटिया से घटिया वस्तु को अपनी कलापूर्ण दृष्टि से अच्छी से अच्छी और मूल्यवान बना देता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिरूपी कला का धनी सम्यग्दर्शनसम्पन्न कलाकार जीवन के हर विचार, वचन और कार्य, या प्रवृत्ति को सम्यग्दर्शन की कला से सुन्दर, शुभ एवं शुद्ध बना लेता है।

सम्यग्दर्शन : एक जादू

सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि में देह आत्म

---

१ गीता, अध्याय ९, श्लोक ३०-३१।

कि वह संसार और संसार के पदार्थों को अपने असली स्वरूप में देख सकता है। वह प्रत्येक पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रिय, मन तथा समस्त अवयवों को अपने स्वरूप—आत्मस्वरूप से भिन्न जडरूप में देखता है, पर-पदार्थ के रूप में जानता है, रागद्वेषादि पर-भावों को भी जानता-देखता है। संसार और संसार के प्रत्येक पदार्थ को सम्यग्दृष्टि भी देखता है, मिथ्यादृष्टि भी, किन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें देखकर यथावश्यक, यथोचित, मर्यादा में उनका उपयोग करता है, किन्तु राग-द्वेषादि विकारों को उनके साथ नहीं जोडता।

नाट्यशाला के रंगमंच पर अनेकों दृश्य आते हैं, उसमें एक राजा की हार होती है, एक की जीत, लेकिन दर्शक के मन पर उसका कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी स्वयं को संसार की नाट्यशाला का एक द्रष्टा समझता है। संसार के रंगमंच पर अनेकों अनुकूल-प्रतिकूल दृश्य आते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टिरूप द्रष्टा दुनिया के इन दृश्यों को देखकर हर्ष या शोक नहीं करता। नाटक में राजा का पार्ट अदा करते समय मिला हुआ राज्य या खोया हुआ राज्य, जैसे सत्य नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि वैभव, पद, प्रतिष्ठा, परिवार या सत्ता के मिलने-बिछुडने या इष्टानिष्ट संयोग-वियोग को सत्य नहीं समझता, वह केवल द्रष्टा बनकर देखता है, वह इन सबको पर समझता है। जबकि मिथ्यादृष्टि इन्हें अपने मानकर इनके संयोग-वियोग में हर्ष-शोक करता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार के समस्त पदार्थों को अपने असली स्वरूप में जानकर हेय को त्याज्य, ज्ञेय को जानने योग्य और उपादेय को ग्राह्य मानता है।

दिल्ली के एक धर्मनिष्ठ सम्यग्दृष्टि श्रावक का इकलौता पुत्र चल बसा। पुत्र की बीमारी के समय सेवा-शुश्रूषा करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी थी, लेकिन वह बच न सका। किसी भी प्रकार का रुदन-विलाप न करके उन्होंने पुत्र का अग्निसंस्कार किया और मरघट से ही सीधे उपाश्रय में पहुँच गये। आज कुछ विलम्ब से आए देख मुनिराज ने पूछा—"श्रावकजी! आज देर से कैसे आए?" वे बोले—"आज एक मेहमान को विदा करने गया था। इससे देर हो गई।" पुत्र के वियोग का उनके मन में कोई रंज नहीं था। उनकी दृष्टि में सम्यग्दृष्टि का जादू था। वे एक द्रष्टा बने रहे पुत्र के संयोग के समय भी और वियोग के समय भी।

सम्यग्दर्शन : एक अंजन

सम्यग्दर्शन एक अंजन भी है, जिसे हृदय-नेत्रों पर आंजने से अज्ञाना-

[illegible] है [illegible] है। [illegible]
[illegible]
है। [illegible]
[illegible] कर सकता है, [illegible]
बन सकता है।

सम्यग्दर्शन : एक औषध

मिथ्यात्व एक भयंकर रोग है। मिथ्यात्वरोग ग्रस्त व्यक्ति को [illegible]
जितना उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान का अभ्यास हो [illegible]
वैराग्य भी प्रगट हो, तप और नियम के पालन [illegible] उत्कृष्ट उपदेश
उसमें निज विपरीत ही सिद्ध होता है [illegible] परिणाम होता है, अ
पर ही सिद्ध होता है। जैसे ज्वर रोग के रोगी को चाहे जितना स्वादिष्ट
गरिष्ठ भोजन पकवान सुस्वादु और सुपाच्य आहार दो, वह उस
के कारण किसी भी प्रकार का यथेष्ट लाभ नहीं उठा पाता। बल्कि जि
भी जैसा भी भोजन खिलाया जाएगा वह भस्म हो जाएगा।

इसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी रोग जिसे लग जाता है, वह चाहे जित
उच्च अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर ले, चाहे जितना उच्च चारित्र पालन कर
भव-भ्रमण का रोग मिट नहीं सकता। सम्यग्दर्शन ही एक मात्र औषध
जिसके सेवन करने से पूर्व प्राप्त किया हुआ आध्यात्मिक ज्ञान अ
चारित्र सभी सम्यक् और सुपाच्य हो जाता है, और रसायन का कार्य क
है, और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों को साथ लेकर दोनों को सम
बनाकर सम्यग्दर्शन मोक्ष तक पहुँचा देता है। पंचाध्यायी एवं लाटी संहि
में सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्यात्वादि रोग से जीव कैसे मुक्त होता है, इस वि
में कहा गया है—

> यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै।
> उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः।
> दृङ्मोहस्योदयान्मूर्च्छा वैचित्त्यं वा तथा भ्रमः।
> प्रशान्ते त्वस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः॥[1]

—अथवा जिस प्रकार मद्य या धतूरे का नशा उतर जाने पर मूर्च्छि

---

१. (क) पंचाध्यायी (द्रव्यविशेषाधिकार) श्लो० ३८४, ३८५।
(ख) लाटी संहिता, सर्ग ३, श्लोक ३६, ४०।

जीव अमूर्च्छित होने ही स्वस्थ एवं प्रसन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार दर्शनमोह-नीय के उदय से होने वाले जीव को जो मूर्च्छा रहा करती थी, जिसके कारण यह जीव पुत्र, मित्र, कलत्रादि पर-पदार्थों को अपने मानकर अज्ञानी बना हुआ था, तथा जो चित्त की अस्थिरता रहती थी, जिसके कारण इस जीव का हृदय प्रत्येक पदार्थ में मोह करता हुआ डांवाडोल रहता था, और उसी दर्शनमोहनीयकर्म के उदय से प्रत्येक पदार्थ में जो भ्रम बना रहता था, किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता था, वह सब मूर्च्छा, चित्त की अस्थिरता और भ्रम आदि दर्शनमोहनीयजनित रोग दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम होते ही शान्त हो जाते हैं।

आशय यह कि दर्शनमोहनीयजनित जो मिथ्यात्व रोग था, जिसके कारण मूर्च्छा, भ्रम और अस्थिरता आदि होते थे, सम्यग्दर्शनरूप औषध लेते ही दर्शनमोहजनित मिथ्यात्व रोग शान्त हो जाता है। इस रोग के शान्त होते ही अज्ञान, भ्रम आदि दूर हो जाते हैं, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का भान हो जाता है।

सम्यग्दर्शन देश-काल-धर्मनिरपेक्ष

सम्यग्दर्शन चेतना का धर्म है, आत्मा का धर्म है, तन का या भौतिक वस्तुओं का धर्म नहीं। व्यक्ति चाहे जिस देश, जाति, वर्ण, वर्ग या पथ या सम्प्रदाय के हों, इनसे सम्यग्दर्शन के होने-न-होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा पर विश्वास, आत्मशक्ति और आत्मा के स्वभाव, स्वगुण, और स्वरूप पर दृढ आस्था अपेक्षित है।

दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन किसी को विरासत में नहीं मिलता। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति पुत्र को उत्तराधिकार में मिलती है, उस प्रकार सम्यग्दर्शन किसी सम्यग्दृष्टि पिता से उसके पुत्र को उत्तराधिकार में नहीं मिलता। जैसे डाक्टर का लड़का डाक्टरी पास किये बिना डाक्टर नहीं बन सकता वैसे ही सम्यग्दृष्टि का लड़का भी सम्यग्दर्शन के लिए पुरुषार्थ किये बिना सम्यग्दृष्टि नहीं कहला सकता। न ही सम्यग्दर्शन किसी को पैसे से अथवा और किसी प्रकार से लिया-दिया जा सकता है, वह तो अन्तर्जागरण से प्राप्त होने वाली वस्तु है।

सम्यग्दर्शन के समान कोई बन्धु या मित्र नहीं

सम्यग्दर्शन आत्मा का परम बन्धु है। बन्धु का अर्थ होता है—सहायक। जब आत्मा में सर्वप्रथम कल्याणमार्ग पर बढने की रुचि होती है, वह कल्याणमार्ग पर चलने या आत्मस्वरूप का बोध करने को तैयार हो—

व उसे सर्वप्रथम सहारा देने वाला, उसमें आत्मविश्वास जगाने वाला सम्यग्दर्शन ही है। इसलिए सम्यग्दर्शन को आत्मा का परम बन्धु माना गया है। सम्यग्दर्शन से जो सहयोग मिलता है, वह स्थायी होता है। एक बार सम्यग्दर्शनरूपी बन्धु की सहायता मिल जाती है तो आत्मा का भव-भ्रमण, जो पहले असीम था, वह सीमित हो जाता है। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल की अवधि में आत्मा का मोक्ष अवश्य ही मिल जाता है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से बढ़कर आत्मा का और कोई 'मित्र' नहीं है। मित्र पाप से, अहितमार्ग से अपने मित्र को हटाता है, हितमार्ग में लगाता है। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन ही आत्मा का सबसे बड़ा मित्र है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही आत्मा को हिताहित का विवेक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में देखने की शुद्ध दृष्टि मिल जाती है, हेय-ज्ञेय-उपादेय का जानने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

जब तक व्यक्ति मिथ्यात्व-दशा में रहता है, तब तक वह हिताहित, हेयोपादेय को नहीं समझता। इस कारण वह उसी कुदृष्टि के अनुसार प्रवृत्ति करता है। किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी मित्र के मिलते ही दृष्टि का विभ्रम दूर हो जाता है, आत्मा को सत्यतत्त्व की उपलब्धि हो जाती है, उसे हेय-ज्ञेय-उपादेय का सम्यक्रूप से बोध हो जाता है। इस प्रकार हितमार्ग में प्रवृत्त करने और अहितमार्ग से बचाने के कारण सम्यग्दर्शन परम मित्र है। आचार्य अमितगति ने इसी दृष्टि से सम्यग्दर्शन को परम बन्धु और परम मित्र बताते हुए कहा है —

> दर्शनबन्धोर्न परोबन्धुर्दर्शनलाभान्न परोलाभः।
> दर्शनमित्रान्न परं मित्रं, दर्शन सौख्यान्न परं सौख्यम् ॥[1]

अर्थात् – सम्यग्दर्शनरूपी बन्धु से बढ़कर कोई बन्धु नहीं है, सम्यग्दर्शन के लाभ से कोई अधिक लाभ नहीं है, सम्यग्दर्शनरूपी मित्र से बढ़कर कोई परम मित्र नहीं है, और न ही सम्यग्दर्शन के सुख से उत्कृष्ट कोई सुख है।

समस्त ऐहिक-पारलौकिक उन्नति का मूल कारण

सम्यग्दर्शन का एक खास उद्देश्य है—कर्मक्षयमूलक उन्नति की अन्तःप्रेरणा करना। सम्यग्दृष्टि पारलौकिक उन्नति कर्मक्षयकारिणी निर्जरा के रूप में करता है। उसके पुण्य-प्रभाव से भले ही देवादिगण का वैभव,

---

१ अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ८५

सुख, पद, यहाँ तक कि तीर्थंकर पद भी प्राप्त हो जाता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि इन सब कामनाओं को लेकर सम्यग्दर्शन के विषय में पुरुषार्थ नहीं करता, वह तो सम्यक्त्व होने से ही प्रत्येक पदार्थ के साथ रागादि के विकारों से बचने का प्रयत्न करता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिए निखालिस रूप में प्रयत्न करता है जिससे प्राय: निर्जरा या कर्मक्षय ही होता है। यही उपासकाध्ययन में कहा गया है—

"महात्मागण सम्यक्त्व को ही समस्त ऐहिक, पारलौकिक उन्नति या मोक्ष का प्रथम कारण बताते हैं।"[1]

मनुष्य आज अनेक समस्याओं में उलझा हुआ है। परिवार से लेकर विश्व तक की अनेक समस्याएँ आए दिन मुँह फाड़े खड़ी रहती है। लोग उन समस्त समस्याओं का समाधान प्राय: बाहर में ढूँढते हैं। परन्तु बाहर से स्थूल समस्याएँ तो हल होती दिखाई देती है, मगर जैसे धन, सन्तान, परिवार, नेतृत्व, प्रसिद्धि आदि कई समस्याएँ उसके अन्तर्मन में है, अगर अन्तर्मन इन वस्तुओं के साथ राग-द्वेषादि को न जोड़े, कषायों को न सलग्न करे तथा हेयोपादेय का विवेक कर ले, अथवा उपर्युक्त वस्तुओं का अभाव दूर करके समस्या सुलझाने हेतु अज्ञानी व्यक्ति उन-उन भौतिक वस्तुओं की पूर्ति करते हैं, किन्तु अगर पुण्य प्रबल न हो, विकलाग हो, दु साध्य रोगग्रस्त हो तो वस्तुओं की पूर्ति कर देने पर भी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है।

सम्यग्दर्शनी इह-पारलौकिक समस्या के मूल में जाता है, जिन कर्मों के कारण समस्या के हल में बाधा पहुँचती है उन कर्मों को क्षय (निर्जरा) करने की ओर ही उसका लक्ष्य रहता है। वह आत्मपरायण होकर आत्मा के स्वरूप और स्वभाव को—उपादान को पकड़ता है, वह उपादान को शुद्ध निर्विकार करने में लगता है, जिससे समस्या स्वत: हल हो जाती है। वह निमित्त को नहीं पकड़ता, न दोष देता है। उपादान को ठीक करते समय निमित्त स्वत: सहयोगी बन गया तो वह उसमे इन्कार नहीं करता, किन्तु अहंत्व-ममत्व से रहित होकर ही उसका सहयोग लेता है। इसी कारण सम्यग्दर्शन को ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय का एवं मोक्ष का प्रथम कारण बताया गया है।

---

१ उपासकाध्ययन, कल्प २।

सम्यग्दर्शन की इस जीवन-कला को जानकर सम्यक्त्व की मानव
जीवन में पद-पद पर आवश्यकता से, जीवन के हर मोड़ पर इसकी उपादेयत
से कौन इन्कार कर सकता है ? इसीलिए आचार्य अमितगति ने सम्यग्दृ
के भाग्य की प्रशसा करते हुए कहा है—

सुदर्शन यस्य स ना सुभाजनः, सुदर्शन यस्य स सिद्धिभाजन ।

सुदर्शनं यस्य स धीविभूषित., सुदर्शनं यस्य स शीलविभूषितः ॥[1]

"जिसके पास सम्यग्दर्शन है, वह मनुष्य उत्तम पात्र है, वही सि
(मुक्ति) का भाजन (भागी) है, सम्यग्दर्शनसम्पन्न ही बुद्धि से सुशोभित
वही शील से विभूषित है ।"

वास्तव में जिसके पास सम्यग्दर्शनरूप जीवन-कला या दृष्टि है, व
ससार मे—इहलोक-परलोक में, सर्वत्र सुख, आनन्द और परम शान्ति
साथ जीता है।

७. सम्यग्दर्शन : भाव और प्रभाव

• •

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सम्यग्दर्शन का प्रभाव

सम्यग्दर्शन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूता है, फिर चाहे वह क्षेत्र सामाजिक हो, आर्थिक हो, सास्कृतिक हो या राजनैतिक । जिस व्यक्ति मे सम्यग्दर्शन आ गया, समझ लो उसकी दृष्टि मे अमृत आ गया । सम्यग्-दृष्टिसम्पन्न आत्मा अपने जीवन मे कभी निराश या किकर्तव्य-विमूढ नही होता । उसके पास विशुद्ध दृष्टि का अनुपम वल है, जिसके प्रभाव मे वह कभी हारता नही, थकता नही । कितनी ही विपदाएँ क्यो न आएँ, कितनी ही विघ्न-बाधाएँ, सकट और दु.ख की काली घटाएँ क्यो न उमड कर आएँ सम्यग्दर्शन जिसके पास है, वह कभी घबराता नही । उसकी सोचने की दृष्टि ही दूसरी होती है ।

जहाँ मिथ्यादृष्टि जीव विपत्ति आने पर अपने दैव, भाग्य, भगवान् और निमित्तो को कोसने लगता है, विपत्ति का मूल कहाँ है, इस सम्बन्ध में वह विचार नहीं करता , जबकि सम्यग्दृष्टि विपत्ति आने पर दैव, भाग्य, भगवान् और निमित्तो को नही कोसता, वह अपने उपादान को देखता है, अपने कृत-कर्मो का विचार करके उन दु.खो को समभाव से सह लेने का प्रयत्न करता है । वह यह कभी नही कहता कि भगवान् ने मुझे ये दु ख क्यो दिये है ? अथवा भगवान् की मुझ पर कृपा नही है, जिस कारण ये दु ख आए । अथवा वह यह नही कहता कि अमुक व्यक्ति ने मुझे सहायता नही दी, अथवा अमुक व्यक्ति ने मुझे दु.ख और कष्ट दिये, मैं इसका वदला लिये विना नही छोड़ूंगा ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा सम्यग्दर्शन के प्रभाव मे विपत्ति, दु ख और सकट के समय गहराई से आत्मचिन्तन करता है, अपनी भूल और गलती को

यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति भी प्रभु की इस आद्यशक्ति (सम्यग्दृष्टि) व
श्रय लेकर राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विकार शत्रुओं अथवा इन
रा बँधे हुए पूर्व कर्मरिपुओं को फटकने नहीं देते। उसी आद्यशक्ति व
ासना से मनुष्य अपनी आत्मशक्ति बढ़ा लेता है, जिससे वह पापकर्म
नाश कर देता है, जिससे या तो वह मुक्ति की ओर प्रस्थान करता है
फिर वह पुण्यकर्म की प्रबलता से दुर्गति में नहीं जाता। अनगार धर्मामृ
पं० आशाधर जी ने इसी तथ्य को भलीभांति स्पष्ट किया है :—

> परमपुरुषस्याद्यां शक्तिं सुदृग् परिवस्यताम् ।
> नरि शिवरमासाचीक्षा या प्रसीदति तन्वती ।
> कृतवरपुरध्वंसा बन्धुत्वप्रमाभ्युदयं यया ।
> सृजति नियतिः फलाभोगीकृत त्रिजगत्पति ॥

हे मुमुक्षुओ ! परमपुरुष परमात्मा की आद्य-प्रधानभूत-शक्ति-
म्यग्दृष्टि की उपासना करो, जो मोक्षलक्ष्मी के कटाक्षों को विस्तृत कर
है, शंकादि दोषों से रहित होने से प्रसन्न होती है। तथा जिसके द्वार
भावित नियति पुण्यशक्ति—पर-मिथ्यात्व द्वारा प्राप्त होने वाले एकेन्द्रि
ादि शरीरों की उत्पत्ति को रोककर ऐसा अभ्युदय देती है, जो तीन लो
स्वामियों को उच्छिष्ट भोगी बनाती है।

इस श्लोक में परमात्मा की आद्यशक्ति सम्यग्दृष्टि की महिमा बता
ए कहा गया है, जैसे शैवधर्म में महादेव परमपुरुष है और उनकी आद्य
क्ति पार्वती है। उसी शक्ति से प्रभावित होकर नियति शत्रुओं के नग
ो नष्ट करती है, उसी प्रकार जैनधर्म में परमपुरुष वीतराग परमात्मा है
नकी आद्य या प्रधानशक्ति सम्यक्दृष्टि है। जिसके द्वारा प्रभावित ह
यति या पुण्यलीला पर यानी विपक्ष रूप मिथ्यात्व के द्वारा प्राप्त हो
ले, पुर अर्थात् एकेन्द्रियादि शरीरों (पर्यायों) में जन्म को रोकती है।

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन के आराधक जीव ने सम्यक्त्व ग्रह
पहले यदि आगामी भव की आयु का बन्ध नहीं किया है, तो वह मर
रक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में नहीं जाता। यदि आयुबन्ध कर लेता है त
ीचे के ६ नरकों आदि में जन्म नहीं लेता। प्रमाण के लिए पंच संग्रह क
नेम्न गाथा प्रस्तुत है :—

> छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
> बारस मिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा ॥[1]

---

[1] पंचसंग्रह १।१६३

अर्थात्—नीचे के ६ नरकों मे, ज्योतिषीदेव, व्यन्तरदेव, भवनवासी देवों में और सभी स्त्रियों मे—यानी तिर्यंची, मानुषी और देवी में, इन बारह मिथ्योपपाद में—अर्थात्—जिनमें मिथ्यादृष्टि जीव ही जन्म लेता है, इनमें सम्यग्दृष्टि का जन्म नही होता।

केवल पंचसंग्रह में ही क्यों, अन्य अनेक ग्रन्थो में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। जैसे कि प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे कहा गया है :—

ज्योतिष्कव्यन्तरत्वं च कुदेवता सर्वा स्त्रियम्।
भावनत्वं न गच्छन्ति, वाहनत्वं सुदृष्टयः ॥[1]

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न नही होता तथा कल्पवासियों में भी किल्विषक तथा आभियोगिक आदि नीच देवों में तथा देव-मनुष्य-तिर्यंच सम्बन्धी स्त्रियो मे कभी पैदा नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जब तक पूर्ण वीतराग नही बन जाता, तब तक उसमे अपने समाज, राष्ट्र, विश्व, जाति, धर्म-संघ, आदि के प्रति प्रशस्त राग—स्नेह, करुणा, मैत्री, वात्सल्य, प्रमोद, माध्यस्थ्य आदि शुभराग की वृत्ति या परिणति रहेगी ही, उसे हटाया नही जा सकता। और यह भी निश्चित है कि ऐसे प्रशस्त या शुभराग की वृत्ति का प्रादुर्भाव उसी व्यक्ति में हो सकेगा, जिसके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय; इन ७ प्रकृतियों का क्षयोपशम हो। ऐसी स्थिति मे सम्यग्दर्शनसम्पन्न छद्मस्थ साधक के जीवन में ही ऐसा प्रशस्त—शुभराग पुण्यबन्ध का कारण है। मिथ्यादृष्टि के न तो इस प्रकार तीव्र कषायों का क्षयोपशम होता है और न ही मिथ्यात्वमोहनीय आदि प्रकृतियाँ क्षय होती हैं, इसलिए उसके पापकर्म का नाश और पुण्यबन्ध नही होता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शनरूप धर्म का मुख्य रूप और लक्ष्य वीतरागता है। उसी ओर सम्यग्दृष्टि की यात्रा सतत चालू रहनी चाहिए; परन्तु जब तक पूर्ण वीतरागता नही आती है, तब तक मन को कहीं न कहीं लगाना ही पड़ेगा अन्यथा, वह निर्विकल्पता के अभाव में तथा शुभ विकल्प की ओर न मोड़ने में अशुभ विकल्पों की ओर मुड़कर जीवन का सर्वनाश कर बैठेगा। अत.

---

१ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११। ८३

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना पशवोऽपि सुरा मता ।
सम्यग्दर्शनहीनास्ते पशवो हि सुरा अपि ॥[1]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, वे शरीर से भले ही पशु योनि में हों, अन्तस्तत्व के विकास की दृष्टि से वस्तुतः देव हैं और जो सम्यग्दर्शन से शून्य हैं, वे शरीर से देव होते हुए भी अंदर से पशुतुल्य हैं। वस्तुतः शरीर से पशु होने पर ही कोई पशु नहीं होता, और न देव होने पर ही कोई देव होता है। देव का अर्थ दिव्यदृष्टिसम्पन्न है। वह दिव्यता सच्चे माने में तो आध्यात्मिक वैभव ही है, जो पशु को भी देवत्व के रूप में पूज्यता प्रदान करती है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शनादि धर्म के फल के सन्दर्भ में कहा है—

श्वाऽपि देवो पि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥[2]

सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से श्वान भी स्वर्गलोक के देवरूप में उत्पन्न हो जाता है, इसके विपरीत मिथ्यात्वादि पाप के प्रभाव से स्वर्गलोक का महान् ऋद्धिधारी देव भी तिर्यंचगति में श्वान के रूप में उत्पन्न होता है। अतः निश्चित ही प्राणियों को सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से अनिर्वचनीय अहमिन्द्र आदि की सम्पदा ही नहीं, अविनाशी मुक्तिसम्पदा तक प्राप्त हो जाती है; किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में दूसरे देवलोक तक का देव वहाँ से च्यवकर एकेन्द्रिय स्थावरयोनि में उत्पन्न होता है, तथा बारहवें देवलोक तक का देव मिथ्यात्व के प्रभाव से तिर्यंच पंचेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होता है। प्रमाण के लिए देखिये प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के ये श्लोक -

सम्यक्त्वेन विना स्वर्गात् स्थावरेषु प्रजायते ।
आर्त्तध्यानं विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद् भोगतत्परः ॥
सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशयः ।
धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥[3]

सम्यग्दर्शन के बिना भोगों में तत्पर रहने वाला स्वर्ग का देव भी आर्त्तध्यान में लीन होकर स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों में उत्पन्न होता है। निःसन्देह, सम्यग्दर्शन के बिना यह प्राणी पशु ही है; क्योंकि जिस प्रकार

मुनि रचित) श्री अमरभारती, दिसम्बर १९७२, पृष्ठ १।
धिकार १, श्लोक २९।
रि० ११।४६, ४६

युक्त होते हैं तथा महान् कुल के स्वामी, महान धर्म, अर्थ, काम और म
पुरुषार्थ के स्वामी होते हैं।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के अनुसार—जिनके पास सम्यग्दर्शन
महारत्न विद्यमान है, वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणों से सुशोभित होते
तेजस्वी और स्वज्ञान-विज्ञान में पारगत, वज्रवृषभनाराच संहनन वा
चतुर, महाबली, अत्यन्त उदार, यशस्वी, अनेक लोगों के आश्रयदाता,
धान्यादि वैभव से परिपूर्ण, समस्त शत्रुओं को वश में करने वाले, च
पुरुषार्थों को यथायोग्य प्राप्त करने वाले, अनेक प्रकार की महिमा
मण्डित, समस्त इन्द्रिय-सुखों से युक्त एवं अत्यन्त धर्मात्मा होते हैं।[1]

इस सारभूत सम्यक्त्व के प्रभाव से जो पुण्य प्राप्त है, उसके फ
स्वरूप जीव यदि मनुष्य-भव में जन्म लेगा तो बड़े कुल में उत्पन्न होग
इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के पुण्य-प्रभाव से चक्रवर्ती की सभी प्रकार
विभूति प्राप्त होती है, इससे भी बढ़कर वे परमगुणी, उत्तम विद्वान् मा
तीर्थंकर की समस्त विभूतियाँ प्राप्त करते हैं तथा जीवादि तत्त्वों में यथ
श्रद्धान रखने वाले सम्यग्दृष्टि स्वर्गलोक में इन्द्र होते हैं जिन्हें देवसभा
समस्त देव नमस्कार किया करते हैं।[1] उन्हें अणिमादि आठों सिद्धिय
तीनों ज्ञान प्राप्त होते हैं। रोग, क्लेश, दुःख आदि से सर्वथा रहित हो
हैं। अन्य अनेक विभूतियों से युक्त होते हैं। देव भी होते हैं तो वे महर्द्धि
सामानिक, त्रायस्त्रिंशत् या लोकपाल आदि उच्चजाति के देव होते हैं।[2]

यह स्पष्ट है कि जो विद्वान शुद्ध सम्यग्दर्शन से सुशोभित है, व
सम्यग्दर्शन के प्रभाव से नीचकुल और नीच गति को छोड़कर श्रेष्ठ दे
तथा मनुष्य होकर अन्त में मुक्ति-लक्ष्मी का स्वामी होता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पशु भी देव

सम्यग्दर्शन ही वह दिव्यदृष्टि है, जो सत्यासत्य तथा हिताहित क
सम्यक् विवेक करती है। इस दिव्यज्योति के अभाव में बाह्य विभूति औ
ऐश्वर्य के दीप्तिपूर्ण बाह्य प्रकाश का कुछ भी महत्त्व नहीं है। अध्यात्म
ज्ञानी की दृष्टि में सम्यग्दर्शन से सम्पन्न पशु भी देव है, और उससे रहित
देव भी पशु तुल्य है, जिसका उल्लेख 'अन्तर्नाद' में किया गया है—

---

१ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार परि० ११, श्लोक ८० से ८८ तक

२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार १।३७-३८.

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना पशवोऽपि सुरा मता ।
सम्यग्दर्शनहीनास्ते पशवो हि सुरा अपि ॥[1]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, वे शरीर से भले ही पशु योनि में हो, अन्तस्तत्व के विकास की दृष्टि से वस्तुतः देव है और जो सम्यग्दर्शन से शून्य हैं, वे शरीर से देव होते हुए भी अंदर से पशुतुल्य है। वस्तुतः शरीर से पशु होने पर ही कोई पशु नही होता, और न देव होने पर ही कोई देव होता है। देव का अर्थ दिव्यदृष्टिसम्पन्न है। वह दिव्यता सच्चे माने मे तो आध्यात्मिक वैभव ही है, जो पशु को भी देवत्व के रुप में पूज्यता प्रदान करती है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शनादि धर्म के फल के सन्दर्भ में कहा है—

श्वाऽपि देवो पि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥[2]

सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से श्वान भी स्वर्गलोक के देवरूप मे उत्पन्न हो जाता है, इसके विपरीत मिथ्यात्वादि पाप के प्रभाव से स्वर्गलोक का महान् ऋद्धिधारी देव भी तिर्यंचगति में श्वान के रूप में उत्पन्न होता है। अतः निश्चित ही प्राणियो को सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से अनिर्वचनीय अहमिन्द्र आदि की सम्पदा ही नहीं, अविनाशी मुक्तिसम्पदा तक प्राप्त हो जाती है; किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में दूसरे देवलोक तक का देव वहाँ से च्यवकर एकेन्द्रिय स्थावरयोनि में उत्पन्न होता है, तथा बारहवें देवलोक तक का देव मिथ्यात्व के प्रभाव मे तिर्यंच पंचेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होता है। प्रमाण के लिए देखिये प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के ये श्लोक -

सम्यक्त्वेन बिना स्वर्गात् स्थावरेषु प्रजायते ।
आर्त्तध्यान विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद् भोगतत्परः ॥
सम्यक्त्वेन बिना प्राणी पशुरेव न संशयः ।
धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥[3]

सम्यग्दर्शन के बिना भोगों में तत्पर रहने वाला स्वर्ग का देव भी आर्त्तध्यान मे लीन होकर स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो मे उत्पन्न होता है। निस्सन्देह, सम्यग्दर्शन के बिना यह प्राणी पशु ही है; क्योंकि जिस प्रकार

---

1. अन्तर्नाद (उपाध्याय अमरमुनि रचित) श्री अमरभारती, दिसम्बर १९७२, पृष्ठ १।
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, श्लोक २९।
3. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११।४६, ४६

क होते है तथा महान् कुल के स्वामी, महान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ के स्वामी होते हैं।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के अनुसार— जिनके पास सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न विद्यमान है, वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणों से सुशोभित होते हैं, तेजस्वी और स्वज्ञान-विज्ञान में पारंगत, वज्रवृषभनाराच संहनन वाले, चतुर, महाबली, अत्यन्त उदार, यशस्वी, अनेक लोगों के आश्रयदाता, धन धान्यादि वैभव से परिपूर्ण, समस्त शत्रुओं को वश में करने वाले, चारों पुरुषार्थों को यथायोग्य प्राप्त करने वाले, अनेक प्रकार की महिमा से मण्डित, समस्त इन्द्रिय-सुखों से युक्त एवं अत्यन्त धर्मात्मा होते हैं।

इस भास्वर सम्यक्त्व के प्रभाव से जो पुण्य प्राप्त है, उसके फलस्वरूप जीव यदि मनुष्य-भव में जन्म लेगा तो बड़े कुल में उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के पुण्य-प्रभाव से चक्रवर्ती की सभी प्रकार की विभूति प्राप्त होती है, इससे भी बढ़कर वे परमसुखी, उत्तम विद्वान् मान्य तीर्थंकर की समस्त विभूतियाँ प्राप्त करते हैं तथा जीवादि तत्त्वों में यथार्थ श्रद्धान रखने वाले सम्यग्दृष्टि स्वर्गलोक में इन्द्र होते हैं जिन्हें देवसभा में समस्त देव नमस्कार किया करते हैं।[1] उन्हें अणिमादि आठों सिद्धियाँ, तीनों ज्ञान प्राप्त होते हैं। रोग, क्लेश, दुःख आदि से सर्वथा रहित होते हैं। अन्य अनेक विभूतियों से युक्त होते हैं। देव भी होते हैं तो वे महर्द्धिक सामानिक, त्रायस्त्रिंशत् या लोकपाल आदि उच्चजाति के देव होते हैं।[2]

यह स्पष्ट है कि जो विद्वान शुद्ध सम्यग्दर्शन से सुशोभित है, वह सम्यग्दर्शन के प्रभाव से नीचकुल और नीच गति को छोड़कर श्रेष्ठ देव तथा मनुष्य होकर अन्त में मुक्ति-लक्ष्मी का स्वामी होता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पशु भी देव

सम्यग्दर्शन ही वह दिव्यदृष्टि है जो सत्यासत्य तथा हिताहित का यथार्थ विवेक करती है। इस दिव्यज्योति के अभाव में बाह्य विभूति और ऐश्वर्य के दैदीप्यमान बाह्य प्रकाश का कुछ भी महत्व नहीं है। आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि से सम्यग्दर्शन से सम्पन्न पशु भी देव है, और उससे रहित देव भी पशु तुल्य है, जिसका उल्लेख 'अन्तर्नाद' में किया गया है—

---

1 प्रश्नोत्तर श्रावकाचार [illegible] ११, श्लोक ८० से ८८ तक

2 [illegible] ३।३७-३८

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना पशवोऽपि सुरा मताः ।
सम्यग्दर्शनहीनास्ते पशवो हि सुरा अपि ॥[1]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, वे शरीर से भले ही पशु योनि में हों, अन्तस्तत्त्व के विकास की दृष्टि से वस्तुतः देव हैं और जो सम्यग्दर्शन से शून्य है, वे शरीर से देव होते हुए भी अंदर से पशुतुल्य हैं। वस्तुतः शरीर से पशु होने पर ही कोई पशु नहीं होता, और न देव होने पर ही कोई देव होता है। देव का अर्थ दिव्यदृष्टिसम्पन्न है। यह दिव्यता सच्चे माने में तो आध्यात्मिक वैभव ही है, जो पशु को भी देवत्व के रूप में पूज्यता प्रदान करती है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शनादि धर्म के फल के सन्दर्भ में कहा है—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥[2]

सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से श्वान भी स्वर्गलोक में देवरूप से उत्पन्न हो जाता है, इसके विपरीत मिथ्यात्वादि पाप के प्रभाव से स्वर्गलोक का महान् ऋद्धिधारी देव भी तिर्यंचगति में श्वान के रूप में उत्पन्न होता है। अतः निश्चित ही प्राणियों को सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से अनिर्वचनीय अहमिन्द्र आदि की सम्पदा ही नहीं, अविनाशी मुक्तिसम्पदा तक प्राप्त हो जाती है; किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में दूसरे देवलोक तक का देव वहाँ से च्यवकर एकेन्द्रिय स्थावरयोनि में उत्पन्न होता है, तथा बारहवें देवलोक तक का देव मिथ्यात्व के प्रभाव से तिर्यंच पंचेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होता है। प्रमाण के लिए देखिये प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के ये श्लोक—

सम्यक्त्वेन विना स्वर्गात् स्थावरेषु प्रजायते ।
आर्तध्यानं विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद् भोगतत्परः ॥
सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशयः ।
धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥[3]

सम्यग्दर्शन के बिना भोगों में तत्पर रहने वाला स्वर्ग का देव भी आर्तध्यान में लीन होकर स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों में उत्पन्न होता है। निःसन्देह, सम्यग्दर्शन के बिना यह प्राणी पशु ही है; क्योंकि जिस प्रकार

---

१ अन्तर्नाद (उपाध्याय अमर मुनि रचित) श्री अमरभारती, दिसम्बर १९७२, पृष्ठ १।

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, श्लोक २९।

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना पशवोऽपि सुरा मता ।
सम्यग्दर्शनहीनास्ते पशवो हि सुरा अपि ॥[1]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन मे सम्पन्न हैं, वे शरीर से भले ही पशु योनि में हों, अन्तस्तत्त्व के विकास की दृष्टि से वस्तुतः देव हैं और जो सम्यग्दर्शन से शून्य हैं, वे शरीर मे देव होते हुए भी अंदर से पशुतुल्य हैं। वस्तुतः शरीर से पशु होने पर ही कोई पशु नहीं होता, और न देव होने पर ही कोई देव होता है। देव का अर्थ दिव्यदृष्टिसम्पन्न है। वह दिव्यता सच्चे माने में तो आध्यात्मिक वैभव ही है, जो पशु को भी देवत्व के रूप में पूज्यता प्रदान करती है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शनादि धर्म के फल के सन्दर्भ में कहा है—

श्वाऽपि देवो पि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥[2]

सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से श्वान भी स्वर्गलोक के देवरूप में उत्पन्न हो जाता है, इसके विपरीत मिथ्यात्वादि पाप के प्रभाव से स्वर्गलोक का महान् ऋद्धिधारी देव भी तिर्यंचगति में श्वान के रूप में उत्पन्न होता है। अतः निश्चित ही प्राणियों को सम्यग्दर्शनादि धर्म के प्रभाव से अनिर्वचनीय अहमिन्द्र आदि की सम्पदा ही नहीं, अविनाशी मुक्तिसम्पदा तक प्राप्त हो जाती है; किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में दूसरे देवलोक तक का देव वहाँ से च्यवकर एकेन्द्रिय स्थावरयोनि में उत्पन्न होता है, तथा बारहवें देवलोक तक का देव मिथ्यात्व के प्रभाव मे तिर्यंच पंचेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होता है। प्रमाण के लिए देखिये प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के ये श्लोक -

सम्यक्त्वेन विना स्वर्गात् स्थावरेषु प्रजायते ।
आर्त्तध्यानं विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद् भोगतत्परः ॥
सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशयः ।
धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥[3]

सम्यग्दर्शन के बिना भोगों में तत्पर रहने वाला स्वर्ग का देव भी आर्त्तध्यान मे लीन होकर स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों मे उत्पन्न होता है। निःसन्देह, सम्यग्दर्शन के विना यह प्राणी पशु ही है ; क्योंकि जिस प्रकार

---

१ अन्तर्नाद (उपाध्याय अमर मुनि रचित) श्री अमरभारती, दिसम्बर १९७२, पृष्ठ १।
२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, श्लोक २९।
३. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११।४६, ४९

मान्ध व्यक्ति सूर्य को नही जान सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित
णी भी धर्म-अधर्म को नही जान सकता।

कोई कह सकता है कि सम्यग्दृष्टि जीव नरक और तिर्यंचगति आदि
उत्पन्न नही होता, जैसा कि गुणभूषणश्रावकाचार में कहा है—

एकमेव हि सम्यक्त्वं यस्य ज्ञानं गुणोज्ज्वलम् ।
षट्पातालस्त्रियादेवस्त्रिपूर्वाति विलुम्पति ॥[1]

एकमात्र गुणों से उज्ज्वल सम्यग्दर्शन एक ही बार जिसे प्राप्त हो
या, उसके प्रभाव से वह जीव ६ नरकों में नहीं जाता, भवनपति, व्यन्तर
और ज्योतिष्क देवों में, तिर्यंच में तथा स्त्रीपर्याय में उत्पन्न नहीं होता। ऐसी
स्थिति में मगधराज श्रेणिक तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि था, फिर भी वह नरक
में क्यों गया ? नन्दन मणिहार श्रावक होते हुए भी मरकर मेंढक क्यों बना ?
तथा भगवती मल्ली तीर्थंकर स्त्रीपर्याय में क्यों उत्पन्न हुए ? इसका उत्तर
हम आवश्यक निर्युक्ति की एक ही गाथा के द्वारा दे रहे हैं :—

सम्मदिट्ठी जीवो गच्छइ नियम विमाणवासिसु ।
जइ न विगय सम्मत्तो, अह नवि बद्धाउयपुव्वं व ॥[2]

सम्यग्दृष्टि जीव नियमतः वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है, बशर्ते
यदि उसका सम्यक्त्व चला न गया हो या उसने सम्यक्त्व त्याग न किया
हो, अथवा सम्यक्त्व प्राप्ति से पहले से ही उसके आयुष्य का बन्ध न हो
गया हो।

उपर्युक्त तीनों में से मगध सम्राट श्रेणिक ने पहले ही नरक का
आयुष्य बांध लिया था, नन्दन मणिहार ने श्रावकव्रती होते हुए भी पौषध-
व्रत में अपनी बनाई हुई बावडी आदि पर आसक्ति की थी, तथा सम्यक्त्व
का भंग कर दिया था, इसी कारण वह मरकर दर्दुर बना, किन्तु दर्दुर-
भव में उसे जातिस्मरण ज्ञान होने से अपने पूर्वजन्म के अशुद्ध जीवन का
बोध हुआ, उसने शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण करके पुनः व्रत ग्रहण किये, भगवान
महावीर के दर्शनार्थ भक्तिभावपूर्वक जा रहा था, रास्ते में ही श्रेणिक
राजा के घोड़ों की टाप से कुचलकर मर गया, शुभभावों में मृत्यु होने
से वह मेंढक स्वर्गलोक का देव बना। भगवती मल्ली ने अपने पूर्वभव

१. गुणभूषण श्रावकाचार, उद्देश० १।६६
२. आवश्यक निर्युक्ति।

में अपने साथी मित्रों के साथ तपश्चरण करने में थोड़ा-सा माया-सेवन कर लिया था, उसके कारण उन्होंने स्त्री पर्याय का बन्ध किया, इसी कारण तीर्थंकरत्व प्राप्त होने पर भी वे स्त्रीपर्याय में उत्पन्न हुए।[1]

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चाण्डाल में भी देवत्व एवं भगवत्त्व

जैनधर्म पतित से पतित, भ्रष्ट से भ्रष्ट और दीन-हीन-तुच्छ एवं नीच जाति के गिने जाने वाले प्राणी की आत्मा में भी पवित्र परमात्म-ज्योति (शुद्ध आत्मज्योति) के दर्शन करता है। निश्चयदृष्टि के अनुसार एक दीन, हीन, पतित और तुच्छ मनुष्य अपने मूल रूप में विशुद्ध है। एक भी आत्मा ऐसा नहीं है, जो अपने पुरुषार्थ के बल पर अपना आध्यात्मिक विकास करके सम्यग्दर्शन के प्रभाव से महान् न बन सकता हो। एक चाण्डाल की आत्मा और एक ब्राह्मण की आत्मा में अध्यात्मदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है :—

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥[1]

तत्त्वज्ञ विद्वान् विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के प्रति समदर्शी होते हैं।

आत्मस्वरूप की दृष्टि से तो विश्व की समस्त आत्माएँ एक सरीखी हैं, किन्तु जो आत्मा मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह के बन्धनों को तोड़ देता है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, और जो अभी तक मिथ्यात्व, मोह, अज्ञानादि के प्रसुप्त भाव में पड़ा है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह अधोमुखी हो जाता है।

भूला-भटका व पतित व्यक्ति भी शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाने पर विश्ववंद्य महान् वीतराग भगवान् और पूज्य बन जाता है। आचार्य समन्तभद्र की सुधासिक्त वाणी भी गूंज उठी—

> सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंग देहजम्।
> देवादेवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम् ॥[3]

जन्मान्ध व्यक्ति सूर्य को नहीं जान सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित प्राणी भी धर्म-अधर्म को नहीं जान सकता।

कोई यह कह सकता है कि सम्यग्दृष्टि जीव नरक और तिर्यञ्चगति आदि में उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि गुणभूषणश्रावकाचार में कहा है—

> एकमेव हि सम्यक्त्वं यस्य जातं गुणोज्ज्वलम्।
> षड्पातालत्रिधादेवस्त्रिनृभ्यांसि विमुञ्चति ॥[1]

एकमात्र गुणों से उज्ज्वल सम्यग्दर्शन एक ही बार जिसे प्राप्त हो गया, उसके प्रभाव से वह जीव ६ नरकों में नहीं जाता, भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में, तिर्यञ्च में तथा स्त्रीपर्याय में उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में मगधराज श्रेणिक तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि था, फिर भी वह नरक में क्यों गया? नन्दन मणिहार श्रावक होते हुए भी मरकर मेंढक क्यों बना? तथा भगवती मल्ली तीर्थंकर स्त्रीपर्याय में क्यों उत्पन्न हुए? इसका उत्तर हम आवश्यक निर्युक्ति की एक ही गाथा के द्वारा दे रहे हैं :—

> सम्मद्दिट्ठी जीवो गच्छइ नियमं विमाणवासिसु।
> जइ न विगय सम्मत्तो, अह नवि बद्धाउयपुव्वं च ॥[2]

सम्यग्दृष्टि जीव नियमतः वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है, बशर्ते यदि उसका सम्यक्त्व चला न गया हो या उसने सम्यक्त्व त्याग न किया हो, अथवा सम्यक्त्व प्राप्ति से पहले से ही उसके आयुष्य का बन्ध न हो गया हो।

उपर्युक्त तीनों में से मगध सम्राट श्रेणिक ने पहले ही नरक का आयुष्य बांध लिया था, नन्दन मणिहार ने श्रावकव्रती होते हुए भी पौषध-व्रत में अपनी बनाई हुई बावड़ी आदि पर आसक्ति की थी, तथा सम्यक्त्व का भंग कर दिया था, इसी कारण वह मरकर दर्दुर बना, किन्तु दर्दुर-भव में उसे जातिस्मरण ज्ञान होने से अपने पूर्वजन्म के अशुद्ध जीवन का बोध हुआ, उसने शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण करके पुनः व्रत ग्रहण किये, भगवान् महावीर के दर्शनार्थ भक्तिभावपूर्वक जा रहा था, रास्ते में ही श्रेणिक राजा के घोड़ों की टाप से कुचलकर मर गया, शुभभावों से मृत्यु होने से वह मेंढक स्वर्गलोक का देव बना। भगवती मल्ली ने अपने पूर्वभव

---

१. गुणभूषण श्रावकाचार, उद्दे० १।६६
२. आवश्यक निर्युक्ति।

में अपने साथी मित्रों के साथ तपश्चरण करने में थोड़ा-सा माया-सेवन कर लिया था, उसके कारण उन्होंने स्त्री पर्याय का बन्ध किया, इसी कारण तीर्थंकरत्व प्राप्त होने पर भी वे स्त्रीपर्याय में उत्पन्न हुए।[1]

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चाण्डाल में भी देवत्व एवं भगवत्त्व

जैनधर्म पतित से पतित, भ्रष्ट से भ्रष्ट और दीन-हीन-तुच्छ एवं नीच जाति के गिने जाने वाले प्राणी की आत्मा में भी पवित्र परमात्म-ज्योति (शुद्ध आत्मज्योति) के दर्शन करता है। निश्चयदृष्टि के अनुसार एक दीन, हीन, पतित और तुच्छ मनुष्य अपने मूल रूप में विशुद्ध है। एक भी आत्मा ऐसा नहीं है, जो अपने पुरुषार्थ के बल पर अपना आध्यात्मिक विकास करके सम्यग्दर्शन के प्रभाव से महान् न बन सकता हो। एक चाण्डाल की आत्मा और एक ब्राह्मण की आत्मा में अध्यात्मदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है :—

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥[2]

तत्त्वज्ञ विद्वान् विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के प्रति समदर्शी होते हैं।

आत्मस्वरूप की दृष्टि से तो विश्व की समस्त आत्माएँ एक सरीखी हैं, किन्तु जो आत्मा मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह के बन्धनों को तोड़ देता है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, और जो अभी तक मिथ्यात्व, मोह, अज्ञानादि के प्रसुप्त भाव में पड़ा है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह अधोमुखी हो जाता है।

भूला-भटका व पतित व्यक्ति भी शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाने पर विश्ववंद्य महान् वीतराग भगवान् और पूज्य बन जाता है। आचार्य समन्तभद्र की सुधासिक्त वाणी भी गूँज उठी—

> सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातङ्ग देहजम्।
> देवादेवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम् ॥[3]

---

१ ज्ञाताधर्मकथांग

२ भगवद्गीता, अ० ५, श्लोक १८।

३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार १।२८.

चाण्डाल के शरीर से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसम्पन्न चाण्डाल को भी तीर्थंकर, गणधर आदि पात्र देव देव कहते है। जैसे राख से दबे हुए अंगारे के अंदर तेज (अग्नि का तेज) छिपा हुआ होता है, वैसे ही उस चाण्डाल के शरीर में भी शुद्ध आत्मा का तेज छिपा रहता है।

हड्डी, मास, चर्म, रक्त आदि से निर्मित देह, भले ही चाण्डाल से उत्पन्न हुआ हो, किन्तु उस देह में विराजमान जिसका आत्मा सम्यग्दर्शन आदि दिव्य गुणों से सुशोभित है, उस मनुष्य शरीरधारी चाण्डाल को भी सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के प्रभाव से देव कहा गया है। इसी कारण जो लोग एक दिन उसे देखना भी पसंद न करते थे, उसकी देह की छाया से दूर रहते थे, वे ही लोग सम्यक्त्वादि रत्नत्रय एवं तप से सुशोभित हरिकेश मुनि का भक्तिभावपूर्वक दर्शन करके और उनका आदर करके प्रसन्न होने लगे। हरिकेश मुनि का देह भले ही काला-कलूट, दुर्गंध युक्त, अपवित्र एवं मलिन था, लेकिन उनकी आत्मा सम्यग्दर्शनादि तथा तपस्या के गुणो से इन्द्रपूज्य देववंद्य, दर्शनीय एवं नमस्करणीय बन गया। देवो ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—

सक्खं खु दीसई तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेसकोऽवि।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा॥[1]

(हरिकेशी मुनि में) साक्षात् तप की विशेषता (महिमा) दिखाई दे रही है, जाति की कोई विशेषता नही दीखती। जिसकी ऐसी महान् चमत्कारी ऋद्धि है, वह हरिकेशमुनि श्वपाकपुत्र—चाण्डाल का पुत्र है।

इसी कारण प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे स्पष्ट कहा गया है—

सम्यक्त्वालङ्कृतः पूज्यो मातंगो पि सुरैर्भवेत्।
सम्यक्त्वेन विना साधुर्निन्दनीयः पदे पदे॥[2]

इस सम्यग्दर्शन से सुशोभित चाण्डाल भी देवों के द्वारा पूजनीय हो जाता है, जबकि सम्यग्दर्शन से रहित साधु भी स्थान-स्थान पर निन्दनीय माना जाता है।

आराधना कथाकोष[3] में यमपाल चाण्डाल की कथा आती है। यमपाल चाण्डाल ने सर्वोषधि मुनि के दर्शन करके सम्यग्दर्शन पाया, आत्मस्वरू

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र अ० १२।३७
२ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार परि० ११।५२.
३. आराधना कथाकोष, खंड १, कथा २८,

का बोध पाया और चतुर्दशी के दिन जीवहिंसा न करने का नियम लिया। कसौटी हुई। राजा पाकशासन ने धर्म नामक हिंसक पापी श्रेष्ठी को अपराध के फलस्वरूप चौदस के दिन शूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया। किन्तु चतुर्दशी होने के कारण यमपाल ने उस दिन वध्य व्यक्ति को शूली पर चढ़ाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। फलतः राजा ने कुपित होकर धर्म-नामक हिंसक तथा यमपाल चाण्डाल दोनों को क्रूर जलजंतुओं से भरे ह्रद में डाल देने का आदेश दे दिया। अत. दोनों को उस ह्रद में डाल दिया गया। पापी धर्म नामक श्रेष्ठिपुत्र को तो तत्काल मगरमच्छ निगल गया, किन्तु सम्यग्दृष्टि एवं व्रतरक्षण-तत्पर यमपाल चाण्डाल को देवों ने दर्शन-व्रत पर उसकी दृढ़ता देखकर सिंहासन पर बिठाया, फिर शुभ जल से अभिषेक करके नाना रत्न-स्वर्णादि से भक्तिपूर्वक पूजा की, दिव्य वस्त्रादि से सत्कार किया। हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। इसीलिए वहाँ कहा गया है :—

मातङ्गो यमपालकोः गुणरतैर्देवादिभि. पूजित[1]

वस्तुत. यह सब आत्मा के दिव्य गुण सम्यग्दर्शन का ही चमत्कार है, जिस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यमपाल अपने व्रत पर दृढ़ रहा, और गुण-ग्राही देवों आदि ने उसका अभिनन्दन किया।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पापी भी धर्मात्मा

सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्ध दशा की ओर मानव का लक्ष्य स्थिर करता है। वह एक ऐसी पारदर्शी निश्चयदृष्टि दे देता है, जिससे आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप और परमात्मस्वरूप को जान-देख पाता है। सम्यग्दर्शन के स्पर्श से प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास हो जाता है कि भले ही मैं आज पापमय बद्ध दशा में हूँ, लेकिन एक दिन मैं मुक्त दशा को भी प्राप्त कर सकता हूँ। आवश्यकता है, आत्मा में सुषुप्त अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति की। वह अनन्त शक्ति कहीं से प्राप्त या उत्पन्न नहीं करनी है, वह तो मौजूद पड़ी है, बस उसे प्रकट करने की जरूरत है।

राजप्रश्नीय सूत्र में राजा प्रदेशी की जीवनगाथा वर्णित है। उसे पढ़-सुनकर आश्चर्य होता है कि एक समय का रौद्र प्रदेशी राजा एकदम सौम्य कैसे हो गया? एक दिन वह था जब प्रदेशी राजा हाथ में तलवार लेकर निर्दयता से प्राणियों को मारने पर टूट पड़ता था, वह इतना जोर से प्रहार

१. आराधना कथाकोष, खण्ड १, कथा २४, श्लोक ३१।

करता था कि कुहनी तक दोनो हाथ खून से रंग जाते थे। पशुओं और मनुष्यों के कर्णभेदी चीत्कार सुनकर भी उसके मन में कभी दयाभाव का संचार नही हुआ। क्योंकि दया और करुणा क्या है ? इसे उसने स्वप्न मे भी समझने का प्रयास नही किया। इस प्रकार उसने अपने पूर्वजीवन मे अगणित पशुपक्षियों और मनुष्यो का संहार किया।

केशीकुमार श्रमण की संगति में राजा प्रदेशी के जीवन का नया अध्याय शुरू होता है। गुरुवर केशीकुमार श्रमण के सान्निध्य से प्रदेशी के जीवन मे आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। क्रूरता और निर्दयता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ राजा प्रदेशी दया और करुणा के रंग मे इतना आप्लावित हो गया था कि स्वयं उसकी रानी सूर्यकान्ता ने भोजन में जहर दे दिया, उसका पता भी राजा को चल गया, फिर भी वह शान्त, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहा। क्या सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुए बिना—अर्थात्—आत्मस्वरूप की उपलब्धि हुए बिना आत्मा मे इतनी शान्ति, समता और प्रसन्नता रह सकती थी ? राजा प्रदेशी के चेहरे पर क्रोध और द्वेष की एक सूक्ष्मरेखा भी नही उभरी और न ही प्रतिशोध और प्रतीकार की क्रूर भावना उभरी। कहना होगा कि राजा प्रदेशी की मोहमुग्ध आत्मा जो पहले सुषुप्त थी, केशीकुमार श्रमण से सम्यग्दर्शन का जागरण-उद्घोष सुनकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो गई। वह स्थूलदृष्टि जनता की आँखों मे पापी से धर्मात्मा, पतित से पावन दिखाई देने लगा।[1]

यह सब चमत्कार सम्यग्दर्शन का है, जिसके कारण मोहमाया के प्रगाढ़ अन्धकार में भटकता हुआ पापात्मा भी धर्मात्मा बन जाता है, सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्बोध पाकर उसका पूर्व-पापमय जीवन एकदम बदल जाता है।

राजगृह निवासी हत्यारे अर्जुनमाली का भी सम्यग्दृष्टि से ही परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि सम्यग्दर्शन की थोड़ी सी झाँकी तो उसे सुदर्शन श्रमणोपासक के निमित्त से हुई, लेकिन उसके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आया, भगवान् महावीर से बोध पाकर। भगवान् महावीर ने उसे सम्यग्दृष्टि की वह चमत्कारिक दे दी जिससे उसमें जो हीन भावना भरी हुई थी, वह काफूर हो गई। आत्मा में स्थित विशुद्ध एवं अनन्त शक्तिमान् आत्मा की चमत्कारिता के अस्तित्व पर उसे दृढ़ विश्वास हो गया

1 रायपसेणिय सूत्र।

और एक दिन उसी दृढ़ आत्मविश्वासमयी सम्यग्दृष्टि के प्रभाव से उसके समस्त प्राचीन कर्म क्षीणप्राय हो चुके, नये कर्म आने से रुक गए, क्योंकि कर्मबन्ध के कारणभूत—राग-द्वेष को उसने सर्वथा छोड़ दिया।[1] चारित्रपाहुड में सम्यग्दृष्टि की विशेषता का वर्णन करते हुए कहा है :—

> सखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ताणं।
> समत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥[2]

सम्यग्दर्शन का आचरण करने वाले धीर पुरुष, संख्यात व असंख्यात-गुणी कर्मनिर्जरा करते है, तथा संसारी जीवो की मर्यादा रूप जो समस्त दुःख हैं, उनका भी नाश कर देते हैं।

कोई कह सकता है—ज्ञान और चारित्र भी तो कर्मक्षय के कारण थे, बेशक थे, किन्तु ज्ञान, चारित्र तथा तप सम्यग्दर्शन के बिना कृतकार्य नहीं हो सकते थे। सम्यग्दर्शन के अभाव में वे मोक्ष-साधक न होकर स्वर्गादि-साधक होते, रागादि के कारण पुण्यबन्ध के हेतु होते, कर्मक्षय के हेतु नही। अर्जुन मालाकार के जीवन-परिवर्तन में मुख्य प्रभाव सम्यग्दर्शन का देखा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भयंकर दोष नहीं टिकता

दूसरी बात यह भी है कि जब सम्यग्दर्शन जीवन में आ जाता है तो हिंसा आदि कोई भी निन्दनीय भयंकर दोष उस व्यक्ति में टिक नही पाता। अमितगति श्रावकाचार में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है :—

> न भीषणो दोषगणः सुदर्शने, विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते।
> भुजंगमानां निवहोऽवतिष्ठते, कदा निवासेऽध्युषिते गरुत्मता ॥[3]

सम्यग्दर्शन होने पर उस व्यक्ति में भयानक निन्दनीय दोष अड्डा जमाकर नही रह सकते। भला गरुड से युक्त स्थान से सर्पों का दल कब तक टिका रह सकता है?

जैनदर्शन कहता है—एक आत्मा अपनी अज्ञानदशा या मोहावस्था में चाहे जितनी भयंकर भूलें कर ले, परन्तु सम्यग्दर्शन का जब प्रकाश आता तो उसकी आत्मा का समग्र अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को आत्मविश्वास का प्रकाश मिल जाता है, जिससे उसके मन में छाई हुई

---

१. अन्तकृद्दशांगसूत्र
२. चारित्रपाहुड २०
३. अमितगति श्रावकाचार परि० २।७१-

सबकी आधारभूमि चैतन्य दृष्टि है। धर्माचरण के जितने भी रूप हैं, वे सब चैतन्य आधार पर खड़े हैं।

चतुर्थ गुणस्थान, जो सम्यग्दर्शन की प्रथम भूमिका है, क्या उसके प्राप्त हुए बिना पचम गुणस्थान आ सकता है? इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक सम्यक्त्व के द्वारा सत्य-असत्य, हेय-उपादेय, हिताहित का विवेक जागृत नही होता, तब तक अहिसा, सत्य और ब्रह्मचर्य की साधना नही हो सकती।

बन्धन और मोक्ष का प्रश्न भी आत्मा (चैतन्य) से जुडा हुआ है। शरीर तो जड़ है, एक दिन पैदा होता है, बढता है, जीर्ण होता है, मिट जाता है। आज अधिक से अधिक सौ वर्ष विशेष का प्राय. शरीर का अस्तित्व है, उसके आधार पर साधना की इतनी बडी बात टिकी नही रह सकती। मरणधर्मा तन के सहारे अमर-अविनाशी आत्मतत्त्व की विचार-धारा नही चल सकती। विनश्वर शरीर के साथ न बन्धन का प्रश्न है, न मुक्ति का। शरीर से छुटकारा (मुक्ति) तो शरीर समाप्त होते ही हो जाता है। मुक्ति तो उसकी चाहिए, जो मृत्यु के बाद भी इस देह से छूटकर दूसरे किसी देह के बन्धन में है। उसे ही बन्धन से मुक्त करना है।

साधना और सिद्धि का सारा चिन्तन उसी चैतन्य आत्मतत्त्व पर प्रतिष्ठित है। यदि उस चैतन्य—आत्मा नामक शाश्वत तत्त्व पर विश्वास नही है तो व्यक्ति का स्वार्थत्याग, वासनाविजय, कषायविजय, संयम, मनो-निग्रह आदि किस भरोसे या विश्वास पर होगा? व्यक्ति के सामने साधना का उद्देश्य होगा, तभी तो वह आगे चलेगा।

सम्यग्दर्शन सर्वप्रथम आत्मा के महत्त्व और विश्वास तथा उसकी प्रतिष्ठा को व्यक्ति के मन-वाणी-कार्य में जमाता है। इसका मतलब यह नही है कि शरीर की कोई आवश्यकता नही, इन्द्रियो की कोई परवाह मत करो, शरीर और इन्द्रियो को सुखा डालो, जला डालो, काट डालो। साधक की लडाई शरीर, इन्द्रियो आदि से नही है, उसकी लड़ाई काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि विकारों से है। आत्मा को इन विकारों से लडने के लिए शरीर, इन्द्रिय आदि की आवश्यकता रहेगी। अकेली आत्मा विकारो से कैसे लड़ेगी? अत: शरीर, इन्द्रियाँ आदि आत्मा के सहायक साधनो की हिफाजत रखना, सार सँभाल करना, स्वच्छ रखना, सशक्त और स्वस्थ रखना परम आवश्यक है। परन्तु शरीर, इन्द्रिय आदि को पूजा करना, उनके प्रति अत्यन्त आसक्ति रखना, उनसे प्राप्त विषयों में रागद्वेष करना ठीक नहीं

है। यथोचित मर्यादा में ही पालन-पोषण करना, स्वस्थ रखना तो उचित है, पर शरीर को ही सर्वस्व मान बैठना, रात-दिन उसी की सेवा में संलग्न रहना, उसी के गुलाम बन जाना ठीक नहीं। शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब आत्मा के सेवक हैं, आत्मा इनका स्वामी है। शरीर के लिए अपने को अर्पण कर देने की आवश्यकता नहीं। शरीरादि सेवकों को आत्मा अपनी इच्छानुसार चला सके, इसके लिए आत्मा की प्रभुता जगाने की जरूरत है। अपने भीतर सोये हुए आत्मा-प्रभु-स्वामी को जगाना है, जैसा कि जैन दिवाकर गुरुदेव ने 'मुक्ति पथ' में कहा है—

> घट के पट में भगवान बसे, पर मोह कपाट लगाया है।
> गुरु बोध से जिसने खोल लिया, उसने शुभ दर्शन पाया है॥

उस मन्दिर का द्वार अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के कपाटों से बन्द है, उन्हें खोलना है। शरीर के भीतर जो चैतन्य की अखण्ड ज्योति के दर्शन करने है। वे कैसे होंगे ? सम्यग्दर्शन से ही।

एक व्यक्ति धर्मात्मा है, दूसरा पापी है, एक मनुष्य है, दूसरा पशु है, एक काला है, दूसरा गोरा है, सम्यग्दृष्टि इनमें भेद नहीं करता, व (निश्चयनय की पारदर्शी दृष्टि से)—आत्मतत्त्व की दृष्टि से ही देखता है। आत्मा को विभाजित करने वाला कोई भी तत्त्व संसार में नहीं है। किसी भी देह में, किसी भी लिंग, रंग और योनि में आत्मा अपने अखण्ड रूप विराजमान है। जो ज्योति धर्मी में है, वही उसे पापी में दिखाई देगी। व शरीर को आत्मा के साथ जोड़कर नापतोल नहीं करता। हाड़-माँस पुतले शरीर के माध्यम से अन्तर् में स्थित आत्मा का नापतोल नहीं किया जा सकता। यदि प्रकाश पूर्व में होता है तो पश्चिम में अन्धेरा छा जाता इसी प्रकार जो आत्मा आज अन्धकार में चल रहा है, वही कल प्रकाश चल सकता है। जो आज दुष्ट है, वह कल शिष्ट एवं सदाचारी बन सकता है। जो आज पाप में डूबा है, वही कल धर्मात्मा बन सकता है। इसलि सम्यग्दृष्टि किसी भी व्यक्ति के शरीरादि ऊपरी खोले को न देखकर भीत में विराजमान उसके सुषुप्त आत्मा को देखता है। वह बाहरी आकार-प्रका में नहीं उलझता। वह मूल को देखता है। उसकी सूक्ष्मदृष्टि बाह्य आवर को चीरकर उस मूलतत्त्व को पकड़ती है, जिसका विस्तार बाहर साधारण जन को सम्मोहित किये रहता है। वह सोचता है—इस चैतन्य जब तक सोया है, तब तक अन्धकार है, चैतन्य के जागते ही आत्म में प्रकाश ही प्रकाश जगमगा उठेगा।

आर्द्रककुमार, चण्डकौशिक, नन्दीषेण, अर्जुन, मेघकुमार आदि अनेकों व्यक्ति ऐसे थे, जो प्रकाश में आकर पुन मोहकर्मोदयवश अन्धकार में चले गये, परन्तु भगवान महावीर ने उन्हें घृणा से ठुकराया नही, उन्हे प्रतिबोध देकर उनकी सोई हुई आत्मा को जगाया, और पुनः वही आत्म-स्वरूप की—चैतन्य दृष्टि की ज्योति उनमें जगमगा उठी। सम्यग्दृष्टि भी इसी प्रकार किसी के पतित, भ्रष्ट, पापी और दुराचारी हो जाने पर भी उससे घृणा नही करता, न यह विश्वास खोता है कि जो पतित, भ्रष्ट एव पापासक्त हो गया, वह पुन सुधर ही नही सकता, उसकी आत्मा में प्रकाश जगमगा ही नही सकता।

सम्यग्दृष्टि किसी की भूल को पकड़कर नही बैठता, न किसी को घृणा की दृष्टि से देखता है, क्योकि उसे आत्मा के विकास मे, चेतना की निर्मलता में दृढ विश्वास है। किसी आत्मा को पतित, पापी, भ्रष्ट या दुराचारी मानकर घृणा करने का अर्थ है—आत्मा की पवित्रता का अपमान तथा जीवन में पवित्रता और उन्नति के द्वार वन्द कर देना।

सम्यग्दृष्टि की यह दृढ मान्यता होती है कि किसी व्यक्ति को पतित और नीच कहकर उसे आगे बढने का अधिकार न देना, उस व्यक्ति का नही, उसकी आत्मा का अपमान है, परमात्मा के समान अन्त.स्थित शुद्ध आत्मा की उपेक्षा है। शरीर को लेकर पवित्रता और श्रेष्ठता के ये विकल्प बुद्धि के दोष हैं। देह के भीतर जो देहातीत चैतन्य है, वही सर्वोपरि है। आत्मा को न कोई जाति है, न लिंग है, न रग-रूप है।[1] वह एक अखण्ड चैतन्य है। दृष्टि विपरीत और भेदलक्षी होने के कारण ही आज धर्म, जाति वर्ण, प्रान्त, भाषा आदि के विकल्प भेदों को लेकर आये दिन झगडे, सघर्ष और द्वन्द्व होते हैं। समता, वन्धुता, मैत्री और आत्मौपम्य के पवित्र सिद्धान्तो को विद्वेष की आग लगाकर भस्म कर दिया जाता है।

निष्कर्ष यह है कि धर्म की नीव आत्मा की दृढ़ प्रतिष्ठा है, सम्यग्दर्शन की उपलब्धि से। जहाँ चैतन्य की अनुभूति हो जाती है, अविनाशी आत्मा के प्रति दृढ श्रद्धा जम जाती है वहाँ अहिंसा, करुणा, दया आदि के विचार स्फुरित होते हैं। दूसरों के कष्ट एव पीड़ा को देखकर जब हृदय में अनुकम्पन होता है, तब वह उस संकटापन्न व्यक्ति में शुद्ध चैतन्य के अस्तित्व का अनुभव करता है। प्रत्येक प्राणी में अखण्ड चैतन्य की सत्ता अनुभव करना ही तो धर्म की आत्मा है। धर्म सम्यग्दर्शन की ज्योति प्राप्त होने पर ही

१. आचारांग सूत्र, प्र०श्रु० अ० ५ उ० ६—न इत्थी, न पुरिसे न अन्नहा –

होता है। जीवन में धर्म को तभी उतारा एवं टिकाया जा सकेगा, जब आत्मा की अटल प्रतिष्ठा होगी।

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि, इनमें से द्रव्यदृष्टि मूलभूत दृष्टि है, पर्यायदृष्टि व्यवहार-सापेक्ष दृष्टि है। एक स्थिरतामूलक है, दूसरी परिवर्तनप्रधान। द्रव्यदृष्टि में एकत्व के, मूल रूप में दर्शन होते हैं, पर्यायदृष्टि में विभिन्नताओं के। भगवान महावीर ने 'एगे आया' आत्मा एक है—कहकर 'चैतन्य अपने मूल स्वरूप में एक है—समान है' इस उद्घोष द्वारा चेतन-चेतन के बीच में भेद खड़ा करने वाले विचारों की जड़ हिला दी। वस्तुतः देखा जाए तो चैतन्य के जो विविध भेद दिखाई दे रहे हैं, वे औदयिक भाव हैं, कर्मों के उदय से निष्पन्न होते हैं। इसलिए ये विभिन्न भेद या प्रकार 'स्व' नहीं हैं, मौलिक नहीं हैं, वे औपाधिक हैं। परन्तु जगत् में दृश्यमान विभिन्नताओं को सर्वथा मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। भगवान् महावीर के सिद्धान्त के अनुसार चैतन्य के साथ परिलक्षित होने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन, क्रोध-मानादि कषाय, लोभ, सुख-दुःख, रंग-रूप जाति आदि सिर्फ औदयिक सत्य हैं, चैतन्य सत्य नहीं। न ये चैतन्य के मूल धर्म हैं। ये औपचारिक सत्य हैं, अस्थायी हैं। प्राणियों की विभिन्न मनोवृत्तियों के अनुसार उनके कर्म, चिन्तन प्रणाली, कर्मों की विचित्र परिणति आदि भी विभिन्न होती हैं। इसलिए जगत् के प्राणियों में ये विभिन्नताएँ अनिवार्य होते हुए भी ये सब चैतन्य का मूल स्वभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि चैतन्य के इसी मूल स्वभाव को पकड़ता है, जो त्रि-ध्रुव सत्य है। उसकी दृष्टि ऊपरी पर्तों को भेदकर भीतर गहरी चली जाती है। उसे एक अखण्ड चैतन्य के दर्शन होते हैं। वह एक शुद्ध निर्मल आत्मतत्त्व को सब प्राणियों में समान रूप से झलकता हुआ देखता है। भगवान महावीर ने भी विभिन्न भेदों में अभेदरूप से प्रतीत होने वाले इस अखण्ड चैतन्य को लक्ष्य करके कहा था—'एगे आया'—आत्मतत्त्व सब में एक है, सुख-दुःख की अनुभूति प्रत्येक आत्मा में समान है, ज्ञान-दर्शन की निर्मल ज्योति भी प्रत्येक आत्मा में समान है। सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से आत्मा-आत्मा में कोई भी मौलिक भेद नहीं है। पानी-पानी मूलतः एक ही है, परन्तु उनमें अमुक प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण होने से अलग-अलग रूप बन गया, इसी प्रकार आत्मा-आत्मा में मूलतः कोई भेद नहीं है, अमुक-अमुक कर्मों के उदय के कारण ही भेद है, जो आत्मा की प्रकृति नहीं, विकृति है; स्वभाव नहीं, विभाव है। काला-गोरा शरीर की चमड़ी के आधार पर है। क्या आत्मा भी

काली-गोरी होती है ? अतः सम्यग्दृष्टि बाह्य भेद के आधार पर आन्तरिक भेद को नहीं मानता।

आचारांग-सूत्र में इसे स्पष्ट किया है—"......... न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किल्ले ...... न इत्थी, न पुरिसे।"[1]

आत्मा की दृष्टि से संसार का प्रत्येक जीव समान है, समरूप है, समचैतन्य है। रंगभेद, लिंगभेद, वर्णभेद आदि सब भेद मिट्टी के हैं, आत्मा के नहीं। काले, गोरे, स्त्री-पुरुष, गृहस्थ, ये सब मूल रूप में आत्मा हैं। सम्यग्दर्शन द्वारा इस प्रकार की शुद्ध आत्मदृष्टि विकसित होने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, अन्यथा जब तक विकल्पबुद्धि या भेदबुद्धि रहेगी वहाँ तक मोक्ष नहीं हो सकेगा।

सम्यग्दर्शन से भेदविज्ञान का चिन्तन

सम्यग्दृष्टि के ज्ञाननेत्र सम्यग्दर्शन से खुल जाते हैं, और वह भेद-विज्ञान के कारण देह आदि पर-द्रव्यों तथा रागादि कर्मजनक परभावों से ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा को पृथक समझता है। स्वप्न में भी शरीरादि पर्यायों में उसकी आत्मबुद्धि नहीं होती। वह सदैव चिन्तन करता है-- 'हे आत्मन्! आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस, दो प्रकार के गन्ध, पाँच प्रकार के वर्ण, यह सब तुम्हारा स्वरूप नहीं है, पुद्गल का है, ये क्रोधादि विकार कर्मजनित हैं, ये तुम्हारे स्वरूप से भिन्न हैं।

'नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये चारों गतियाँ भी आत्मा के स्वरूप से भिन्न हैं, कर्म के उदयजनित हैं, विनाशी हैं। देव, मनुष्य आदि भी तुम्हारे रूप नहीं हैं, ये तो शरीर के निमित्त से हैं। इसके अतिरिक्त मैं काला-गोरा, राजा-रंक, बलवान-निर्बल, स्वामी-सेवक, रूपवान्-कुरूप, पुण्यवान-पापी, धनवान-निर्धन, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, स्थूल-कृश, उच्च-नीच, कुलीन-अकुलीन, पण्डित-मूर्ख, दाता-याचक, गुरु-शिष्य आदि तथा देह,इन्द्रिय, मन आदि नहीं हूँ। ये सब कर्मोदयजनित पुद्गल के विकार हैं। मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-द्रष्टा है। ये सब रूप शरीरादि को लेकर हैं, कर्म-पुद्गलजनित हैं, आत्मा के ये रूप नहीं हैं।' इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भेदविज्ञान का चिन्तन करने से आत्मदृष्टि सुदृढ़ होती है।

---

१ श्रु०१, अ०५, उ०६।

अपने में परमात्मत्व का भान : सम्यग्दर्शन से

सम्यग्दृष्टि को अपने अन्दर प्रज्वलित शुद्ध आत्मज्योति का
हो जाता है। वह शरीर, इन्द्रिय, मन तथा उसके विकल्पों के घने जंगल
बीच भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पहचान कर लेता है। शरीर, इन्
और मन के चक्र के बीच भी अपनी आत्मा को टटोलकर परमात्मतत्व
भान कर लेता है।

आत्मा अपने आप में मूलरूप में परमात्मा के समान ही है।
पक्षी, नारक, मनुष्य, देव आदि सब संज्ञाएं आत्मा की विभिन्न स्थितियों
बताती है। ये सब स्थितियाँ जड (अजीव) की नही, चेतन आत्मा की
होती है, तथापि गति, योनि, शरीर, जाति, आदि के आधार पर जीव
परिभाषाएँ या लक्षण है तो आत्मा के ही, परन्तु ये सब आत्मभूत ल
नहीं है। कर्मोदय के कारण मध्यान्तरकाल की ये अवस्थाएँ है। इसी
राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भी जीव के आत्मभूत लक्षण नही हैं। ये
सदा आत्मा के साथ स्थायी नही रहते। आत्मा के साथ सदैव स्थायी
वाले वे ही गुण है, जो परमात्मा मे पाए जाते है? अत. आत्मा में नि
परमात्म तत्त्व के गुणो को सम्यग्दृष्टि जान लेता है और विश्वासपूर्वक
ओर गति भी करता है।

सम्यग्दर्शन से आत्मविश्वास-जागरण

आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मविश्वास और अपनी आत्मशक्तियों
दृढ आस्था ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है, उसी के सहारे आगे की ज्ञान, चारित्र
आदि की साधना भलीभांति हो सकती है। आत्मविश्वास जागता
सम्यग्दर्शन से। सम्यग्दर्शन से व्यक्ति का यह पक्का विश्वास हो जा
कि मैं अनन्तशक्तिमान आत्मा हूँ। मैं शरीर, मन, इन्द्रियाँ अथवा अन्य
भौतिक अवयव नहीं हूँ क्योंकि मैं अविनाशी, अनन्तशक्तिमान, चैतन्य
हूँ और ये सब भौतिक, जड, नाशवान और ज्ञानस्वरूप नहीं हैं।
साधक को अपने आप पर भरोसा हो जाता है, अपनी शक्तियों पर
विश्वास हो जाता है वह कहीं बाहर नहीं भटकता, पुद्गलों या शरी
के स्पर्शों का इन्द्रिय-विषयों का अथवा मन कल्पित सामाजिक
प्रतिष्ठा, धन आदि भौतिक वस्तुओं का गुलाम नहीं होता। उसे अ
बाहर सदैव आत्मविश्वास को उत्तरोत्तर समझने लगती है।

जिसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता, वह लौकिक युद्ध में

जित हो जाता है, वैसे ही लोकोत्तर आध्यात्मिक युद्ध में भी पराजित हो जाता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि को जब अपनी अनन्त शक्तियों का भान और विश्वास हो जाता है, तब उसे अपने काम-क्रोधादि या रागद्वेषादि विकारों से लड़ने में और उन्हें हराने में किसी भी प्रकार की झिझक नहीं होती।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मनुष्य में सोया हुआ आत्म-विश्वास, आत्मनिष्ठा और आत्मशक्ति जागृत हो जाती है।

हनुमानजी श्रीराम के दूत बनकर लंका में पहुँचे तो राक्षसों के किसी भी शस्त्रास्त्र से पराजित नहीं हुए, लेकिन अन्त में इन्द्रजीत के नागपाश में बँध गये, जब वे रावण की राजसभा में लाये गये तो रावण ने व्यंग्य किया—"हनुमान! तुम हमारे वंश परम्परागत गुलाम होकर भी आज हम से युद्ध करने आए हो, तुम दूत बनकर आए हो, अन्यथा, तुम्हारा वध कर दिया जाता। किन्तु दूत अवध्य होता है, इसलिए तुम्हारा मुँह काला करके नगर से बाहर निकाला जाएगा।" हनुमानजी ने जब यह सुना तो उनका आत्मतेज उद्दीप्त हो उठा। सोचा—'यह अपमान हनुमान का नहीं,राम का है। मैं तो राम का दूत हूँ। भक्त में भगवान् की आत्मा बोला करती है। क्या भगवान् की शक्ति से मैं इसे तोड़ नहीं सकता ?' बस, हनुमान की ज्यों ही आत्मशक्ति जगी कि एक ही झटके में नागपाश टूट गया, वे उन्मुक्त हो कर आकाश में पहुँच गये। हनुमानजी को नागपाश की शक्ति से बढ़कर अपनी शक्ति का भान हुआ तो एक ही झटके में वह टूट गया।

इसी तरह सम्यग्दर्शन की ज्योति जिसे प्राप्त हो जाती है, उसे अपनी आत्मशक्ति पर अटूट विश्वास हो जाता है, और तब वह दुर्बलता के हाथ का खिलौना बना नहीं रहता। अपने शौर्य का भान होने पर कौन व्यक्ति किसी पराये के अधीन रह सकता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने सम्यग्दर्शन के माध्यम से अपनी आत्मशक्ति को जगाया है और आत्मविश्वास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं।

एक पुरानी लोककथा है, जिसे जैनाचार्यों ने स्वरूप बोध के सन्दर्भ में अंकित की है। एक धोबी अपने गधों को घर लौटाने के लिए खोजने लगा तो एक गधा नहीं मिला। अंधेरा हो चला था। धोबी गधे को खोजता-खोजता दूर निकल गया। वहाँ एक गहन झाड़ी के पास उसने कुछ आहट सुनी तो उसे शक हुआ कि गधा यहीं छिपा बैठा है। उसके पैर से एक

सजीव-सी वस्तु टकराई। यह था शेर का बच्चा। धोबी ने अपना गधा समझ कर गुस्से में आकर दनादन पाँच-छः लाठियाँ जमा दी। शेर का बच्चा भयभीत होकर चुपचाप उसके आगे-आगे चलने लगा। धोबी ने दूसरे गधों के साथ उसे भी साथ लिया। अब दूसरे गधों की तरह शेर के बच्चे की पीठ पर भी कपड़े के गट्ठर लाद दिये। जब वे सब एक नदी के पास से होकर गुजर रहे थे, तभी नदी के उस पार से एक बब्बर शेर ने अपनी जाति के बच्चे की यह दशा देखी तो आश्चर्य से कहा—"भैया! तुम तो शेर हो, गधा क्यों बने हो?" शेर का बच्चा काँपता हुआ बोला—"चुप रहो, वर्ना लाठियाँ पड़ेंगी। बब्बर शेर के बहुत कुछ समझाने पर उसे अपने बल और पराक्रम का भान हुआ। वह अब अपनी पूरी शक्ति से दहाड़ने लगा, तब तो सब गधे और धोबी भाग खड़े हुए। शेर का बच्चा स्वतंत्र होकर वन में चला गया। इसी प्रकार आत्मा शरीरादि के साथ रहकर अपनी शक्ति एवं स्वरूप को भूल जाता है, किन्तु जब उसे सम्यग्दर्शन के माध्यम से अपने स्वरूप और शक्ति का भान और विश्वास हो जाता है तब वह इन रागादि भावों से मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक आध्यात्मिक शिखर पर पहुँच जाता है।

गुणदर्शन की वृत्ति सम्यग्दृष्टि में

सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है—गुणदर्शन की। प्रायः साधारण मानव बाह्य आवरण और विकारों के पर्दों को देखते हैं, उनके भीतर ज्योतिर्मान सूर्य—आत्मा को नहीं देखते। सम्यग्दर्शन का यह उद्घोष है कि छाये हुए कर्मों के बादलों को मत देखो, बादलों में चमकते हुए शुद्ध स्वरूप को देखो। आत्मद्रव्य की अपेक्षा से संसारी आत्मा और सिद्ध आत्मा में कोई भेद नहीं है। व्यवहारदृष्टि से जो भेद दृष्टिगत होता है, उसका एकमात्र कारण कर्मों का आवरण है।

सम्यग्दृष्टि की विशेषता है कि वह आत्मा के ऊपरी आवरण को न देखकर उसके आन्तरिक गुणों को देखता है। सद्गुणों के प्रति सम्मान प्रकट करता है। वह निश्चयदृष्टि से आत्मा—शुद्ध आत्मा को देखता है—सद्गुण का आदर करता है।

जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ परमात्मतत्त्व (शुद्ध आत्मत्व) है—सम्यग्दृष्टि जब सद्गुणों को देखता है तब उसमें अंश से परमात्मा को देखता है। सम्यग्दृष्टि यह नहीं मानता कि सद्गुणों का विकास पुरुष

ही जगे, स्त्री में नहीं, ब्राह्मण मे ही जगे, शूद्र मे नही, अमुक व्यक्ति में ही जगे, अमुक में नही। चैतन्य का विकास सब मे सम्भव है, इसलिए सद्‌गुणो के दर्शन भी सर्वत्र हो सकते है। स्वर्ग के देवो मे भी, नारकों में भी, और तिर्यचो मे भी। यह नही कि मानव में ही उस चैतन्य की ज्योति जगमगाए, अन्यत्र नहीं। सच्चा सम्यग्दृष्टि शुद्ध आत्मा को देखता है। प्रत्येक आत्मा मे नाम-रूप से परे आत्मा का जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, उसे वह देखता है। इस दृष्टि से उसकी दृष्टि दुर्गुणो पर नही, सद्‌गुणो की ओर जाती है। मिथ्यादृष्टि स्वयं काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि मे घिरा रहता है, इसलिए उसकी दृष्टि में दूसरे के सद्‌गुण नही आते। उसमे शुद्ध आत्म-ज्योति देखने की क्षमता नही, क्षमता भी है तो तरीका नही। उसके पास दृष्टि तो है, सम्यक् नही।

सम्यग्दृष्टि बुराइयो के स्थान पर अच्छाइयों के दर्शन करता है, दुर्गुणो के बीच मे से सद्‌गुण ढूंढता है, काँटो मे मे फूल चुन लेना है, विष मे मे भी अमृत ग्रहण कर लेता है।

भगवान महावीर ने अपना अपकार करने वाले तथा चारो ओर से निन्दित-घृणित गोशालक के प्रति भी गुणदृष्टि रखी और जब बात चली तो कहा—"गौतम! तुम इसके वर्तमान बाह्य आवरण और रूप को देख रहे हो, किन्तु इसकी आत्मा को देखो, इसकी आत्मा मे भी वही शक्ति मौजूद है जो मुझ मे है। यह भी एक दिन मेरी तरह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त पद को प्राप्त करेगा। जो ज्योति मुझ मे देख रहे हो, वही ज्योति गोशालक में है, पर वह सुप्त है।"

इस प्रकार नाम-रूप और ऊपरी आवरण को चीरकर अंदर की ज्योति को देखते है तो प्रत्येक व्यक्ति मे गुण दिखाई देगे। जो व्यक्ति बुराइयो की ओर देखता है, उसे सर्वत्र घृणा, विद्वेष, और शत्रुता की लहरें व्याप्त होती दृष्टिगोचर होती है, और जो अच्छाइयों की ओर देखता है, उसे सर्वत्र गुण दिखाई देते है, साथ ही प्रेम, सौहार्द और मैत्री की मधुरता मिलती है। सम्यग्दृष्टि मे गुणानुराग या गुणदर्शन की वृत्ति जागृत हो जाती है। वह गुणो की दृष्टि मे ही मानव को देखता है। इसलिए न तो उसे किसी पर द्वेष-भाव होता है, और न ही किसी की अनुचित चापलूसी व प्रशंसा मे रागभाव होता है। बल्कि जब सम्यग्दृष्टि का स्वभावदृष्टि पर जोर होता है, तब उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्जरा का कारण होती है।

गुणदर्शन की वृत्ति होने के कारण सम्यग्दृष्टि बुराई में मे भी

अच्छाई ढूंढ लेता है। जैसे धूल-धोया मिट्टी में से सोने के कण ढूंढकर निकाल लेता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि बुराई की गंदगी में से भी सद्गुणों के कण निकाल लेता है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उनकी दृष्टि दुर्गुणों की ओर देखने की नहीं थी, वे सदैव गुण ग्रहण कर लेते थे। एक बार उनकी सवारी द्वारिका नगरी के मध्य में से होकर जा रही थी। तभी एक देव ने उनके सम्यग्दर्शन की परीक्षा लेने हेतु राजमार्ग के किनारे एक सड़ी हुई कुतिया फेंक दी, जिसके मृत शरीर से असह्य दुर्गन्ध उठ रही थी। श्रीकृष्ण के आगे चलने वाले लोग उसकी असह्य दुर्गन्ध न सह सकने के कारण नाक पर कपड़ा लगाकर नाक-भौं सिकोड़ते और बड़बड़ाते हुए चले जा रहे थे। श्रीकृष्ण का हाथी जब उस कुतिया की लाश के पास आया तो उन्होंने कुतिया को देखकर शरीर के नाशवान स्वरूप का विचार करते हुए कहा —"देखो! इस कुतिया के दाँत कितने चमक रहे है?" सब लोग श्रीकृष्ण की गुणदर्शन-वृत्ति को देखकर आश्चर्य में डूब गये। देव भी सम्यग्दर्शन की परीक्षा में उन्हें सफल हुए देख क्षमा माँगकर चला गया।

सम्यग्दृष्टि भी संघर्ष करता है, परन्तु व्यक्ति से नहीं व्यक्ति की बुराइयों से। भगवान महावीर ने यही कहा था—"पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।" यही बात महात्मा गांधी के जीवन में उतर गई थी।

गांधीजी ने स्वतंत्रता संग्राम के सिलसिले में संघर्ष किया, पर किस नीति के आधार पर? वे बातचीत के दौरान कहा करते थे—"मेरा अंग्रेजों से कोई द्वेष नहीं है, न उनसे घृणा है। अंग्रेज भी मेरे मित्र है, बन्धु है, मैं विपत्ति में पड़े अंग्रेज की भी रक्षा उसी भाव से करूंगा, जैसे एक निकट मित्र की करता हूँ।" अंग्रेजों की गलत नीतियों से उनका संघर्ष था। इसलिए उन्होंने सिद्धान्त की लड़ाई लड़ी, जिसमें किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष या वैर-विरोध की भावना न आने दी, क्योंकि गांधीजी का सिद्धान्त था, 'संघर्ष व्यक्ति से नहीं, उसकी बुराइयों से होना चाहिए।' इसी सिद्धान्त पर वे अन्त तक टिके रहे। यही सम्यग्दृष्टि की गुणग्राही दृष्टि की विशेषता होती है।

सम्यग्दृष्टि द्वारा सरलता से गृहीत असम्यक् भी सम्यक्

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर व्यक्ति की दृष्टि सरल, सीधी और अनाग्रही बन जाती है, वह हठाग्रही नहीं रहता। उसकी दृष्टि में 'सच्चा सो मेरा' यह मन्त्र अंकित हो जाता है, 'मेरा सो सच्चा' यह पूर्वाग्रह उसके

दिल-दिमाग में नही रहता। वह न स्वत्व-मोही रहता है और न ही काल-मोही। कोई भी वस्तु या विचारधारा पुरानी है, इसलिए सत्य नही हो जाती। अपनी बुद्धि, युक्ति और अनुभूति की कसौटी पर कसने के बाद जो सत्य प्रतीत हो, वह नई हो या पुरानी, सम्यग्दृष्टि के लिए ग्राह्य होती है। पुरानी बात झूठी, विकासघातक, युगबाह्य या अहितकर हो तो भी कई लोग मिथ्या प्रतिष्ठा के मोह मे पडकर पकड़े रहते हैं, लेकिन सम्यग्दृष्टि अनाग्रह भाव से मिथ्या प्रतिष्ठा का मोह छोडकर मिथ्या, अहितकर एवं युगबाह्य, विकासघातक पुरानी बात को पकड़े नही रहता।

एक छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि है, वह सरलता से किसी बात को सत्य, हितकर एवं विकासवर्द्धक समझकर अनाग्रह भाव से ग्रहण कर लेता है, लेकिन ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि मे उसके द्वारा गृहीत वस्तु असम्यक् है, ऐसी स्थिति मे क्या करे? इसका समाधान आचारागसूत्र मे भगवान महावीर ने बताया है कि वह वस्तु उक्त अनाग्रही सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक् ही है।

समियति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होति उवेहाए।
असमियंति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए।।[1]

अर्थात्—जो साधक (वास्तव मे निष्पक्ष बुद्धि या निर्दोष हृदय से) किसी वस्तु को सम्यक् मान रहा है, वह (प्रत्यक्षज्ञानियो की दृष्टि मे) सम्यक् हो या असम्यक्, उसकी सम्यक् उत्प्रेक्षा (सम्यक् पर्यालोचन, छानवीन या शुद्ध अध्यवसाय) के कारण (उसके लिए) वह सम्यक् ही होती है। (इसके विपरीत) जो साधक किसी वस्तु को असम्यक् मान रहा है, वह (प्रत्यक्षज्ञानियों की दृष्टि मे) सम्यक् हो या असम्यक् उसके लिए सम्यक् उत्प्रेक्षा (शुद्ध अध्यवसाय) के कारण वह असम्यक् ही होती है।

आशय यह है कि जिसका अध्यवसाय शुद्ध है, जिसकी दृष्टि मध्यस्थ एवं निष्पक्ष है, जिसका हृदय शुद्ध व सत्यग्राही है, वह व्यवहारनय से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या व्यवहार के विषय को सम्यक् मान लेता है तो वह सम्यक् ही है, और असम्यक् मान लेता है तो असम्यक् ही है, फिर चाहे प्रत्यक्षज्ञानियो की दृष्टि मे वास्तव मे वह सम्यक् हो असम्यक्। यह है सम्यग्दृष्टि का प्रत्यक्ष चमत्कार! व्यक्ति चाहे कम पढा-लिखा हो, चाहे उसकी बुद्धि, तर्कशक्ति, स्मरणशक्ति, स्फुरणाशक्ति, निर्णयशक्ति या परीक्षण-

---

१ आचाराग श्रु० १, अ० ५, उ० ५, सू० १६६।

शक्ति तीव्र न हो, किन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि है, निष्पक्ष व सत्यग्राही है तो सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सम्यक् वस्तु को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि के प्रभाव से मिथ्याशास्त्र भी सम्यक्

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का रवैया प्रायः अपने-अपने जाने-माने शास्त्रों या ग्रन्थों को सत्य या सम्यक् कहने का रहता है, परन्तु भगवान् महावीर के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि विभिन्न धर्मशास्त्रों में से कौन-सा सच्चा है, कौन-सा झूठा ? तब उनका उत्तर यही रहा कि शास्त्रों की सम्यक्ता और असम्यक्ता को जानने से पूर्व व्यक्ति की दृष्टि को देखो। अगर व्यक्ति की दृष्टि शुद्ध और सम्यग्दर्शन से अनुप्राणित है, राग-द्वेष मोह, कषाय आदि रंगों से रंगी हुई नहीं है, निष्पक्ष, तटस्थ, व्यापक और उदार है तो उसके लिए सभी शास्त्र, यहाँ तक कि पापश्रुत माने जाने वाले चौर्यादि शास्त्र भी सम्यक् हैं, और यदि व्यक्ति की दृष्टि अशुद्ध है, कषाय राग-द्वेषादि के रंगों से रंगी हुई है, पक्षपाती, स्वार्थी, संकीर्ण और अनुदार है तो सम्यक् कहे जाने वाले श्रुत (शास्त्र) भी उसके लिए मिथ्याश्रुत हैं। नन्दीसूत्र इस बात का साक्षी है :—

> एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं,
> एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।[1]

ये (आचारांगादि सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र) मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुत हो जाते हैं, और वे ही (सम्यक्शास्त्र या मिथ्या कहे जाने वाले शास्त्र) सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्रूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुत हो जाते हैं।

आशय यह है कि अगर किसी के मन में सच्चाई है, स्वच्छता है रागादि से कलुषित दृष्टि नहीं है तो उसके लिए संसारभर के सभी शास्त्र सच्चे हैं, उपादेय हैं; और यदि इसका अभाव है तो उसके लिए सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी, सत्यानुप्राणित श्रुत भी, स्वप्नछाया हैं, मिथ्या हैं असत्य हैं।

जहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकाश है, वह आत्मा मिथ्याशास्त्र को पढ़-सुनकर भी उसे सम्यक्रूप में परिणत कर लेता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा सम्यक्शास्त्र को पढ़कर भी मिथ्यारूप में परिणत करता है। यदि सम्यग्दर्शन की ज्योति है तो सभी शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ सच्चे हैं, क्योंकि

१ नन्दीसूत्र, सू० ४१।

उसके ग्रहण करने का तरीका विशुद्ध है, निर्मल है, निष्पक्ष है और राग-द्वेषादि से कलुषित नही है। इसलिए शास्त्रो का रसास्वादन भी वह कर सकेगा। यदि ग्रहण करने का तरीका गलत है, निर्मल-निष्कलुष नही है तो वह इधर-उधर के विकल्पो तथा पंथवादी झगड़ों मे, परम्परागत पक्षपात मे उलझकर सत्य के नाम पर असत्य की ही पूजा करेगा।

भगवान् महावीर की वाणी जहाँ गणधर गौतम और सुधर्मा स्वामी के लिए प्रकाशदात्री एवं सत्यदर्शिनी थी, वही वाणी गोशालक और जमाली के लिए विद्वेष का कारण बनी। भगवान् महावीर और उनके वचन तो एक ही थे, किन्तु उनसे गणधर गौतम और सुधर्मास्वामी ने सत्य की ज्योति पाई, उन्हें मैत्री और समता का मंत्र मिला, जबकि गोशालक और जमाली को द्वेष और वैर ही प्राप्त हुआ। इसलिए सम्यग्दर्शन के प्रभाव से तथाकथित मिथ्याशास्त्र भी सम्यग्दृष्टि के लिए उत्थान के कारण बन सकते हैं और मिथ्यात्व के प्रभाव से सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी पतन के कारण बन सकते हैं।

एक फूल है, उसे पशु भी देखता है और भौरा भी। पशु को उसकी सुगन्ध और सुन्दरता का कोई ज्ञान नही, वह केवल घास की तरह चबाने लगेगा, जबकि सौरभ और सौन्दर्य का पारखी भ्रमर उससे पराग और मधु का पान करेगा। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शास्त्रो में रस और सौरभ न लेकर सिर्फ कण्ठस्थ कर लेगा, पशु की तरह ऊपर-ऊपर से चबा लेगा, उसके अन्तर् मे पैठकर रसानुभूति नही कर सकेगा, जबकि सम्यग्दृष्टि भौरा बनकर शास्त्र का गहराई से मनन-मन्थन करेगा, उसके अन्तर् मे पैठकर रसानुभूति का आनन्द लेगा। सम्यग्दृष्टि शास्त्रो के मर्मरूप जल को विवेक के छन्ने से छानकर पीएगा, शुद्ध सम्यक् धारणा से, सत्यबुद्धि से शास्त्रो का रस-पान करेगा, उसमें जो काँटे, छिलके एव शब्दों की गुठलियाँ हैं, उन्हें अलग कर देगा। यही सम्यग्दृष्टि की विशेषता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चित्त निर्मल

जैसे ब्राह्ममुहूर्त में प्रकृति सर्वत्र शान्त और स्वच्छ रहती है, मनुष्य का चित्त भी उस समय शान्त और निर्मल रहता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन जब जीवन मे आ जाता है, तो वह ब्राह्ममुहूर्तवत् निर्मल हो जाता है। सम्यग्दृष्टि के निर्मल चित्त में अपूर्वभावो की उर्मियाँ उछलती है, वह चाहे अभी इतनी ऊँची उड़ान न भर सके, परन्तु चित्त में शुद्धभावो की उर्मियाँ उछलने से कर्मों की अनायास ही निर्जरा हो जाती है, संवर

शक्ति नीचे न हो किन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि है, निराशा न हो सकती है तो सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सम्यक् वस्तु को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि के प्रभाव से मिथ्याशास्त्र भी सम्यक्

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का रवैया प्रायः अपने-अपने माने-माने शास्त्रों या ग्रन्थों को सत्य या सम्यक् कहने का रहता है, परन्तु भगवान् महावीर के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि विभिन्न धर्मशास्त्रों में से कौन सा सच्चा है, कौन-सा झूठा ? तब उनका उत्तर यही रहा कि शास्त्रों की सम्यक्ता और असम्यक्ता को जानने से पूर्व व्यक्ति की दृष्टि को देखो अगर व्यक्ति की दृष्टि शुद्ध और सम्यग्दर्शन से अनुप्राणित है, राग-द्वेष मोह, कषाय आदि रंगों से रंगी हुई नहीं है, निष्पक्ष, तटस्थ, व्यापक और उदार है तो उसके लिए सभी शास्त्र, यहाँ तक कि पापश्रुत माने जाने वाले चौर्यादि शास्त्र भी सम्यक् हैं, और यदि व्यक्ति की दृष्टि अशुद्ध है, कषाय राग-द्वेषादि के रंगों से रंगी हुई है, पक्षपाती, स्वार्थी, संकीर्ण और अनुदार है तो सम्यक् कहे जाने वाले श्रुत (शास्त्र) भी उसके लिए मिथ्याश्रुत हैं। नन्दीसूत्र इस बात का साक्षी है —

> एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं,
> एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।[1]

ये (आचारांगादि सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र) मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुत हो जाते हैं, और ये ही (सम्यक्शास्त्र या मिथ्या कहे जाने वाले शास्त्र) सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्रूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुत हो जाते हैं।

आशय यह है कि अगर किसी के मन में सच्चाई है, स्वच्छता है रागादि से कलुषित दृष्टि नहीं है तो उसके लिए संसारभर के सभी शास्त्र सच्चे हैं, उपादेय हैं, और यदि इसका अभाव है तो उसके लिए सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी, सत्यानुप्राणित श्रुत भी, स्वप्नछाया हैं, मिथ्या हैं असत्य हैं।

जहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकाश है, वह आत्मा मिथ्याशास्त्र को पढ़-सुनकर भी उसे सम्यक्रूप में परिणत कर लेता है; जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा सम्यक्शास्त्र को पढ़कर भी मिथ्यारूप में परिणत करता है। यदि सम्यग्दर्शन की ज्योति है तो सभी शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ सच्चे हैं, क्योंकि

१. नन्दीसूत्र, सू० ४१।

उसके ग्रहण करने का तरीका विशुद्ध है, निर्मल है, निष्पक्ष है और राग-द्वेषादि से कलुषित नहीं है। इसलिए शास्त्रों का रसास्वादन भी वह कर सकेगा। यदि ग्रहण करने का तरीका गलत है, निर्मल-निष्कलुष नहीं है तो वह इधर-उधर के विकल्पों तथा पंथवादी झगड़ों में, परम्परागत पक्षपात में उलझकर सत्य के नाम पर असत्य की ही पूजा करेगा।

भगवान् महावीर की वाणी जहाँ गणधर गौतम और सुधर्मा स्वामी के लिए प्रकाशदात्री एवं सत्यदर्शिनी थी, वही वाणी गोशालक और जमाली के लिए विद्वेष का कारण बनी। भगवान् महावीर और उनके वचन तो एक ही थे, किन्तु उनसे गणधर गौतम और सुधर्मास्वामी ने सत्य की ज्योति पाई, उन्हें मैत्री और समता का मंत्र मिला, जबकि गोशालक और जमाली को द्वेष और वैर ही प्राप्त हुआ। इसलिए सम्यग्दर्शन के प्रभाव से तथाकथित मिथ्याशास्त्र भी सम्यग्दृष्टि के लिए उत्थान के कारण बन सकते हैं और मिथ्यात्व के प्रभाव से सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी पतन के कारण बन सकते हैं।

एक फूल है, उसे पशु भी देखता है और भौंरा भी। पशु को उसकी सुगन्ध और सुन्दरता का कोई ज्ञान नहीं, वह केवल घास की तरह चबाने लगेगा, जबकि सौरभ और सौन्दर्य का पारखी भ्रमर उससे पराग और मधु का पान करेगा। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शास्त्रों में रस और सौरभ न लेकर सिर्फ कण्ठस्थ कर लेगा, पशु की तरह ऊपर-ऊपर से चबा लेगा, उसके अन्तर् में पैठकर रसानुभूति नहीं कर सकेगा, जबकि सम्यग्दृष्टि भौंरा बनकर शास्त्र का गहराई से मनन-मन्थन करेगा, उसके अन्तर् में पैठकर रसानुभूति का आनन्द लेगा। सम्यग्दृष्टि शास्त्रों के मर्मरूप जल को विवेक के छन्ने से छानकर पीएगा, शुद्ध सम्यक् धारणा से, सत्यबुद्धि से शास्त्रों का रस-पान करेगा, उसमें जो कांटे, छिलके एवं शब्दों की गुठलियाँ हैं, उन्हें अलग कर देगा। यही सम्यग्दृष्टि की विशेषता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चित्त निर्मल

जैसे ब्राह्ममुहूर्त में प्रकृति सर्वत्र शान्त और स्वच्छ रहती है, मनुष्य का चित्त भी उस समय शान्त और निर्मल रहता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन जब जीवन में आ जाता है, तो वह ब्राह्ममुहूर्तवत् निर्मल हो जाता है। सम्यग्दृष्टि के निर्मल चित्त में अपूर्वभावों की उर्मियाँ उछलती है, वह चाहे अभी इतनी ऊँची उड़ान न भर सके, परन्तु चित्त में शुद्धभावों की उर्मियाँ उछलने से कर्मों की अनायास ही निर्जरा हो जाती है, संवर

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो और दूसरी ओर तीन लोक का राज्य मिलता हो किन्तु तीन लोक के लाभ की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है, सम्यग्दर्शन के लाभ का पलड़ा ही भारी रहेगा। क्योंकि तीन लोक का राज्य पाने पर भी अमुक निश्चित अवधि के बाद उसमें पतन होगा, जबकि सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाने पर तो अविनाशी मोक्ष प्राप्त होगा।

निष्कर्ष यह है कि तीन लोक का राज्य भी किसी को मिल जाए, पर क्या वह राज्य स्थायी है ? राज्य, वैभव, विलास और आमोद-प्रमोद के कोई भी साधन स्थायी नहीं रहते, ये सभी परिवर्तनशील हैं। जब तक समस्त सांसारिक पदार्थों को परभाव समझकर उनके प्रति राग, द्वेष, मोह आदि का त्याग नहीं किया जाएगा, तब तक एक छोटे-से राज्य का तो क्या, तीन लोक के राज्य का भी आनन्द नहीं आएगा। सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर निर्धनता भी हो तो वह शाहंशाह है, तीन लोक के राज्य से भी बढ़कर आध्यात्मिक राज्य उसके हाथ में आ जाता है। मुक्ति उसके हाथों में क्रीडा करने लगती है। उसका जीवन अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के आंशिक लाभ से युक्त होने पर भी उसकी दृष्टि, उसकी बुद्धि और उसके मन-वचन-काया सभी मुक्ति के अनन्तचतुष्टय की ओर ही होते हैं। एक न एक दिन वह मुक्ति का अनन्त राज्य प्राप्त कर लेता है। यह कितना बड़ा लाभ है !

दूसरी दृष्टि से देखें तो एक ओर सम्यग्दर्शन मिलता हो और दूसरी ओर तीन लोक के खजाने, सारी सम्पदा और साम्राज्य मिलता हो, तो भी तीनों लोक के साम्राज्य और सम्पदा से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। भगवान् महावीर ने राजमहल, घर-बार आदि सब कुछ छोड़ दिया, उनके पास कुछ भी न रहा, तब भी उनके पास जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा थी — सम्यग्दृष्टि की। आत्मा का अखण्ड साम्राज्य उनके पास था। फिर तीन लोक के राज्य का लाभ भी तो अस्थायी है। लेकिन मुक्ति के राज्य का, या मुक्ति-राज्य का निश्चित अधिकार दिलाने वाले, सम्यग्दर्शन का लाभ तो शाश्वत है, स्थायी है।

तीसरी दृष्टि से देखें तो वर्तमान जीवन में इन तीनों लोकों में जो भी मिलता है, वह बाहर ही बाहर रहता है, वह हमारा कभी नहीं हो पाता। जो बाहर है, वह बाहर ही तो रहेगा, उसे आप भीतर कैसे लाएँगे ? आप सम्पत्ति का ढेर लगा लेंगे, मगर वह ढेर भी तो बाहर ही लगेगा, भीतर

कैसे लग सकेगा ? अधिक से अधिक तो भीतर मे आप उस सम्पत्ति का हिसाब रख सकेंगे, लेकिन वह भी मन की परत तक रहेगा, चैतन्य मे नही पहुँच पाएगा। अत भीतर की सम्यग्दृष्टिरूपी सम्पदा न मिल पाए, तब तक बाहर की सम्पदा किसी काम की नही, वह तो उलटे बन्धन में डाल देगी।

सम्यग्दर्शन परम लाभ है

सांसारिक लोग मोह और अज्ञान के वशीभूत होकर नाना प्रकार के पदार्थों की कामना करते रहते हैं। फिर वे पदार्थ इष्ट हो या अनिष्ट, उनकी प्राप्ति को वे परम लाभ मानते हैं। लेकिन क्या वे पदार्थ आत्मा को कल्याण-पथ पर ले जाते हैं ? वे स्वयं कदापि कल्याण-मार्ग में सहायक नही होते, बल्कि कई बार आत्मा उन पदार्थों के लाभ मे उन पर राग-द्वेषादि करके दुर्गति का मेहमान बन जाती है। आत्मा स्वयं उनके कारण दुखी और संकटग्रस्त हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा जिन पदार्थों को लाभदायक मानकर अपनाती है, वे ही उसके परम शत्रु बन जाते है। इसलिए मिथ्यादृष्टि के लिए वे पदार्थ वस्तुत. लाभदायक नही, अलाभदायक है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन का लाभ आत्मा के लिए कभी अहितकर नही होता। उसके लाभ से आत्मा तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ का अन्त करके आगे की भूमिका पर क्रमशः कदम बढ़ाता जाता है। इसी कारण अध्यात्मविदो ने कहा है—

'सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभ ।'[1]

'सम्यक्त्व के लाभ से बढकर कोई लाभ नही है।'

सम्यग्दर्शन आत्मा में विषय-कषायो की तीव्रता को समाप्त करके समता का अद्भुत संचार कर देता है, तीव्रतम राग-द्वेष के सन्ताप को ठंडा कर देता है, जिससे आत्मा अपूर्व शान्ति के सरोवर में स्नान करने लगती है।

सम्यग्दर्शन-देव का प्रसाद : अलभ्य लाभ

सम्यग्दर्शन के दिव्य प्रकाश से आत्मा जब जड़ और चेतन का भेद भलीभाति समझ लेता है, और जब उसे जड की अपेक्षा चैतन्य का मूल्य असंख्यगुना अधिक लगता है, और वह चेतन का मूल्य अधिक आँकता है, तब उसे संसार के सभी नाशवान पदार्थ, राग-द्वेषादि विकार-भाव तुच्छ प्रतीत होते है। तभी वह समझता है कि चेतन का अधिक

---

१ अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ८३

मूल्यांकन करने की सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने से मुझे अलभ्य लाभ मिला है। चैतन्य की निधि तो मेरे पास थी ही, लेकिन सम्यग्दर्शन-देव के प्रसाद से उसका मूल्यांकन करने, उस पर दृढ़-विश्वास करने और उसे महत्त्व प्रदान करने की सम्यग्दृष्टि का लाभ मिला है, यह लाभ बहुत बड़ा लाभ है। दुनिया के सभी धर्मग्रन्थ, सभी आध्यात्मिक पुरुष और सभी महापुरुष एक ही बात कहते हैं—'सत्य को ग्रहण करो, उसे प्राप्त करो।' ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥[1]

"सत्य का मुख सोने के पात्र से ढका हुआ है। हे पोषक देव! सत्य-धर्म की दृष्टि के लिए उसे आप खोल दें।"

आज अधिकांश लोग सोने की चकाचौंध में सत्य को ओझल कर देते हैं, सत्यदृष्टि के लाभ को वे इतना महत्त्व नहीं देते, जितना सोने को देते हैं। परन्तु सभी आध्यात्मिक पुरुष कहते हैं, अगर सत्य के दर्शन पा लिये तो सब कुछ पा लिया, फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। और अगर जीवन में अध्यात्म-साधना करते-करते ५०-६० वर्ष व्यतीत हो गए किन्तु सत्य नहीं मिला तो कुछ भी न मिला, अन्य चीजें मिलने से आत्मा को कोई लाभ नहीं हुआ। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन (सत्यदृष्टि) मिल गया तो सभी वस्तुएं मूल्यवान हो गईं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई तो सारा का सारा पुरुषार्थ बेकार ही गया, जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला बन गया।

वास्तव में सम्यग्दर्शन को पाने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। कई लोग कहते हैं—ज्ञान और चारित्र का पाना तो बाकी है। परन्तु आध्यात्मिक महापुरुषों ने बार-बार कहा है कि ज्ञान और चारित्र तो आत्मा में पहले से ही है, सिर्फ वे अज्ञानादि से आवृत हैं। उनकी अभिव्यक्ति सम्यग्दर्शन से हो जाती है। क्षायिक (निर्मल) सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर फिर कुछ भी पाने की जरूरत नहीं रहती, वह सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र आदि शेष सब पा जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन पाने के बाद आत्मा को जो कुछ (सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) पाना शेष रहता है, उसके लिए उसे नये सिरे से और अधिक तैयारी की आवश्यकता

१. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक १५।

नहीं रहती। भक्ति की भाषा में कहें तो सम्यग्दर्शन के देवता का प्रसाद मिल जाने पर फिर और किसी देवता से किसी भी प्रसाद की याचना की आवश्यकता नहीं रहती; सम्यग्दर्शन में जब सर्वस्व प्राप्त करने की शक्ति है, तब और किसी वस्तु की अभिलाषा ही कहाँ रह जाएगी। क्योंकि जिसने सम्यग्दर्शन का वरदान माग लिया, उसने अन्तिम शिखररूप मोक्ष भी माग लिया।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति : अक्षयनिधि-लाभ

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अक्षयनिधि की प्राप्ति है। किसी व्यक्ति पर देवता प्रसन्न हो जाए और उसे यथेष्ट वरदान देने लगे तो फिर उसे किस बात की कमी रह सकती है? इसी प्रकार अध्यात्म-भावरूप देव की साधना करते-करते जब स्वयं आत्मदेवता प्रसन्न और तुष्ट होकर सम्यग्दर्शन की अक्षय निधि का वरदान दे दे, भला उस अध्यात्म-साधक को और कौन-सा पदार्थ चाहिए? जिसे सम्यग्दर्शन की अक्षयनिधि मिल गई, उसे सभी कुछ तो मिल गया। जिसे अनन्त चतुष्टय के खजाने की चाबी मिल गई, उसे फिर क्या चाहिए?

कहते हैं, किसी नवयुवक ने तप की आराधना करके किसी देव को प्रसन्न कर लिया। देवता ने युवक पर तुष्ट होकर कहा—"युवक! जो चाहो, सो माँग लो। जो कुछ तुम माँगोगे, मैं तुम्हें दे दूंगा। बोलो, क्या इच्छा है, तुम्हारी?"

युवक अपने आपको भाग्यशाली समझकर मन ही मन सोचने लगा—'वर्षों की तपस्या के बाद आज देव प्रसन्न होकर मुझे यथेच्छ वस्तु माँगने को कह रहे हैं, कौन-सा वरदान माँगा जाए, जिसमें मेरी सभी मनोकामनाएं आ जाएं।' वह हाथ जोड़कर सविनय बोला—"आपका मुझ पर तुष्ट होना, यही मेरे लिए वरदान है, फिर भी यदि आप प्रसन्न होकर वरदान देना चाहते हैं तो यही देने की कृपा करें कि इस विशाल भूमण्डल पर मैं जहाँ कहीं पैर से ठोकर मारूँ, वहाँ खजाना निकल आए।"

जिस व्यक्ति को देवता का इस प्रकार का अपूर्व वरदान मिल जाए, उसे भला फिर किसी चीज की कमी रह सकती है? फिर उसे न तो अपने पास नोट रखने की जरूरत है और न ही किसी बैंक का चैक रखने की। उसे सोना, चाँदी या माणिक, मोती, हीरा आदि रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिसके पग-पग पर निधान है, उसे भला इन चीजों को रखने की आवश्यकता ही क्यों रहेगी?

इस रूपक पर विचार करने से मालूम होता है कि संसार के प्रत्येक साधक को आत्मसाधना करते-करते जब आत्मदेव प्रसन्न होकर वरदान देने लगे और वह सम्यग्दर्शनरूपी अक्षयनिधि माँग ले, तो फिर क्या बाकी रह जाता है ? सम्यग्दर्शन में सभी कुछ तो आ गया ? प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन को निधान बताते हुए कहा है—

> प्राप्तं जन्मफलं तेन, सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम् ।
> निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम् ॥

"सम्यग्दर्शन इस संसार में निधि के समान है, अतुल सुखदाता है, इसलिए जिस भव्य जीव ने सम्यक्त्व को स्वीकार कर लिया, उसने अपना जन्म सफल कर लिया।"

वास्तव में सम्यग्दर्शन जैसा अक्षय निधान प्राप्त होने पर मनुष्य का जीवन सार्थक और धन्य हो जाता है।

'ज्ञानार्णव' में सम्यग्दर्शन के अक्षयनिधित्व गुण को अभिव्यक्त करते हुए कहा है -

> अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणबीजम्,
> जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ॥
> दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम्,
> पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥[2]

"भव्यजीवो ! सम्यग्दर्शनरूपी अमृतजल का पान करो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का निधान (खजाना) है, समस्त कल्याणों का बीज है, संसाररूपी समुद्र को पार करने हेतु जहाज है, जिसे पाने के लिए भव्यजीव ही योग्यपात्र है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार है पवित्र पुण्यतीर्थों में प्रधान तीर्थ है, अपने मिथ्यात्व शत्रु को जीतने वाला यह सम्यग्दर्शन है।"

एर सम्यग्दर्शन में ही सभी गुण निहित हैं, तब भला, इसे अक्षय निधि कहने में किस संकोच हो सकता है ?

सम्यग्दर्शन : अक्षय सम्पदाओं का स्थान

शुद्ध सम्यग्दर्शन में समस्त आत्म-सम्पदाएँ, जो दूसरों को नहीं मिल सकती हैं, प्राप्त होती हैं।

---

१ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११, श्लोक ५५।
२ ज्ञानार्णव, सर्ग ६, श्लोक ५१, इसी से मिलता जुलता श्लोक प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (परि० ६ श्लोक ६१) में मिलता है।

आपने सुना होगा कि समुद्र में अगणित रत्नराशि भरी पड़ी है, वह सारी रत्नराशि भी किसी को प्राप्त हो जाए, तो वह भौतिक दृष्टि से सम्पदाओं का धनी कहलाता है, मगर उससे भी बढ़कर वह व्यक्ति भाग्यशाली कहलाता है, जो समुद्रगत खतरों से बचकर समुद्र की छाती चीरता हुआ रत्नादि-राशि से भरे हुए अपने विशाल जहाज को पार कर ले। यही बात सम्यग्दर्शन के विषय में कही जा सकती है। सम्यग्दर्शन से युक्त व्यक्ति संसाररूपी समुद्र में डूबता या डुबकी नहीं लगाता है, क्योंकि उसे संसार-समुद्र में डूबना नहीं है, न ही अनेक भयंकर वपायादि जल-जन्तुओं से भरे समुद्र के खतरों से खेलना है। वह सम्यग्दर्शनरूपी ऐसी नौका प्राप्त करता है, जो खतरों से बिल्कुल दूर रखकर तूफानों और अंधड़ों से जूझती हुई साधक को बचाकर निरापद रूप से उसको गुणरत्ननिधि-सहित पार कर देती है।

अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है —

> अपारसंसारसमुद्रतारकं, वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् ।
> वशीकृतास्तेन जनेन सम्पदः परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥[1]

"अपार संसार-समुद्र को पार करने वाले और विपदाओं के स्थान से रहित श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन को जिसने अपने अधीन कर लिया, उस व्यक्ति ने दूसरों के द्वारा अलभ्य-दुष्प्राप्य (गुण) सम्पदाएँ वश में कर ली।"

सचमुच, जिसके हाथ सम्यग्दर्शन आ जाता है, उसे संसार-समुद्र पार करने वाली निरापद गुण-सम्पदाएँ अनायास ही मिल जाती हैं।

सम्यग्दर्शन-सम्पदा की प्राप्ति पापास्रवनिरोध से

सम्यग्दर्शन जहाँ आ गया, वहाँ व्यक्ति छल, झूठ, कपट, अन्याय, चोरी, अनीति आदि पापकर्म से प्राप्त सम्पदा को बिल्कुल नहीं चाहता। अथवा सम्यग्दृष्टि स्वयं इस बात का विवेक करता है कि सम्पत्ति प्राप्त होने पर मेरा जीवन पापास्रव में बिल्कुल न लगे। उसे तो वही सम्पदा पसंद है, जो पापकर्म से उपार्जित न हो, अथवा जिस सम्पत्ति के आने पर पापकर्म में वृद्धि न जाय। अथवा वह धूल के समान नाशवान सम्पत्ति को सम्यग्दर्शन से प्राप्त होने वाली शाश्वत मोक्ष-सम्पदा की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ समझता है, वह उस नश्वर सम्पदा को चाहता ही नहीं है। अथवा

---

१. अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद २, श्लोक ८३।

इस प्रकार पर विचार करने से मालूम होता है कि संसार के प्रा
सागर को आत्मसात् करते हुए जब आत्मा देदीप्यमान होकर चमक
देने लगे और यह सम्यग्दर्शनरूपी अमूल्य निधि मिल गई, तो फिर
बाकी रह जाता है? सम्यग्दर्शन में सभी गुण तो आ गए? प्रश्नो
श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का निधान बताते हुए कहा है —

> प्राप्तं जन्मफलं तेन, सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम्।
> निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम्॥[1]

"सम्यग्दर्शन इस संसार में निधि के समान है, अतुल सुखदाता
इसलिए जिस भव्य जीव ने सम्यक्त्व को स्वीकार कर लिया, उसने अ
जन्म सफल कर लिया।"

वास्तव में सम्यग्दर्शन जैसा अक्षय निधान प्राप्त होने पर मनु
का जीवन सार्थक और धन्य हो जाता है।

'ज्ञानार्णव' में सम्यग्दर्शन के अक्षयनिधिरूप गुण को अभिव्य
करते हुए कहा है

> अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणबीजम्,
> जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम्।।
> दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम्,
> पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम्॥[2]

"भव्यजीवो! सम्यग्दर्शनरूपी अमृतजल का पान करो। यह सम्य
दर्शन अनुपम सुख का निधान (खजाना) है, समस्त कल्याणों का बी
है, संसाररूपी समुद्र को पार करने हेतु जहाज है, जिसे पाने के लि
भव्यजीव ही योग्यपात्र है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार
पवित्र पुण्यतीर्थों में प्रधान तीर्थ है, अपने मिथ्यात्व शत्रु को जीतने वा
यह सम्यग्दर्शन है।"

एक सम्यग्दर्शन में ही सभी गुण निहित हैं, तब भला, इसे अ
निधि कहने में किसे संकोच हो सकता है?

सम्यग्दर्शन : अलभ्य सम्पदाओं का स्थान

शुद्ध सम्यग्दर्शन से समस्त आत्म-सम्पदाएँ, जो दूसरों को न
मिल सकती है, प्राप्त होती है।

---

१ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११, श्लोक ५५।

२. ज्ञानार्णव, सर्ग ६, श्लोक ५६, इसी से मिलता जुलता श्लोक प्रश्नोत्तर श्रावकाच
(परि० ४, श्लोक ६१) में मिलता है।

आपने सुना होगा कि समुद्र में अगणित रत्नराशि भरी पड़ी है, वह सारी रत्नराशि भी किसी को प्राप्त हो जाए, तो वह भौतिक दृष्टि से सम्पदाओं का धनी कहलाता है, मगर उससे भी बढ़कर वह व्यक्ति भाग्यशाली कहलाता है, जो समुद्रगत खतरों से बचकर समुद्र की छाती चीरता हुआ रत्नादि-राशि से भरे हुए अपने विशाल जहाज को पार कर ले। यही बात सम्यग्दर्शन के विषय में कही जा सकती है। सम्यग्दर्शन से युक्त व्यक्ति संसाररूपी समुद्र में डूबता या डुबकी नहीं लगाता है, क्योंकि उसे संसार-समुद्र में डूबना नहीं है, न ही अनेक भयंकर कषायादि जल-जन्तुओं से भरे समुद्र के खतरों से खेलना है। वह सम्यग्दर्शनरूपी ऐसी नौका प्राप्त करता है, जो खतरों से बिल्कुल दूर रखकर तूफानों और आंधियों से जूझती हुई साधक को बचाकर निरापद रूप से उसको गुणरत्ननिधि-सहित पार कर देती है।

अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है —

> अपारसंसारसमुद्रतारकं, वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् ।
> वशीकृतास्तेन जनेन सम्पदः परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥[1]

"अपार संसार-समुद्र को पार करने वाले और विपदाओं के स्थान से रहित श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन को जिसने अपने अधीन कर लिया, उस व्यक्ति ने दूसरों के द्वारा अलभ्य-दुष्प्राप्य (गुण) सम्पदाएँ वश में कर ली।"

सचमुच, जिसके हाथ सम्यग्दर्शन आ जाता है, उसे संसार-समुद्र पार करने वाली निरापद गुण-सम्पदाएँ अनायास ही मिल जाती हैं।

सम्यग्दर्शन-सम्पदा की प्राप्ति : पापकर्मनिरोध से

सम्यग्दर्शन जहाँ आ गया, वहाँ व्यक्ति छल, शठ, कपट, अन्याय, चोरी, अनीति आदि पापकर्म से प्राप्त सम्पदा को बिल्कुल नहीं चाहता। अथवा सम्यग्दृष्टि स्वयं इस बात का विवेक करता है कि सम्पत्ति प्राप्त होने पर मेरा जीवन पापास्रव से बिल्कुल न लगे। उसे तो वही सम्पदा पसंद है, जो पापकर्म से उपार्जित न हो, अथवा जिस सम्पत्ति के आने पर पापकर्म में वृद्धि न जाय। अथवा वह धन के समान नाशवान सम्पत्ति को सम्यग्दर्शन से प्राप्त होने वाली शाश्वत मोक्ष-सम्पदा की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ समझता है, वह इस नश्वर सम्पदा को चाहता ही नहीं है। अथवा

---

1. अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद २ श्लोक ८३ ।

सम्यग्दर्शन से त्याग-संयमरूप प्रवृत्ति होने से जो आस्रव रुक जाता है, संवर-सम्पदा प्राप्त हो जाती है, तब उसे इन्द्रिय-विषयजनित सम्पदा में अथवा राज्य-ऐश्वर्यरूप सम्पदा से लगाव कम हो जाता है। इसीलिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन-सम्पन्न की सम्पदा के प्रति स्पष्टदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

> यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ?
> अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ?[1]

"सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि अगर ज्ञानावरणीय आदि अशुभ पापकर्मप्रकृतियों का आस्रव (आगमन) रुक गया और संवर-सम्पदा प्राप्त हो गई तो अन्य सांसारिक (धन) सम्पदा से मुझे क्या प्रयोजन है ? और यदि पापकर्म (छल, झूठ, बेईमानी, अनीति आदि) का आस्रव होता है और दूसरी सम्पदा आ गई, उससे भी मुझे क्या प्रयोजन है ?"

कितना सुन्दर विचार है सम्यग्दर्शन से प्राप्त होने वाली अक्षय सम्पदा के सम्बन्ध में ? सम्यग्दृष्टि यह समझता है कि अन्याय, अनीति, अनाचार आदि से प्राप्त होने वाली भौतिक सम्पदा सीधे नरक में ले जाने वाली है, क्योंकि उसको प्राप्त करने में भी पापकर्म का आस्रव या बन्ध होता है, और बाद में उस नाशवान् सम्पदा को रखने से भी वह इष्टवियोग-अनिष्ट संयोग में महादुःख उत्पन्न करेगी, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान पैदा करेगी, इससे भी पापकर्म का आस्रव या बन्ध ही होगा। कदाचित् लाभान्तराय और भोगान्तराय आदि कर्मों के क्षयोपशम के फलस्वरूप भौतिक सम्पदा प्राप्त भी हो गई, तो भी सम्यग्दृष्टि जीव उसे पराधीन, विनश्वर और बन्ध का कारण समझकर उसमें लिप्त नहीं होता। उदासीन (तटस्थ) भाव से उसे ग्रहण करता है।

सम्यग्दर्शन लाभ : चिन्तामणि आदि का लाभ

लोकव्यवहार में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु, ये तीन मनोवांछित पदार्थ को देने वाले हैं। किसी दरिद्र को अगर चिन्तामणिरत्न या कल्पवृक्ष का संयोग प्राप्त हो जाए, तो उसे कितनी प्रसन्नता होती है ? वह लोकव्यवहार में सुखी और सम्पन्न माना जाता है। यही बात सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में समझ लीजिए। सम्यग्दर्शन को महान् आचार्यों ने चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु की उपमा दी है। आचार्य सकलकीर्ति ने प्रश्नोत्तर

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, श्लोक २७।

श्रावकाचार में सम्यक्त्व के साथ इन तीनों को सम्बन्धित बताते हुए कहा है—

> सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत्।
> कल्पवृक्षो गृहे तस्य, कामगव्यनुगामिनी॥[1]

"जिस भव्य के पास सम्यग्दर्शन है, उसके हाथ में चिन्तामणि रत्न, उसके घर में कल्पवृक्ष तथा उसके पीछे-पीछे चलने वाली कामधेनु समझना चाहिए।"

चिन्तामणि एक ऐसा रत्न है, जो प्रत्येक मनोरथ पूर्ण करता है। कल्पवृक्ष सामान्य वृक्ष नहीं होता, वह एक विशिष्ट वृक्ष होता है, जिसकी छाया में बैठकर मन में जो कुछ वाञ्छा की जाती है, वह तत्काल पूर्ण होती है। इसी प्रकार कामधेनु गाय वह कहलाती है जिसे जब भी दुहना चाहें, दुहकर दूध प्राप्त कर सकते हैं। ये तीनों ही पदार्थ लौकिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण, बहुमूल्य और दुर्लभ माने जाते हैं। परन्तु लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक दृष्टि से इनका महत्व नहीं है। सम्यग्दर्शन में ही उक्त तीनों पदार्थों के गुण पाये जाते हैं। फिर चिन्तामणि, कल्पवृक्ष या कामधेनु-ये तीनों ही नाशवान् और भौतिक पदार्थ हैं। चिन्तामणि आज पुण्य प्रबल है, इसलिए है, इसी प्रकार कल्पवृक्ष भी एक विशिष्ट तरु है, वह भी आज है, कल नहीं, पुण्य समाप्त हो जाने पर एक क्षण में वह लुप्त भी हो जाता है। और कामदुधा धेनु ? वह भी जितना आयुष्य है उतने काल तक रहती है, आयुष्य पूर्ण होते ही कामधेनु चली जाती है। ये तीनों आज हैं, रत्न हाथ से निकलते क्या देर लगती है ? ये तीनों भौतिक पदार्थ हैं, जबकि सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक रत्न है, आत्मिक कल्पवृक्ष है, सम्यग्दर्शनसम्पन्न कामधेनु है जो पीछे-पीछे चलने वाली है।

भौतिक चिन्तामणि रत्न से तो मनुष्य राग-द्वेष-मोहवश अनर्थकारिणी इच्छा की पूर्ति के लिए भी मनोरथ कर सकता है, कल्पवृक्ष का भी दुरुपयोग होने की सम्भावना है और कामधेनु तो इस लोक में ही कुछ अर्से तक मनचाहा दूध देती है, जबकि सम्यग्दर्शन एक बार परिपूर्ण एवं शुद्धरूप से प्राप्त होने पर फिर कभी जाता नहीं। क्षायिक सम्यग्दर्शन की यह विशेषता है कि यह एक बार प्राप्त हो गया तो फिर न तो कभी उसमें न्यूनता आती है, और न कभी वह नष्ट होता है। इस शक्ति के प्राप्त होने

---

१. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परिच्छेद ११, श्लोक ५४।

प्राय लोग वृक्ष के पके हुए फल को पाने की कामना करते हैं, मुमुक्षुगण भी सम्यग्दर्शनरूपी कल्पवृक्ष से मोक्षसुख को पाने की अभिलाषा करते हैं।

सम्यक्त्वरत्न की उपलब्धियाँ

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सम्यग्दर्शन के गुणरत्नों से युक्त जीव की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए कहा है—

रयणाण महारयणं, सव्वजोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीण महारिद्धी, सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥
सम्मत्तगुणप्पहाणो देविंदणरिंदवंदिओ ।
चत्तवयो वि य पावइ, सग्गसुहं उत्तमं विविहं ॥[1]

"समस्त रत्नों में श्रेष्ठ महारत्न सम्यग्दर्शन है, वस्तु की सिद्धि करने के उपायरूप सर्वयोग, मंत्र, ध्यान आदि में सम्यग्दर्शन उत्तम योग है, क्योंकि सम्यग्दर्शनरूपी योग मोक्ष को सिद्ध करने में उत्तम योग है, अणिमा आदि ऋद्धियों में भी सम्यग्दर्शन एक महाऋद्धि है। अधिक क्या कहें, सम्यग्दर्शन सर्वसिद्धिकर्ता है।"

"सम्यक्त्वगुण सहित (सम्यक्त्व के २५ मलदोष रहित, निःशंकित आदि ८ गुणों और संवेगादि गुणों सहित) पुरुष प्रधान (श्रेष्ठ) पुरुष है, वह देवेन्द्रों और नरेन्द्रों से वन्दनीय होता है, और व्रतरहित हो तो भी उसे अनेक प्रकार से उत्तम स्वर्गादि सुख प्राप्त होता है।"

सम्यग्दर्शन की और भी अनेक उपलब्धियाँ हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

सम्यग्दृष्टि नारकी, तिर्यंच (चतुरिन्द्रिय तक), पाँच स्थावर, भवनपति आदि तीन देवलोक, तीनों प्रकार की स्त्रीयोनि में नहीं जाता, अर्थात् ४८ लाख जीवयोनियों में नहीं जाता।

सम्यग्दृष्टि में माया—मिथ्याचार नहीं होता, वह अष्टमद से रहित होता है, तथा उसमें आर्त्त-रौद्रध्यान एवं पक्षपात नहीं होता। उसे विषयभोगों के प्रति अरुचि होती है, वह महारम्भ-महापरिग्रह से दूर होता है। वह भूतकालीन पापों का नाश कर देता है। भविष्य में पापाचरण नहीं करता। शंकादि दोषों से दूर रहता है। सुख में अभिमान और दुःख में दीनता नहीं लाता।

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३२५, ३२६।

सम्यग्दर्शन से पशु को भी मनुष्यत्व प्राप्ति

सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न एक पशु को भी प्राप्त हो सकता है और एक धनाढ्य को भी या चक्रवर्ती को भी नहीं प्राप्त होता। पशु बेशक पशु होता है शरीर से; परन्तु उसके हृदय में भी सम्यक्त्व के लक्षणरूप अनुकम्पा की ज्योति जग उठती है तो वह भी मनुष्यत्व से युक्त सम्यग्दर्शनरूप महारत्न से विभूषित हो जाता है। जबकि मनुष्य चाहे जितनी भौतिक शक्ति एवं वैभव का धनी हो, उसके हृदय में शमादि पाँच लक्षणों से युक्त सम्यग्दर्शन नहीं है, वह आर्यकर्म से भी विमुख है तो वह शरीर से मनुष्य होते हुए भी अन्तर् में पशुत्व से ग्रस्त है। जैसा कि सागारधर्मामृत में कहा है—

> नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
> पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतसः ॥[1]

"मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्त वाले मनुष्य होने पर भी, आचरण में पशु के समान हैं और सम्यक्त्व से व्यक्त चित्त वाले जीव पशु होने पर भी आचरण में मनुष्य के समान हैं।"

प्रश्न होता है कि हमारे समक्ष दो आकृतियाँ हैं, दो गतियाँ या योनियाँ हैं—एक मनुष्य की, दूसरी पशु की। हमारे समक्ष मनुष्य और पशु ये दो भाई-भाई की भाँति एक-दूसरे के सामने खड़े हैं। दोनों इस भूतल पर अपने-अपने जीवन को लिए साथ-साथ कभी सहयोगी और कभी विरोधी, कभी रागी और कभी द्वेषी बनकर चलते आ रहे हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है?

इन दोनों के अन्तर का पता लगाने के लिए हमें सोचना होगा कि मनुष्य मनुष्य क्यों है? पशु पशु क्यों है? किसी ने आकृति को पकड़ा, शरीर के आकार-प्रकार को लेकर दोनों में अन्तर बताया, किन्तु यह कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऐसा अन्तर तो मनुष्य-मनुष्य में भी रहता है। इससे आगे कुछ विचारकों ने दोनों के शरीर, इन्द्रिय और मन तक के अन्तर को देखा-परखा। शरीर, इन्द्रिय और इससे आगे मन तक की बुद्धि और अनुभूति पशु-पक्षियों में भी होती है। किन्तु सामान्यतया पशु-पक्षी अपने (आत्मा) विषय में नहीं जानते कि वे स्वयं कौन हैं? क्या हैं? क्यों हैं? कहाँ से आए हैं? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? यदि पशु-पक्षियों में से किसी को इस

---

1. (सागार) धर्मामृत, अ० १० (अ० १) श्लोक ४।

आत्मस्वरूप का बोध हो जाए तो समझ लीजिए फिर वह पशु या प
नहीं रहता वह मनुष्यत्व की ओर अग्रसर हो गया।

आत्मस्वरूप का बोध या आत्मतत्त्व की खोज सहज सरल नहीं
इसके पीछे दीर्घ साधना और तपस्या की जरूरत है। तब कहीं ज
सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

एक जिज्ञासु व्यक्ति किसी गुरु की खोज में निकला। अनेक
कथित गुरुओं के पास पहुँचा। किसी ने उसे स्वर्ग के सब्जबाग दिखा
किसी ने नरक की भीषण यातनाओं का प्रदर्शन प्रस्तुत किया, कि
चक्रवर्ती, धनिक, सत्ताधारी आदि के मधुर स्वप्न दिखाए, किन्तु
जिज्ञासु की आत्मतत्त्व की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई, क्योंकि वे सारे
तो शरीर, इन्द्रिय और मन की भूमिका तक ही सीमित थे। आत्
असीम पुरुषार्थ की झलक इनमें नहीं थी। अत अन्त में उसने एक गु
यहाँ पहुँचकर कुटिया के द्वार खटखटाए। भीतर से आवाज आई —
है?" जिज्ञासु ने नम्रता के साथ उत्तर दिया—"गुरुदेव! इसी जिज्
समाधान के लिए मैं आपके चरणों में आया हूँ कि मैं कौन हूँ?"

गुरु ने योग्य शिष्य को परखा, द्वार खोले। गुरुदेव के दि
होते ही शिष्य ने फिर यही प्रश्न किया कि "भगवन्! यह बता
मैं कौन हूँ? शरीर हूँ, इन्द्रिय हूँ, मन हूँ या इनसे भी परे और कोई
गुरु ने उसकी प्रबल जिज्ञासा देखकर कहा—"तू न शरीर है, न
है और न मन है। ये सब तो जड हैं। तू तो इन सबसे ऊपर अखण्
ज्योतिर्मय आत्मा है, चेतन है।"

हाँ, तो पशु और मनुष्य में यही मौलिक अन्तर है। मनुष्य
भी यदि वह आत्मस्वरूप का बोध नहीं करता तो उसमें और पशु
मौलिक अन्तर नहीं रहता। एक विचारक ने कहा है—

आहार निद्रादि समं शरीरिषु।
वैशिष्ट्यमेकं हि नरे विचारणम्॥

आकार-प्रकार का भेद कोई महत्व नहीं रखता। इसके अ
आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चारों बातों में मनुष्य और पशु
खास अन्तर नहीं है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों
मनुष्यों और पशुओं में समानरूप से विद्यमान होती हैं। अत. मनु
पशु में भेद की मौलिक रेखा आत्मबोधरूप सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ

सामान्यतया पशुओ में इतना सामर्थ्य नही होता कि वह जान सके कि वह पशु क्यो है ? पशु प्रलोभनों की ओर आकृष्ट होता है, वह भूत और भविष्य के परिणाम पर विचार नही कर सकता, वह सिर्फ वर्तमानदृष्टिपरायण होता है। मनुष्य में और मेरे में क्या अन्तर है ? यह सब विवेक पशुओ मे प्राय नहीं होता, मनुष्यो मे ही सम्भव है। पशु में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की तामसिक वृत्तियाँ है, वैभाविक परभाव है, उन्ही को अपना स्वभाव समझकर वही अटक जाता है, जबकि मनुष्य इन सब तामसिक वैभाविक वृत्तियो को परभाव समझकर स्वभाव को समझ लेता है, स्व-स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकता है, अशुद्ध-उपयोग से वह शुद्ध उपयोग के सोपान पर चढ सकता है। इसीलिए स्पष्ट शब्दो में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य और पशु के बीच जो भेद-रेखा है, वह शरीर, इन्द्रिय और मन के बोध से परे आत्मस्वरूप के बोध—आत्मदर्शन—सम्यग्दर्शन का है। यह आत्मा का स्वभाव होने से धर्म है।

अतः महामनीषियो ने स्पष्ट निर्णय दिया कि आकृति से भले ही कोई पशु हो, यदि वह सम्यग्दर्शन से—आत्मबोध से—सम्पन्न है, शुद्धोपयोग कर सकता है, तो वह पशु की आकृति में मनुष्य है, देव है। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य की आकृति में भी काम, क्रोध आदि वैभाविक—अशुद्ध-अशुभ वृत्तियों में रहता है, उन्ही को अपना स्वभाव मानता है, मिथ्यात्व-ग्रस्त है तो वह पशु के समान है, पशुत्व भाव मे रहता है। इसके अतिरिक्त जो मिथ्यात्वग्रस्त होगा, वह पशु की तरह वासनाओं और इच्छाओं का गुलाम रहेगा, तब उसके और पशु के जीवन में क्या अन्तर रहेगा ?

वैसे मनुष्य और पशु मे यह अन्तर है कि पशु पराधीन और कष्टमय जीवन बिताता है, जबकि मनुष्य हँसता-हँसाता, आनन्द बिखेरता हुआ जीता है। परन्तु कब ? जब वह सम्यग्दर्शन मे सम्पन्न होकर अपनी इच्छाओं और वासनाओं पर स्वेच्छा से नियन्त्रण करे, मन पर शासन करना सीखे। यदि ऐसा नही करता है तो वह पशुत्व से युक्त है और जो पशु सम्यग्दर्शन-सम्पन्न होकर अपने पर स्वैच्छिक नियन्त्रण कर लेता है, वह पशु होते हुए भी मनुष्यत्व से युक्त है।

निष्कर्ष यह है कि जिनके चित्त में सम्यग्दर्शन को ज्योति जग उठी है, वे पशु हो तो भी मनुष्यत्व की भूमिका का निर्वाह करते हैं। पशुओं को हिताहित का विवेक नहीं होता और मनुष्य प्रायः विचारशील होते हैं।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य पापव्यापार में प्रवृत्त होते हुए भी [illegible]
विचार से शून्य होने के कारण वह कर्मों का आस्रव करते हैं। इसके विपरी
जाति में संज्ञी पर्याप्त पशु होते हुए भी वे सम्यक्त्व के माहात्म्य
विवेकपूर्ण विचार से युक्त होते हैं वे हेय और उपादेय तत्त्व के ज्ञाता हो
सकते हैं।

आगमों में बताया है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को हो
है। भव्य पंचेन्द्रिय पर्याप्त और काललब्धि शक्ति के होने पर जब उस
संसार-परिभ्रमण का काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन-प्रमाण शेष रहता है, त
एक अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय औ
सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ
अन्तरकरणरूप उपशम से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन आ
का तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणाम है। इसके प्रकट होते ही आत्मा में प्रश
संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण आते हैं। इन गुणों से उ
की आत्मा की प्रतीति होती है और उसी से उसके भावों में यथार्थता आ
है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय उदाहरण लीजिए—

मेघकुमार मुनि बन जाने के बाद प्रथम रात्रि में ही जब उ
हो जाता है और प्रातःकाल भगवान् महावीर के समक्ष जाकर मुनि
और समस्त भाडोपकरण छोड़ने को तत्पर हो जाता है, तब भगवान्
धीर उसके मनोभाव जानकर कहते हैं—मेघ ! तुम विचार तो करो
पूर्वजन्म में विन्ध्याचल के गहन वनों में तुम मेरुप्रभ नामक श्वेत
थे। अपने ५०० हाथियों के यूथ के अधिपति थे। उस समय तुमने कि
कष्ट सहन किया था ? एक बार उस वन में प्रचण्ड दावाग्नि लग गई
उसकी लपलपाती हुई ज्वालाएँ चारों ओर फैल रही थीं। उस वन के
आदि पशु भयभीत होकर इधर-उधर भाग-दौड़ रहे थे। तुम्हारे (हाथी
मन में अपने परिवार को दावाग्नि में जलते और यह सब संकट
परिस्थिति देखकर सहसा जीवों की अनुकम्पा से युक्त एक विचार
कि 'मैं सब तरह से समर्थ और अपने यूथ का अधिपति हूँ क्यों नहीं
निरापद स्थान तैयार कर लूँ।' बस, तुमने विशाल मरु-भूमण्डल
तैयार किया, उसमें जो भी झाड़-झंखाड़ थे, लकड़ियाँ थीं, सबको एक
हटाया और सारी भूमि साफ कर ली।

इस निरापद एवं आग लगने के खतरे से रहित निरुपद्रव
को देखकर अनेक वन्य पशु-पक्षी वहाँ आकर आश्रय लेने लगे

देखकर तुम्हारे दिल में अनुकम्पा-भाव अधिकाधिक उत्पन्न होने लगा। वह सारा मण्डल पशुओं से खचाखच भर गया था, अब एक छोटे-से पशु का भी उसमें समाना कठिन था। उसी समय सहसा एक खरगोश कहीं से वहाँ आ जाता है, तुम (हाथी) ने अपना शरीर खुजलाने के लिए एक पैर ऊँचा उठाया, वहाँ जगह खाली देखकर खरगोश बैठ गया। जब तुम पैर वापस नीचे रखने को हुए और तुम्हें कोमल स्पर्श हुआ तो अनायास विचार आया कि मेरे भूमि पर पैर रखते ही बेचारा यह जीव मारा जाएगा। अतः तुमने अपना पैर लगभग २० प्रहर तक ऊपर ही उठाए रखा। जब आग का खतरा समाप्त हो गया और सभी जीव वहाँ से अन्यत्र चले गये, तब तुमने अपना पैर नीचे रखने का प्रयत्न किया, मगर वह अकड़ गया। अनुकम्पा के उद्रेक के कारण तुमने अपनी पीड़ा को पीड़ा नहीं समझा। फलतः उन्हीं शुभ भावों में तुम धड़ाम से धरती पर गिर पड़े, उसी समय तुम्हारी मृत्यु हो गई। शास्त्रकार कहते हैं —

> "तं जइ ताव तुमं मेहा! तिरिक्खजोणियभावमुवगएणं अपडिलद्धसम्मत्तरयणलंभेणं से पाए पाणाणुकंपयाए जाव अंतरा चेव संधारिए, नो चेव णं निक्खित्ते।"

इसका भावार्थ यह है कि हे मेघ मुने! यद्यपि उस समय तुम तिर्यंच योनित्व को प्राप्त थे, फिर भी अप्रतिलब्ध सम्यक्त्वरत्न के लाभ से प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा से प्रेरित होकर तुमने अपना पैर ऊपर को अधर रखा, मगर नीचे नहीं रखा। इसी के फलस्वरूप तुम्हें मनुष्यभव और उसमें भी राजा श्रेणिक के पुत्र के रूप में जन्म मिला।[1]

तात्पर्य यह है कि एक हाथी ने सम्यक्त्व-रत्न पाकर जीवों की अनुकम्पा का कितना उच्च कार्य किया! यह पशु के चोले में मनुष्य-जैसे आचरण करने का ज्वलन्त उदाहरण है।[2]

और पूर्वजन्म में जो सम्भूति मुनि था, वह अगले जन्म में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना, सभी प्रकार के वैभव और सत्ता से सम्पन्न। परन्तु उसके पूर्वजन्म के भाई चित्तमुनि के द्वारा आर्य कर्म करने के लिए विभिन्न प्रकार से समझाए जाने पर भी मिथ्यात्वग्रस्त भोगासक्त ब्रह्मदत्त चक्री

---

1. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र १।२८
2. देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र का १३ वाँ अध्ययन।

भावों में — आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में--रमण करता रहता
इसीलिए आचाराग सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे।
जे अणन्नारामे से अणन्नदंसी ॥[1]

अर्थात्—जो अनन्यदर्शी—सम्यग्दृष्टि है, वह अनन्य आरा
परमार्थ में रमण करने वाला है, जो अनन्याराम है, वह अनन्यदर्शी है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न—क्षायिक-सम्यक्त्व से युक्त
शुद्ध—एकमात्र आत्मा के दर्शन करता है, इसलिए वह अद्वितीय आन
रमण करता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न को अवश्य मुक्ति-लाभ

जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति जग जाती है, उसे एक
अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमे कोई सन्देह नही। इसी तथ्य
उजागर करते हुए 'तत्त्वामृत' में कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।[2]

सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा को अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है।
एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसकी मुक्ति निश्चि
जाती है।

मुक्ति का अर्थ है—कर्मों का सर्वथा क्षय। सम्यग्दर्शन जब
शुद्ध रूप से आ जाता है, तब वह अप्रमत्त एवं जागृत होकर प्रत्येक
प्रवृत्ति करता है। और मन-वचन-काया से होने वाली प्रवृत्ति के साथ
या राग-द्वेषादि भाव आते हैं, तभी कर्मबन्ध होता है। जब रागादि न
तो कर्मबन्ध नहीं होता, बल्कि कई बार संकट, विघ्न-बाधाएँ, दुख
आते हैं, तब भी सम्यग्दृष्टि समभावपूर्वक सहन कर लेता है, इससे न
का बन्ध नहीं होता और [illegible] का समभाव से भोगकर उन्हें क्ष
देता है। इस प्रकार [illegible] होने पर एक [illegible] दिन चार
कर्मों का सर्वथा क्षय हो [illegible] है बार [illegible] उन्हें
कर्म समाप्त होने के [illegible] वह सिद्ध-
[illegible] लिए साटी [illegible]

'सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके, सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्'[1]

"लोक में सम्यक्त्व दुर्लभ है, वही मोक्ष का प्रथम और अनिवार्य साधन है।"

सम्यक्त्व से भवधारण सीमा : महालाभ

सम्यग्दर्शन ऐसा जादू का डंडा है, कि उसे छूते ही जन्म-मरण का चक्र बहुत ही धीमा पड जाता है, वह गति से अत्यन्त मन्द हो जाता है, यह निश्चित है। भगवती आराधना इस तथ्य की साक्षी है—

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालयवि जे परिवट्टंति ।
तेसिमणताणंता ण भवदि ससारवासद्धा ॥[2]

"जो जीव एक मुहूर्तमात्र काल तक भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके तदनन्तर छोड देते है, वे भी इस संसार में अनन्तानन्त काल पर्यन्त नही रहते।"

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए धर्मसंग्रह में कहा गया है—

अंतोमुहुत्त मित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल परिअट्टो चेव ससारो ॥[3]

"जिन जीवों ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया, उन जीवों का अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल से कुछ कम ही संसार-परिभ्रमण रह जाता है।"

इसके अतिरिक्त दर्शनमोह का क्षय हो जाने पर कितने जन्म शेष रहते है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'क्षपणसार' में कहा गया है—

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदिय-तुरिय भवे ।
णादिक्कमदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मे वा ॥

"दर्शनमोह का क्षय होने पर उसी भव में या तीसरे भव मे, अथवा मनुष्य तिर्यंच की आयुष्य बाध ली हो तो भोगभूमि की अपेक्षा से वे चौथे भव का उल्लंघन नही करते। औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह यह (क्षायिक) सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर नष्ट नही होता।"

---

१. लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक १।
२. भगवती आराधना गा० ५३।
३. धर्मसग्रह, अधिकार २, श्लोक २१ टीका।

भावो में — आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में--रमण करता रहता है। इसीलिए आचाराग सूत्र मे स्पष्ट कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे।
जे अणन्नारामे से अणन्नदंसी ॥[1]

अर्थात्—जो अनन्यदर्शी—सम्यग्दृष्टि है, वह अनन्य आराम—परमार्थ मे रमण करने वाला है, जो अनन्याराम है, वह अनन्यदर्शी है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न—क्षायिक-सम्यक्त्व से युक्त व्यक्ति शुद्ध—एकमात्र आत्मा के दर्शन करता है, इसलिए वह अद्वितीय आनन्द में रमण करता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न को अवश्य मुक्ति-लाभ

जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति जग जाती है, उसे एक दिन अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमे कोई सन्देह नही। इसी तथ्य को उजागर करते हुए 'तत्त्वामृत' में कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः[2]

सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा को अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है। जिसे एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है।

मुक्ति का अर्थ है—कर्मों का सर्वथा क्षय। सम्यग्दर्शन जब व्यक्ति में शुद्ध रूप से आ जाता है, तब वह अप्रमत्त एवं जागृत होकर प्रत्येक कार्य में प्रवृत्ति करता है। और मन-वचन-काया से होने वाली प्रवृत्ति के साथ कषाय या राग-द्वेषादि भाव आते हैं, तभी कर्मबन्ध होता है। जब रागादि नहीं होते तो कर्मबन्ध नहीं होता, बल्कि कई बार संकट, विघ्न-बाधाएँ, दुःख या कष्ट आते है, तब भी सम्यग्दृष्टि समभावपूर्वक सहन कर लेता है, इससे नये कर्मों का बन्ध नही होता और पुराने कर्म का समभाव से भोगकर उन्हें क्षीण कर देता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर एक न एक दिन चार घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, शेष रहे चार अघाती कर्म उन्हें आयुष्य कर्म समाप्त होने के साथ ही समाप्त करके वह आत्मा मुक्त-सिद्ध-बुद्ध हो जाता है। इसीलिए लाटी संहिता में कहा है—

---

१ आचाराग सूत्र २।६

२ तत्त्वामृत

'सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके, सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्'[1]

"लोक में सम्यक्त्व दुर्लभ है, यही मोक्ष का प्रथम और अनिवार्य साधन है।"

सम्यक्त्व से भवभ्रमण सीमा : महालाभ

सम्यग्दर्शन ऐसा जादू का डंडा है, कि उसे छूते ही जन्म-मरण का चक्र बहुत ही धीमा पड़ जाता है, वह गति में अत्यन्त मन्द हो जाता है, यह निश्चित है। भगवती आराधना इस तथ्य की साक्षी है—

> लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति।
> तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा॥[2]

"जो जीव एक मुहूर्तमात्र काल तक भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके तदनन्तर छोड़ देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तानन्त काल पर्यन्त नहीं रहते।"

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए धर्मसंग्रह में कहा गया है—

> अंतोमुहुत्त मित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
> तेसिं अवड्ढपुग्गल परिअट्टो चेव संसारो॥[3]

"जिन जीवों ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया, उन जीवों का अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल से कुछ कम ही संसार-परिभ्रमण रह जाता है।"

इसके अतिरिक्त दर्शनमोह का क्षय हो जाने पर कितने जन्म शेष रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'क्षपणसार' में कहा गया है—

> दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदिय-तुरिय भवे।
> णादिक्कमदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मं वा॥

"दर्शनमोह का क्षय होने पर उसी भव में या तीसरे भव में, अथवा मनुष्य तिर्यंच की आयुष्य बांध ली हो तो भोगभूमि की अपेक्षा से वे चौथे भव का उल्लंघन नहीं करते। औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह यह (क्षायिक) सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर नष्ट नहीं होता।"

---

१. लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक १।
२. भगवती आराधना गा० ५३।
३. धर्मसंग्रह, अधिकार २, श्लोक २१ टीका।

भावों में — आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में — रमण करता रहता है इसीलिए आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे।
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी ॥[1]

अर्थात्—जो अनन्यदर्शी—सम्यग्दृष्टि है, वह अनन्य आराम परमार्थ में रमण करने वाला है, जो अनन्याराम है, वह अनन्यदर्शी है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न—क्षायिक-सम्यक्त्व से युक्त शुद्ध—एकमात्र आत्मा के दर्शन करता है, इसलिए वह अद्वितीय आनन्द रमण करता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न को अवश्य मुक्ति-लाभ

जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति जग जाती है, उसे एक अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी तथ्य उजागर करते हुए 'तत्त्वामृत' में कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः[2]

सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा को अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है। एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसकी मुक्ति निश्चित जाती है।

मुक्ति का अर्थ है—कर्मों का सर्वथा क्षय। सम्यग्दर्शन जब शुद्ध रूप से आ जाता है, तब वह अप्रमत्त एवं जागृत होकर प्रत्येक कार्य प्रवृत्ति करता है। और मन-वचन-काया से होने वाली प्रवृत्ति के साथ या राग-द्वेषादि भाव आते हैं, तभी कर्मबन्ध होता है। जब रागादि नहीं तो कर्मबन्ध नहीं होता, बल्कि कई बार संकट, विघ्न-बाधाएँ, दुःख आते हैं, तब भी सम्यग्दृष्टि समभावपूर्वक सहन कर लेता है, इससे नये का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्म का समभाव से भोगकर उन्हें क्षीण देता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर एक न एक दिन चार कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, शेष रहे चार अघाती कर्म उन्हें आ कर्म समाप्त होने के साथ ही समाप्त करके वह आत्मा मुक्त-सिद्ध-बु जाता है। इसीलिए नाटी संहिता में कहा है—

१ आचारांग सूत्र २।६.
२ तत्त्वामृत

'सम्यक्त्वं दुर्लभ लोके, सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्'[1]

"लोक में सम्यक्त्व दुर्लभ है, वही मोक्ष का प्रथम और अनिवार्य साधन है।"

सम्यक्त्व से भवधारण सीमा : महालाभ

सम्यग्दर्शन ऐसा जादू का डंडा है, कि उसे छूते ही जन्म-मरण का चक्र बहुत ही धीमा पड जाता है, वह गति मे अत्यन्त मन्द हो जाता है, यह निश्चित है। भगवती आराधना इस तथ्य की साक्षी है—

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालयवि जे परिवट्टंति ।
तेसिमणंताणता ण भवदि ससारवासद्धा ॥[2]

"जो जीव एक मुहूर्तमात्र काल तक भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके तदनन्तर छोड देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तानन्त काल पर्यन्त नही रहते।"

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए धर्मसंग्रह में कहा गया है—

अंतोमुहुत्त मित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल परिअट्टो चेव ससारो ॥[3]

"जिन जीवों ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया, उन जीवो का अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल से कुछ कम ही संसार-परिभ्रमण रह जाता है।"

इसके अतिरिक्त दर्शनमोह का क्षय हो जाने पर कितने जन्म शेष रहते है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'क्षपणसार' में कहा गया है—

दसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदिय-तुरिय भवे ।
णादिक्कमदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मे वा ॥

"दर्शनमोह का क्षय होने पर उसी भव में या तीसरे भव में, अथवा मनुष्य तिर्यंच की आयुष्य बांध ली हो तो भोगभूमि की अपेक्षा से वे चौथे भव का उल्लंघन नही करते। औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह यह (क्षायिक) सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर नष्ट नहीं होता।"

---

१ लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक १।

२. भगवती आराधना गा० ५३।

३. धर्मसंग्रह, अधिकार २, श्लोक २१ टीका।

भावों में — आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में- -रमण करता रहता है। इसीलिए आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे।
जे अणन्नारामे से अणन्नदंसी ॥[1]

अर्थात्—जो अनन्यदर्शी—सम्यग्दृष्टि है, वह अनन्य आराम—परमार्थ में रमण करने वाला है, जो अनन्याराम है, वह अनन्यदर्शी है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न—क्षायिक-सम्यक्त्व से युक्त व्यक्ति शुद्ध— एकमात्र आत्मा के दर्शन करता है, इसलिए वह अद्वितीय आनन्द में रमण करता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न को अवश्य मुक्ति-लाभ

जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति जग जाती है, उसे एक दिन अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी तथ्य को उजागर करते हुए 'तत्त्वामृत' में कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः[2]

सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा को अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है। जिसे एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है।

मुक्ति का अर्थ है—कर्मों का सर्वथा क्षय। सम्यग्दर्शन जब व्यक्ति में शुद्ध रूप में आ जाता है, तब वह अप्रमत्त एवं जागृत होकर प्रत्येक कार्य में प्रवृत्ति करता है। और मन-वचन-काया से होने वाली प्रवृत्ति के साथ कषाय या राग-द्वेषादि भाव आते हैं, तभी कर्मबन्ध होता है। जब रागादि नहीं होते तो कर्मबन्ध नहीं होता, बल्कि कई बार संकट, विघ्न-बाधाएँ, दुःख या कष्ट आते हैं, तब भी सम्यग्दृष्टि समभावपूर्वक सहन कर लेता है, इससे नये कर्मों का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्म का समभाव से भोगकर उन्हें क्षीण कर देता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर एक न एक दिन चार घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, शेष रहे चार अघाती कर्म उन्हें आयुकर्म समाप्त होने के साथ ही समाप्त करके वह आत्मा मुक्त-सिद्ध-बुद्ध हो जाता है। इसीलिए माटी महिमा में कहा है—

---

१ आचारांग सूत्र ३।६.
२ तत्त्वामृत

तत्त्वार्थसूत्र—राजवार्तिक में इससे भी सूक्ष्म चिन्तन व्यक्त किया गया है, कि जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते उन्हें अधिक से अधिक ७ या ८ जन्म और ग्रहण करने पड़ते हैं, और कम से कम दो-तीन जन्म। इतने जन्मों के पश्चात उनके संसार का उच्छेद हो जाता है।[1]

वसुनन्दीश्रावकाचार में इसका रहस्य खोलते हुए कहा है—

> अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणोपुणोलहिऊण।
> सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा॥[2]

"कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः पुनः प्राप्त करके सात-आठ भवों के पश्चात् अवश्य ही कर्म क्षय कर देते हैं।" उदाहरणार्थ, सुबाहुकुमार।

इस से यह समझा जा सकता है कि सम्यक्त्व ग्रहण करने से कितना बड़ा लाभ है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति पर लाख रुपये का कर्ज हो, और साहूकार एक हजार रुपये में ही फारकती कर ले तो उस कर्जदार को कितना लाभ और कितना हर्ष होता है?

मेघकुमार मुनि ने हाथी के भव में बहुत-से वन्य जीवों एवं विशेषतया एक खरगोश पर अनुकम्पा करके निःस्वार्थभाव से रक्षा करने के कारण सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मनुष्यभव का बन्ध करने के साथ-साथ अपना संसार परित्त (परिमित) कर लिया।

सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनरूपी प्रभु के कारण महत्ता प्राप्त

सम्यग्दर्शन वास्तव में प्रभु है, इस कारण वह परम आराध्य है। क्योंकि उसी की कृपा से सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है। उसी के निमित्त से जीव जगत पर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात्—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर समस्त जगत् को जानता-देखता है, किन्तु जगत् के राग-द्वेषादि दूषणों को अपने पर बिल्कुल नहीं आने देता। यही कारण है कि अनगारधर्मामृत में सम्यग्दर्शन को प्रभु कहा, और उसके कारण सम्यग्दृष्टि की महत्ता बढ़ जाती है, इसे बताया गया है—

> प्राप्येनाथ महात्मनेव गुरुवाम्भोधिमवाप्तवान्—
> स्वामभ्यागमवर्तिनीं विभूतैर्वोश्यतां विभूतम्।

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक ४।२४।३।८८।११
2. वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० २६६

तत्त्वं हेयमुपेयवत् प्रनियता संविप्ति कान्ताश्रिता ;
सम्यक्त्व-प्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति ॥[1]

जैसे सूर्य के सारथी (अरुण) की शक्ति से मन्द हुए अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए सूर्य का उदय होता है, इसी तरह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के योग्य काल, क्षेत्र, द्रव्य, भाव की शक्ति के निमित्त से मन्द हुए दर्शनमोह-तिमिर को छिन्न करने के लिए सम्यग्दर्शन के समकाल मे गुरुतर (महान्) आगमज्ञान (या गुरु के उपदेश से होने वाला ज्ञान) उदित होता है। उसमे उपादेय की तरह हेय तत्त्व की प्रतीति कराने वाले तथा सम्यग्ज्ञप्तिरूपी पत्नी से युक्त सम्यग्दर्शन-प्रभु के द्वारा पुण्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय मे स्वचिन्मय और व्यवहार से जीवादि द्रव्यों के समुदायरूप लोक को जीत लेता है, अर्थात्—वह सर्वज्ञ और (ज्ञान से) सर्वजगत् का भोक्ता होता है।

यह है सम्यग्दर्शनरूपी प्रभु के निमित्त से सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि। □

सम्यग्दृष्टि का अर्थ है—यथार्थ दृष्टि !

प्रत्येक वस्तु को यथार्थ रूप में समझना, उस पर यथार्थ विश्वास करना, और यथार्थ रूप में जीना—बस यही है—सम्यग्दर्शन !

और यही है एक मात्र सुखी व शान्तिमय जीवन !

१. सम्यग्दर्शन का अर्थ

• •

पिछले प्रकरणों मे सम्यग्दर्शन की प्रधानता, माहात्म्य, प्रभाव और लाभ के सम्बन्ध मे अनेक पहलुओ से सभी बातें स्पष्ट की जा चुकी है। इसलिए अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह सम्यग्दर्शन क्या है? उसका अर्थ, लक्षण, स्वरूप और व्याख्या क्या है? इस प्रकरण में इन सभी मुद्दो पर चिन्तन प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थ

सम्यग्दर्शन शब्द 'सम्यक्' और 'दर्शन' इन दो शब्दो के संयोग मे बना हुआ आध्यात्मिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। जैनधर्म का तो यह पारिभाषिक और प्राणस्वरूप शब्द है। पहले हम 'दर्शन' शब्द के अर्थ पर विश्लेषण कर लें। दर्शन शब्द का यहाँ विवक्षित अर्थ समझ लिया तो सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ आसानी से समझ मे आ जाएगा।

तत्त्व-चिन्तन की एक विशेष प्रकार की विचारधारा भी हमारे यहाँ दर्शन[1] के नाम से प्रचलित है। जैसे—जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, साख्यदर्शन आदि। पर यहाँ उस दर्शन के अर्थ में यह शब्द अभीष्ट नहीं है। पाश्चात्य दर्शन में 'दर्शन' की प्रतिध्वनि फिलासफी (Philosophy) शब्द में हुई है, जो 'फिलास' (प्रेम) और 'सोफिया' (विद्या) इन दो ग्रीक शब्दों के संयोग से बना है। इसका अर्थ हुआ—विद्या (ज्ञान) के प्रति प्रेम (अनुराग); किन्तु प्रस्तुत मे दर्शन का यह अर्थ भी अभीप्सित नहीं है।

ज्ञान और दर्शन, ये दोनों भिन्नार्थक शब्द हैं। ज्ञान (विद्या) बुद्धि मे निष्पन्न है, जबकि दर्शन किसी से समुत्पन्न नहीं है। इसलिए वह प्रत्यक्षानुभूति है। बौद्धिक ज्ञान शब्दाश्रित होता है; उससे अहं पैदा होता है।

---

१. दर्शनानि षडेवात्र, मूलभेदव्यपेक्षया।
देवता तत्त्वभेदेन, ज्ञातव्यानि मनीषिभः॥ —षड्दर्शनसमुच्चय

१. सम्यग्दर्शन का अर्थ

• •

पिछले प्रकरणो में सम्यग्दर्शन की प्रधानता, माहात्म्य, प्रभाव और लाभ के सम्बन्ध में अनेक पहलुओ से सभी बातें स्पष्ट की जा चुकी है। इसलिए अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह सम्यग्दर्शन क्या है? उसका अर्थ, लक्षण, स्वरूप और व्याख्या क्या है? इस प्रकरण में इन सभी मुद्दो पर चिन्तन प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थ

सम्यग्दर्शन शब्द 'सम्यक्' और 'दर्शन' इन दो शब्दो के संयोग से बना हुआ आध्यात्मिक जगत् का एक महत्वपूर्ण शब्द है। जैनधर्म का तो यह पारिभाषिक और प्राणस्वरूप शब्द है। पहले हम 'दर्शन' शब्द के अर्थ पर विश्लेषण कर लें। दर्शन शब्द का यहाँ विवक्षित अर्थ समझ लिया तो सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ आसानी से समझ में आ जाएगा।

तत्त्व-चिन्तन की एक विशेष प्रकार की विचारधारा भी हमारे यहाँ दर्शन[1] के नाम से प्रचलित है। जैसे—जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्यदर्शन आदि। पर यहाँ उस दर्शन के अर्थ में यह शब्द अभीष्ट नही है। पाश्चात्य दर्शन में 'दर्शन' की प्रतिध्वनि फिलासफी (Philosophy) शब्द से हुई है, जो 'फिलास' (प्रेम) और 'सोफिया' (विद्या) इन दो ग्रीक शब्दो के संयोग से बना है। इसका अर्थ हुआ—विद्या (ज्ञान) के प्रति प्रेम (अनुराग), किन्तु प्रस्तुत में दर्शन का यह अर्थ भी अभीप्सित नही है।

ज्ञान और दर्शन, ये दोनो भिन्नार्थक शब्द हैं। ज्ञान (विद्या) बुद्धि से निष्पन्न है, जबकि दर्शन किसी से समुत्पन्न नही है। इसलिए वह प्रत्यक्षानुभूति है। बौद्धिक ज्ञान शब्दाश्रित होता है, उसमे अहं पैदा होता है।

---

१. दर्शनानि षडेवात्र, मूलभेदव्यपेक्षया।
   देवता तत्त्वभेदेन, ज्ञातव्यानि मनीषिभिः॥ —षड्दर्शनसमुच्चय

किन्तु दर्शन शब्दाश्रित नहीं है, उससे अहं की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत आस्था के स्वर फूटते हैं। विश्व में आज बौद्धिक ज्ञानरूप विज्ञान छाया हुआ है, जिसका अहं मनुष्य जाति को पृथक्-पृथक् करता है। दर्शन आज इस भौतिक विज्ञान से विच्छिन्न हो गया है। इसीलिए आए दिन युद्ध के बादल विश्व के आकाश में मँडराते हैं। विज्ञान के साथ दर्शन होता तो विश्व के लिए विज्ञान वरदान सिद्ध होता। उसमें से मानवमैत्री या प्राणिमैत्री का स्रोत फूटता, मानवजाति के हृदय परस्पर टूटते नहीं, जुड़ते।

जैनशास्त्रों में निराकार-उपयोग को दर्शन और साकार-उपयोग को ज्ञान कहा गया है, अथवा सामान्य ज्ञान के लिए दर्शन का और विशेष ज्ञान के लिए ज्ञान का प्रयोग हुआ है। परन्तु दर्शन शब्द सत्तामात्र का अवलोकन अर्थ में यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि सत्तामात्र वस्तु का अवलोकन तो मिथ्यादृष्टि भी तथा सामान्य गँवार व्यक्ति भी कर सकता है, तब फिर दर्शन की क्या विशेषता हुई? इसलिए दर्शन शब्द का वस्तु की सत्तामात्र का अवलोकन अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है।

दर्शन शब्द का जन्म 'दृश प्रेक्षणे'[1] धातु से हुआ है। इसलिए दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—'दृश्यतेऽनेन अस्मात् अस्मिन् वेति दर्शनम्'—जिसके द्वारा देखा जाय, जिससे देखा जाय या जिसमें देखा जाय। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन शब्द के अनेक अर्थ अभिधान संग्रह में पाये जाते हैं। देखना, दर्शन धर्म उपलब्धि, बुद्धि, शास्त्र, स्वप्न, लोचन, वर्ण और [illegible], इतने अर्थ दर्शन शब्द के आसपास घूमते हैं।

आँखों से देखना भी दर्शन है। तथा दर्शन चक्षु आदि के निमित्त से [illegible] रूप से संसारी जीवों में पाया ही जाता है, इसलिए इस [illegible] मान्यता का खण्डन उचित नहीं है। क्योंकि जीवन भी सभी के पास है और दर्शन भी। परन्तु क्या सभी जीवन में देखकर चलते हैं? [illegible] जीवन जीते हैं परन्तु उनके जीवन के साथ दर्शन का [illegible] है। जीवन क्या है? इसे भी वे नहीं समझते। आत्मा के संयोग से जीवन [illegible] है, पर क्या सभी इस जीवन का दर्शन [illegible]

---

[1] [illegible] —[illegible]
[2] [illegible]
[illegible]
[illegible] —[illegible]

करते है ? साधारण प्राणी तो आँखों से देखने को ही दर्शन कहते हैं । जीवन इतना विशाल है, बहुक्षेत्रव्यापी है कि साधारण मनुष्य इसे देख ही कहाँ पाता है ? फिर केवल आँखो से देखना ही तो दर्शन नही होता । साधारण आदमी जो देखते हैं, वह देखना भी देखना नही, वह दर्शन नहीं है । हमारे आचार्यों ने देखने का भी गंभीर अर्थ बताया है—आँखें बन्द करके देखना । उस दर्शन मे श्रवण, मनन, निदिध्यासन, विचारणा, तर्क-वितर्क, आदि सबका समावेश हो जाता है । यह एक प्रकार से अन्तर्दर्शन है, और इसे ही वास्तविक दर्शन माना है ।

अगर किसी को कहा जाए कि आँखें बन्द करके देखो, तो वह नही देख सकेगा । इन्द्रियाँ इतनी दुर्वल होती हैं कि जरा-सा व्यवधान आते ही दर्शन रुक जाता है । दूरस्थ पहाड़ को भी देखना हो तो ऊपर चढकर देखा जाता है । आँखें कमजोर हो तो वह भी नही दिखाई देता । अनन्त परमाणु, कीटाणु, त्रसरेणु आदि चक्कर लगा रहे है, पर सूक्ष्म होने के कारण वे नही दिखाई देते । एक सड़क हमारे सामने है, यदि हम उसे दूर से देखते हैं तो पतली काली-सी रेखा के समान दिखाई देती है । हजारो मन धान के ढेर में एक दाना सरसों का डाल दिया जाए तो वह निकट होते हुए भी दिखाई नही देता । यह दर्शन है ही नही । इसीलिए हमारे ऋषि-मुनियों तथा दार्शनिकों ने कहा—तुम्हारा देखना अधूरा है । जरा सूक्ष्मता से विचार करें तो दर्शन का अर्थ विशेष देखना प्रतीत होता है । आँख से जो-जो बोध होता है, उसे भी 'देखना' या 'दर्शन' कहा जाता है, पर वह सामान्य-सा, हल्का-सा दर्शन है,[1] उससे किसी पदार्थ का बोध गहराई से नही होता । दर्शन का अर्थ केवल नेत्रजन्य बोध ही नही, अपितु किसी भी इन्द्रिय से होने वाला बोध, बल्कि इससे भी आगे बढकर कहे तो आँखें बन्द करके मन को एकाग्र करके देखना—दर्शन है, जहाँ दूरी या सूक्ष्मता देखने में बाधक नही बनती ।

एक जगह एक हिरणी पाँव से लंगड़ाती हुई एक जल-स्रोत के पास आई, स्रोत में कुछ देर तक पैर रखकर वह पुन. चली गई । लगातार तीन दिनों तक उसका यही क्रम रहा । चौथे दिन वह हिरणी बिल्कुल स्वस्थ हो गई । जिस मनुष्य ने इसे देखने का यत्न किया, उसने इसमें से बोध

१. आलोचस्तु चक्षुरादिनिमित्तत्वात् सर्वसंसारिजीव साधारणत्वान्न मोक्षमार्गे युक्तः ।
—सर्वार्थसिद्धि १।२।६।३.

लिया। इसी पर से उसने प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का आविष्का
किया।

एक मनुष्य स्वयं रुग्ण था। उसने एक बच्चे को देखा कि वह 'ला-ल
का उच्चारण करता हुआ जोर-जोर से श्वास ले रहा है। इससे उस बच्चे क
रोग मिट गया। इसी पर से उस दर्शक ने स्वर-चिकित्सा (ट्यूनोथेर
को जन्म दिया। बड़े-बड़े कलाकार, चित्रकार, कथाकार एवं कवियों
प्रकृति के विविध दृश्यों का 'एकाग्रता' से निरीक्षण करने का प्रयत्न किया
चित्त को व्यक्ति जहाँ एकाग्र करके जानने का प्रयत्न करता है। वहाँ उ
उस वस्तु का दर्शन हो ही जाता है। आज का मनुष्य प्रायः ऐसे दर्शन से
दूर होता जा रहा है। जिसे पीलिया की बीमारी हो जाती है, उसे सब कु
पीला ही पीला नजर आता है। नब्बे प्रतिशत लोगों का जीवन और ज
के प्रति गहन दर्शन—दृष्टिकोण नहीं है।

कहावत है—'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि', जैसा विचार, वैसा समा
अन्तर् में निहित दृष्टिकोण—विचार का प्रतिबिम्ब ही बाहर झलकता
अन्तर् में यदि शुद्ध विश्वमैत्री की, निःस्वार्थ बन्धुत्व की भावना या द
हो तो बाहर में किसी के प्रति कहीं भी द्वेष या शत्रुता नहीं रहेग
भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि "आपका कोई शत्रु भी है?"
उन्होंने कहा—'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई' मेरी सब प्राणियों के स
मैत्री है, मेरा किसी के साथ वैर-विरोध या शत्रुता नहीं है। अर्थात्—म
कोई शत्रु नहीं है। उस युग में उनका विरोध करने वाले अनेक लोग
उनका खण्डन करने वाले एवं उनके प्रति शत्रुता रखने वाले भी कई
थे। किन्तु भगवान् महावीर ने किसी को अपना शत्रु नहीं माना। उन
दृष्टि में गौतम और गोशालक दोनों पर समभाव रहा। जब शत्रुता
भाव उनकी दृष्टि में नहीं रहा, तो कोई शत्रु कैसे दीख सकता था उन्हें

सम्यग्दर्शन यहाँ मोक्ष के अंगभूत साधन के रूप में है, इसलिए
दर्शन शब्द का अर्थ केवल देखना ही नहीं है, अपितु प्रस्तुत प्रसंग में द
शब्द के दो अर्थ फलित होते हैं—'दृष्टि' और 'निश्चय'। 'दृष्टि' कहीं
भ्रान्त भी हो सकती है, निश्चय भी गलत हो सकता है, इसलिए दर्श
पूर्व 'सम्यक्' शब्द जोड़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है—वह दृष्टि जि
किसी प्रकार की भ्रान्ति न हो, वह निश्चय जो अयथार्थ न होकर, य
हो।

सम्यग्दर्शन : शुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि से देखना

चेतना की बाह्योन्मुखी दृष्टि ज्यों-ज्यों छूटती जाती है, त्यों-त्यों अन्तर्मुखी दृष्टि जागृत होती है, ऐसी स्थिति मे अपने और दूसरों के सम्बन्ध में बाह्यदृष्टि से नही, शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से मनुष्य एकात्मता का अनुभव करने लगता है, शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है, यही वास्तव धर्म है, यही सम्यग्दर्शन है। जब व्यक्ति अन्तर्मुख होकर अपने भीतर देखता है, तो वह अपने सम्बन्ध मे भी झटपट निर्णय कर सकता है। यह क्रिया-काण्ड, विधि-विधान या नियमोपनियम मेरे आत्म-विकास के अनुरूप एवं आत्मलक्ष्यी हैं या नही ? दृष्टि यदि स्पष्ट और अन्तर्मुखी होगी तो वे बाह्य विधि-विधान या क्रिया-काण्ड धर्म का रूप ले लेंगे, अन्यथा नही। जब तक दृष्टि स्पष्ट और अन्तर्मुखी नही होगी, तब तक वैर-विरोध, घृणा, विद्वेष और शत्रुता का कोहरा जो आत्मा पर छाया हुआ है, वह साफ नही होगा। दृष्टि पर छाई हुई मलिनता को जब तक दूर नही किया जाएगा, तब तक आन्तरिक शान्ति नही मिलेगी।

दर्पण में जब चेहरे पर कोई दाग दिखाई देता है, तब कई स्थूल दृष्टि लोग दर्पण को साफ करने की चेष्टा करते हैं, जबकि दाग होता है, चेहरे पर। दर्पण को साफ करने से चेहरे का दाग कैसे मिट सकता है ? चेहरे को साफ करने से ही दर्पण मे प्रतिबिम्बित दाग मिट सकता है। इसी प्रकार बाहर प्रतिबिम्बित होने वाले दोष तभी शुद्ध होंगे, जब व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि शुद्ध बनाएगा। अन्तर्दृष्टि शुद्ध होने पर संसार-समुद्र खारा नही, क्षीरसागरसम मधुर प्रतीत होगा। जब तक व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि शुद्ध नही होगी, तब तक जीवन के दर्पण पर अनेक दोष, कलक लगे प्रतीत होंगे। दृष्टि की इतनी शुद्धि, इतनी एकाग्रता और इतना आन्तरिक परिवर्तन ही जैनदर्शन की भाषा मे सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादर्शन के परिणाम दु:ख-अशान्ति

व्यक्ति का दर्शन जब गलत, मिथ्या या विपरीत होता है तो उसकी स्थिति सावन के अन्धे की-सी हो जाती है, फिर प्रत्येक वस्तु को ही वह उसके अयथार्थ रूप में देखने लगता है, अन्ततोगत्वा वह पतन और दुःख के गर्त में गिरता है। आज का मानव प्राय इतना दु:खी, निराश एवं चिन्तित क्यों है ? इसलिए है, कि वह सम्यग्दर्शन को खो बैठा है। वह वस्तुओ को, परिस्थितियों को उनके यथार्थ रूप में समग्रता से देखता ही नही है। वह आस्रव एव बन्ध को सुख एवं स्वतन्त्रता का मार्ग मानता है ...

और भी अनेक रूप हैं—पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि। बाहर से समस्याओं के ये विभिन्न रूप हैं, परन्तु अन्दर में सबका रूप एक है, उनका स्वभाव और प्रकृति एक है।

कई मिथ्यादृष्टि एवं अभव्य भी शान्ति और एकाग्रता से जीवन-जगत् की समस्याओं को देखते हैं, परन्तु उनका दर्शन यथार्थ नहीं होता, उनकी दृष्टि ही दोषपूर्ण होती है, उनका मन निर्मल नहीं होता, फिर उन्हें विषय स्पष्ट कैसे दीखेगा ? वे सोचते-विचारते बहुत हैं, लेख भी लिख सकते हैं, घंटों धाराप्रवाह भाषण भी दे सकते हैं, परन्तु दिव्यदृष्टि एवं मन की निर्मलता के बिना केवल मन की एकाग्रता से किया हुआ रटा-रटाया ज्ञान आत्मलक्षी एवं यथार्थ नहीं होता।

मन की निर्मलता यथार्थदर्शन के लिए अनिवार्य

मन की निर्मलता और यथार्थदर्शन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यथार्थ-दर्शन के लिए मन का स्फटिक की भाँति निर्मल होना अनिवार्य है। मन जितनी मात्रा में निर्मल होगा, उसी मात्रा में वस्तुएँ उनके यथार्थरूप में दीखने लगेंगी। मन का निर्मल होना सहज स्वाभाविक नहीं है। उसके नियम बड़े गहरे हैं। मन की निर्मलता का अभ्यास प्रारम्भ होता है—सम्यग्दर्शन की सतत प्रक्रिया से। इसमें मन सरल होता जाता है, और सरल निश्छल मन यथार्थदर्शन के योग्य होता जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्रक्रिया

सम्यग्दर्शन की प्रक्रिया है—समस्याओं के मूल रूप की खोजना, बार-बार सिद्धान्तों और तत्त्वों के साथ मिलान करना और उसका समाधान आत्मलक्षी दृष्टि से करना। दर्शन बाहर में नहीं, अन्दर में गहरा उतरता है। उपनिषद् की भाषा में कहें तो 'चक्षुर्वै सत्यम्'[1] चक्षु ही सत्य है—दर्शन-अन्तश्चक्षु ही सत्य है—सर्वहितकर है। वही अन्दर की आँख है, जो हजारों परतों को भेदकर, सहस्रों आवरणों को चीरकर सत्य का साक्षात्कार करता है। दर्शन जीवन की दिव्यदृष्टि है, जो जीवन की दिव्य सृष्टि का सर्जन करता है। दर्शन—सम्यग्दर्शन अपने आपमें धर्म—आत्मा के स्वभाव—को अपने में समेटे हुए है। जो दर्शन आत्मलक्षी होगा, वही वर्तमान समस्त समस्याओं को हल कर सकेगा, अध्यात्म के नाम से रटा-

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १। १। ४.

दर्शन शब्द का श्रद्धादि अर्थ : क्यों और कैसे ?

इसीलिए दर्शन शब्द का अर्थ यहाँ श्रद्धा किया गया है। आचार्य पूज्य-पाद ने एक तर्क उठाकर इसका समाधान भी किया है—'दृशि' धातु का प्रसिद्ध अर्थ आलोक—देखना है, श्रद्धा अर्थ तो इसका संगत ही नहीं होता, न ही किसी को दर्शन कहने से श्रद्धा अर्थ का सहसा बोध होता है। फिर यहाँ उस प्रसिद्ध अर्थ का त्याग क्यों किया गया ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—'यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से तत्त्वार्थों का श्रद्धानरूप जो आत्मा का परिणाम होता है, वही तो मोक्ष का साधन बन सकता है ? क्योंकि सम्यग्दर्शन भव्यों में ही पाया जाता है, किन्तु आलोक—प्रेक्षण तो चक्षु आदि के निमित्त से होता है, वह साधारणतया सभी संसारी जीवों में पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना उचित नहीं है।'[1] यही कारण है कि धवला एवं महापुराण में दर्शन शब्द के श्रद्धा, रुचि, स्पर्श, प्रत्यय या प्रतीति आदि शब्द पर्यायवाची बताये गये हैं।[2]

कई शब्द इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक होते हैं, तो कई शब्द मनोगम्य पदार्थ के बोधक होते हैं। जहाँ शब्द का अर्थ इन्द्रियगम्य हो, वहाँ उसके अर्थ की बोधकता में संशोधन-परिवर्तन करने का काम आसान होता है, लेकिन जहाँ शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय या मनोगम्य मात्र हो, वहाँ अर्थ में संशोधन-परिवर्तन करने का कार्य अत्यन्त कठिन होता है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन ये दोनों शब्द गाय, घोड़ा आदि शब्दों की तरह इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक न होकर मनोगम्य या अतीन्द्रिय भावों के सूचक हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में जो आचार्य परम्परा से प्राप्त अर्थ है, उन्हीं से प्रस्तुत करके सन्तोष करना ठीक रहता है।

यही कारण है कि कई आचार्यों ने दर्शन शब्द के अर्थ को परि-

---

1 (क) सर्वार्थसिद्धि १।२।१२

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक १।२।२–८

2 (क) श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्यायाः। —महापुराण [illegible]

(ख) धवला [illegible]

(ग) [illegible] श्रद्धा [illegible] पदार्थाः अनेकोपमादर्शिताः [illegible] —[illegible]

(घ) [illegible] भाग ६, पृष्ठ २८२५

करके प्रस्तुत किया है, जैसे कि तत्त्वार्थभाष्य में दर्शन शब्द का अर्थ प्रस्तुत किया है :—

"दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिरेतत् सम्यग्दर्शनम् ।"

"दृश धातु से निष्पन्न दर्शन शब्द का अर्थ है—व्यभिचारशून्य अर्थात् निर्दोष सभी इन्द्रियों एवं अनिन्द्रिय के द्वारा हुई अर्थ-प्राप्ति—अर्थ का ज्ञान । यही सम्यग्दर्शन है ।"

प्रवचनसार की टीका में आचार्य ने कहा है :—

दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम् ।[1]

"दर्शन शब्द से निजशुद्ध आत्मश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिए ।"

नियमसार तात्पर्यवृत्ति में भी देखिये—

"दर्शनमपि जीवास्तिकायसमुपजनितपरम श्रद्धानमेव भवति ।"[2]

"शुद्ध जीवास्तिकाय से उत्पन्न होने वाला जो परम श्रद्धान है, वही दर्शन है ।" जहाँ तत्त्व या किसी भी पदार्थ का निश्चय, श्रद्धान, विवेक या रुचि आत्मलक्षी हो, वही सम्यग्दर्शन होता है । उत्तराध्ययनसूत्र में भी स्पष्ट किया गया है—

'नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।'[3]

"सम्यग्ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है ।

प्राचीन मनीषियों के इस चिन्तन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शन का अर्थ सम्यग्श्रद्धा—यथार्थ निश्चय है ।

'सम्यक्' विशेषण लगाने का प्रयोजन

दर्शन आत्मा का गुण है । मिथ्यादर्शन आत्मा का अशुद्ध पर्याय है, जबकि सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध पर्याय है । मिथ्यादर्शन आत्मलक्षी दर्शन नहीं होता, वह आत्मा का वैभाविक परिणाम होता है, जबकि सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वाभाविक परिणाम होता है । निष्कर्ष यह है कि यदि दृष्टि सही हो तो उसके मार्ग-दर्शन में जीया हुआ जीवन भी कलंक-मुक्त निर्दोष होगा, और अगर दृष्टि भ्रान्त या विपरीत होगी तो तदनुसार

---

१. प्रवचनसार ता० वृ० २४०। ३३३।१५
२. नियमसार ता० वृ० ३।
३. उत्तराध्ययन सूत्र २८।३५.

जीवन भी दोषयुक्त या मत्सरयुक्त होगा। राजवार्तिक में भी इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि स्वपर-स्वरूप की अदर्शन-अप्रतीति—अयथार्थ अवलोकन ही मिथ्यादर्शन है, इसके विपरीत यथार्थ अवलोकन सम्यग्दर्शन है। पंचाध्यायी में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रशः ।
सपक्षवद् विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥[1]

"सम्यक् और मिथ्या विशेषण दर्शन या श्रद्धा आदि के लगाये बिना ये लक्षण सपक्ष (सम्यग्दृष्टि) की तरह विपक्ष (मिथ्यादृष्टि) में भी चले जाने से व्यभिचार दोष से युक्त हो जाएँगे।"

दर्शन के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण लगाने का एक उद्देश्य यह भी है कि देखना सम्यक् हो। सम्यक् का अर्थ शुद्ध या सत्य है। सम्यग्दृष्टि भी गाय को गाय और घोड़े को घोड़ा कहता है, जानता-मानता भी है, मिथ्यादृष्टि भी इसी तरह जानता-मानता-कहता है। वह भी गाय को न तो घोड़ा मानता है, न कहता है। बाहर से दोनों की दृष्टि एक ही है, दोनों का बाह्य दर्शन एक-सा है। परन्तु इतना दर्शन (देखना) पूर्ण नहीं है। सम्यग्दृष्टि गाय और घोड़े को भी अपनी ही तरह एक आत्मा-चैतन्ययुक्त प्राणी मानता है, उनको भी अपनी तरह सुख-दुःखानुभूति होती है, यह मानता है और अपने निमित्त से उनको किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, हिंसा न हो, इस प्रकार की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से वह देखता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक गाय और घोड़े को पालेगा तो भी उनके साथ कुटुम्ब या स्व-सन्तान का-सा व्यवहार रखेगा। परन्तु मिथ्यादृष्टि इस प्रकार से नहीं देखता, वह उनको पशु समझकर निर्दयता से पीट भी देता है, उन्हें चारा-दाना कम खिलाता है, समय पर उनके सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखता, उनको कष्ट भी पहुँचाता है। उसकी दृष्टि गाय और घोड़े के प्रति स्वार्थी रहती है, मात्र उनसे लाभ के पाने की दृष्टि रहती है।

हीरे को एक ग्रामीण भी देखता है, और जौहरी भी। ग्रामीण उस हीरे को एक चमकीले पत्थर के रूप में देखता है, वह उसका ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाता, जबकि जौहरी की आँखें उस हीरे को तुरन्त परख लेती हैं, उसकी ठीक कीमत आंक लेती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के द्वारा गाय को देखने में और भी अन्तर है। मिथ्यादृष्टि गाय को सत्य

---

१ पंचाध्यायी (उत्त०), ४१७।

कहता है, लेकिन वह गाय का केवल वर्तमान स्थूल रूप ही देखकर रह जाता है, जबकि सम्यग्दृष्टि गाय के आन्तरिक एवं सूक्ष्म रूप को देखता है। वह गाय को देखकर कहता या मानता है—"यह आत्मा की एक पर्याय है। गाय के चोले में है। इसकी गायरूप पर्याय रहे या न रहे, इसमें निहित आत्मद्रव्य तो शाश्वत रहेगा और यह मेरे समान ही एक आत्मा है। अतीत में इस आत्मा के अनन्त जन्म और विविध पर्याय हो चुके हैं, भविष्य में भी वह कायम रहेगी। यह आत्मा एक दिन अपनी समस्त विभाव दशाओं का परित्याग कर स्वभाव दशा में स्थित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकती है।" यह है—सम्यग्दर्शनसम्पन्न आत्मा की देखने की रीतिनीति!

दर्शन से पूर्व 'सम्यक्' शब्द लगाने का महत्त्व

यों तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों से पूर्व 'सम्यक्' शब्द लगाया जाता है। परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन की चर्चा चल रही है कि दर्शन से पूर्व सम्यक् पद लगाने का क्या महत्त्व है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि दर्शन के पूर्व 'सम्यक्' शब्द लगाने से उसमें एक विशेषता आ जाती है, वह एक आध्यात्मिक रत्न बन जाता है। मोक्ष का अंग, या मार्ग भी वह तभी बनता है, जब उसके पूर्व सम्यक् शब्द लगाया जाए। अगर दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द नहीं जोड़ा जाए तो मिथ्यादर्शन भी मोक्ष का अंग मान लिया जाएगा, क्योंकि दर्शन का दर्शनत्व[1] वहाँ पर भी रहता है। अध्यात्म-जगत् में मिथ्यादर्शन को मोक्ष का अंग न मानकर संसार का ही अंग माना जाता है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष के अंग रूप में मान्यता मिली है।

दर्शन आत्मा का निजगुण होने पर भी मिथ्यात्वदशा में वह आत्म-लक्ष्यी न होकर परलक्ष्यी बना रहता है। अतः दर्शन-गुण का आत्मलक्ष्यी होना ही सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन है और परलक्ष्यी होना ही मिथ्यात्व—मिथ्यादर्शन है।

मोक्ष की साधना में दर्शन का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका आत्मलक्ष्यी होना भी परम आवश्यक है, यही बात ज्ञान और चारित्र के लिए है। आत्मा में दर्शन तो रहा, परन्तु वह 'स्व' की ओर उन्मुख न रहकर 'पर' की ओर रहा, आत्मलक्ष्यी के बदले परलक्ष्यी रहा तो वहाँ

---

१ 'दंसणे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—सम्मदंसणे चेव मिच्छादंसणे चेव।

—स्थानाग स्था० २, उ० १

अनुचित है। साधारण गृहस्थ को आँखों से धन की एक थैली के बदले चार थैली दिखाई दे तो भी वह पसन्द नही करेगा, वह उसे नेत्र-रोग समझकर उसका इलाज कराएगा। एक की दो या चार वस्तुएँ दिखाई देना कोई प्रसन्नता की बात नही होती। जो वस्तु जैसी और आकृति मे जितनी है, वह ठीक उसी रूप में दिखाई दे, तभी हृदय में प्रसन्नता आती है। किसी की आँखे कमजोर हैं। डाक्टर एक जोड़ी काँच उसकी आँखों पर चढ़ाता है, यदि उसमे अक्षर छोटे दिखाई देते हैं, तो वह झट कह देता है—"डाक्टर साहब! यह काँच नही चाहिए।" इस पर डाक्टर दूसरी जोड़ी काँच की बदलता है, उससे यदि उसे अक्षर बहुत बड़े दिखाई देते हैं तो भी वह उस काँच से इन्कार कर देगा। जैसे अक्षर हों, वैसे ही दिखाई दें तो वह उस चश्मे को स्वीकार कर लेगा। सम्यग्दर्शन भी एक चश्मा है, जो वस्तु को न तो एकान्तनित्य दिखाता है, और न एकान्तअनित्य, क्योंकि वस्तु को केवल नित्यरूप में देखना भी मिथ्या है और केवल अनित्यरूप में देखना भी भ्रान्ति है। वस्तु नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्यरूप मे नित्य है, जबकि पर्याय रूप से अनित्य है। पदार्थ को उभयरूप में देखना ही सत्यदर्शन या सम्यग्दर्शन है।

सम्यक् शब्द लगाने से दर्शन स्व-पर-दर्शक बनता है

मान लीजिए—दो व्यक्ति हैं, दोनों कैद में बन्द हैं। एक को लोहे की बड़ी कोठरी में बन्द किया है, दूसरे को काँच की कोठरी में। बन्धन दोनो के लिए है। पहला अँधेरे मे न अपने को देखता है, न दूसरे को; जबकि दूसरा व्यक्ति अपने को भी देखता है, दूसरे को भी, क्योंकि उसकी कोठरी में प्रकाश है।

यही कहानी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की है। मुक्त तो एक भी नहीं है, दोनो ही संसाररूपी कैद की कोठरी में बन्द हैं। परन्तु पहले की कोठरी मे अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, कषाय आदि का घोर अन्धकार है वह न तो 'स्व' को देख सकता है, और न 'पर' को। जबकि दूसरे की कोठरी में ज्ञानादि का प्रकाश है, रागादि का अँधेरा नहीं है, वह 'स्व' को भी—अपने आत्मा को भी देख सकता है, और पर—संसार के सभी पर-पदार्थों को, पर-भावों को जान-देख सकता है। सम्यग्दर्शन-प्राप्त व्यक्ति स्व-पर-भेद विज्ञान कर लेता है, इसका रहस्य समझ लेता है, वह पर के साथ सम्बन्ध रखता हुआ भी या पर का उपयोग करता हुआ भी अन्दर से निर्लिप्त रहता है, पर की आसक्ति या रागद्वेष में फँसता नहीं, क्योंकि वह सदैव स्व

है कि ये मेरे नहीं हैं। अतः उन पर न तो राग करता है, न द्वेष। सम्यग्दृष्टि के दर्शन की यही खूबी है।

सम्यग्दर्शन हेय-ज्ञेय-उपादेयविवेक

दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का यह भी प्रयोजन है कि तब दर्शन सामान्य दर्शन न रहकर हेय, ज्ञेय, उपादेय को—वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने लगेगा। तब दर्शन (सम्यग्दर्शन) का अर्थ हो जायेगा—हेय को हेय (त्याज्य) रूप में देखना, ज्ञेय को ज्ञेय रूप में देखना और उपादेय को उपादेय रूप में देखना।

अध्यात्मशास्त्रों में विश्व के अनन्तानन्त पदार्थों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है—हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय कहते हैं—छोड़ने योग्य पदार्थों को, ज्ञेय कहते हैं—जानने योग्य पदार्थों को और उपादेय कहते हैं—ग्रहण करने योग्य पदार्थों को। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन का परिष्कृत अर्थ हुआ—विश्व के समस्त पदार्थों में से हेय पदार्थों को हेय रूप में देखना-जानना, ज्ञेय पदार्थों को ज्ञेय रूप में जानना और उपादेय पदार्थों को उपादेय रूप में जानना-देखना।

सम्यग्दृष्टि सर्वप्रथम यह विवेक करता है कि अमुक पदार्थ इन तीनों में से किस कोटि का है ? हेय कोटि का है, ज्ञेय कोटि का है या उपादेय कोटि का ? तत्पश्चात् यह विचार करता है कि वह हेय पदार्थ है, तो हेय—त्याज्य क्यों है ? इसी तरह वह उपादेय पदार्थ है तो विचार करता है कि उपादेय क्यों है ? मेरे जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है ? उससे क्या लाभ है ? इसी प्रकार ज्ञेय के सम्बन्ध में वह विचार करता है कि वह ज्ञेय क्यों है ? हिंसा, असत्य आदि आस्रव, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय और राग-द्वेषादि जो पदार्थ हेय हैं, जिन पदार्थों का त्याग करना है, वे त्याज्य क्यों हैं ? यदि किसी व्यक्ति ने हिंसादि किसी भी पदार्थ-विशेष को छोड़ने से पूर्व उसकी हेयता का सम्यक्रूप से बोध नहीं किया है, और केवल जोश या आवेश में आकर, देखा-देखी, शर्मा-शर्मी, लिहाज से या मुलाहिजे या दबाव में आकर उसे छोड़ा है, अथवा किसी स्वार्थ, लोभ, प्रलोभन या घृणा से, द्वेष से या भय से छोड़ा है, अथवा यशोलिप्सा, पद-लिप्सा या प्रतिष्ठालिप्सा के वश छोड़ा है तो उसका वह त्याग सच्चा त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्याग से बन्धनमुक्ति नहीं हो सकती। जिसने किसी पदार्थ को छोड़ने से पहले उसकी हेयता का भलीभाँति बोध कर लिया है,

अनुचित है। साधारण गृहस्थ को आँखों से धन की एक थैली के बदले चार थैली दिखाई दे तो भी वह पसन्द नहीं करेगा, वह उसे नेत्र-रोग समझकर उसका इलाज कराएगा। एक की दो या चार वस्तुएँ दिखाई देना कोई प्रसन्नता की बात नहीं होती। जो वस्तु जैसी और आकृति में जितनी हो, वह ठीक उसी रूप में दिखाई दे, तभी हृदय में प्रसन्नता आती है। किसी की आँखें कमजोर हैं। डाक्टर एक जोड़ी काँच उसकी आँखों पर चढ़ाता है, यदि उससे अक्षर छोटे दिखाई देते हैं, तो वह झट कह देता है—"डाक्टर साहब ! यह काँच नहीं चाहिए।" इस पर डाक्टर दूसरी जोड़ी काँच की बदलता है, उससे यदि उसे अक्षर बहुत बड़े दिखाई देते हैं तो भी वह उस काँच से इन्कार कर देगा। जैसे अक्षर हों, वैसे ही दिखाई दें तो वह उस चश्मे को स्वीकार कर लेगा। सम्यग्दर्शन भी एक चश्मा है, जो वस्तु को न तो एकान्तनित्य दिखाता है, और न एकान्तअनित्य, क्योंकि वस्तु को केवल नित्यरूप में देखना भी मिथ्या है और केवल अनित्यरूप में देखना भी भ्रान्ति है। वस्तु नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्यरूप से नित्य है, जबकि पर्याय रूप से अनित्य है। पदार्थ को उभयरूप में देखना ही सत्यदर्शन या सम्यग्दर्शन है।

सम्यक् शब्द लगाने से दर्शन स्व-पर-दर्शक बनता है

मान लीजिए—दो व्यक्ति हैं, दोनों कैद में बन्द हैं। एक को लोहे की बड़ी कोठरी में बन्द किया है, दूसरे को काँच की कोठरी में। बन्धन तो दोनों के लिए है। पहला अँधेरे में न अपने को देखता है, न दूसरे को; जबकि दूसरा व्यक्ति अपने को भी देखता है, दूसरे को भी, क्योंकि उसकी कोठरी में प्रकाश है।

यही कहानी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की है। मुक्त तो एक भी नहीं है, दोनों ही संसाररूपी कैद की कोठरी में बन्द हैं। परन्तु पहले की कोठरी में अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, कषाय आदि का घोर अन्धकार है वह न तो 'स्व' को देख सकता है, और न 'पर' को। जबकि दूसरे की कोठरी में ज्ञानादि का प्रकाश है, रागादि का अँधेरा नहीं है, वह 'स्व' को भी—अपनी आत्मा को भी देख सकता है, और पर—संसार के सभी पर-पदार्थों को, पर-भावों को जान-देख सकता है। सम्यग्दर्शन-प्राप्त व्यक्ति स्व-पर-भेद-विज्ञान कर लेता है, इसका रहस्य समझ लेता है, वह पर के साथ व्यवहार करता हुआ भी या पर का उपयोग करता हुआ भी अन्तर् से निर्लिप्त रहता है, पर की आसक्ति या रागद्वेष में फँसता नहीं; क्योंकि वह सदैव-सतत जानता

है कि ये मेरे नहीं हैं। अतः उन पर न तो राग करता है, न द्वेष। सम्यग्दृष्टि के दर्शन की यही खूबी है।

सम्यग्दर्शन हेय-ज्ञेय-उपादेयविवेक

दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का यह भी प्रयोजन है कि तब दर्शन सामान्य दर्शन न रहकर हेय, ज्ञेय, उपादेय को —वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने लगेगा। तब दर्शन (सम्यग्दर्शन) का अर्थ हो जायेगा—हेय को हेय (त्याज्य) रूप में देखना, ज्ञेय को ज्ञेय रूप में देखना और उपादेय को उपादेय रूप में देखना।

अध्यात्मशास्त्रों में विश्व के अनन्तानन्त पदार्थों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है—हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय कहते हैं—छोड़ने योग्य पदार्थों को, ज्ञेय कहते है—जानने योग्य पदार्थों को और उपादेय कहते हैं—ग्रहण करने योग्य पदार्थों को। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन का परिष्कृत अर्थ हुआ—विश्व के समस्त पदार्थों में से हेय पदार्थों को हेय रूप में देखना-जानना, ज्ञेय पदार्थों को ज्ञेय रूप से जानना और उपादेय पदार्थों को उपादेय रूप से जानना-देखना।

सम्यग्दृष्टि सर्वप्रथम यह विवेक करता है कि अमुक पदार्थ इन तीनों में से किस कोटि का है ? हेय कोटि का है, ज्ञेय कोटि का है या उपादेय कोटि का ? तत्पश्चात् यह विचार करता है कि वह हेय पदार्थ है, तो हेय—त्याज्य क्यों है ? इसी तरह वह उपादेय पदार्थ है तो विचार करता है कि उपादेय क्यों है ? मेरे जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है ? उससे क्या लाभ है ? इसी प्रकार ज्ञेय के सम्बन्ध में वह विचार करता है कि वह ज्ञेय क्यों है ? हिंसा, असत्य आदि आस्रव, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय और राग-द्वेषादि जो पदार्थ हेय हैं, जिन पदार्थों का त्याग करना है, वे त्याज्य क्यों हैं ? यदि किसी व्यक्ति ने हिंसादि किसी भी पदार्थ-विशेष को छोड़ने से पूर्व उसकी हेयता का सम्यक्रूप से बोध नहीं किया है, और केवल जोश या आवेश में आकर, देखा-देखी, शर्मा-शर्मी, लिहाज से या मुलाहिजे या दबाव में आकर उसे छोड़ा है, अथवा किसी स्वार्थ, लोभ, प्रलोभन या घृणा से, द्वेष से या भय से छोड़ा है, अथवा यशोलिप्सा, पद-लिप्सा या प्रतिष्ठालिप्सा के वश छोड़ा है तो उसका वह त्याग सच्चा त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्याग से बन्धनमुक्ति नहीं हो सकती। जिसने किसी पदार्थ को छोड़ने से पहले उसकी हेयता का भलीभाँति बोध कर लिया है,

अनुचित है। साधारण गृहस्थ को आँखों से धन की एक थैली के बदले चार थैली दिखाई दे तो भी वह पसन्द नहीं करेगा, वह उसे नेत्र-रोग समझकर उसका इलाज कराएगा। एक की दो या चार वस्तुएँ दिखाई देना कोई प्रसन्नता की बात नहीं होती। जो वस्तु जैसी और आकृति में जितनी हो, वह ठीक उसी रूप में दिखाई दे, तभी हृदय में प्रसन्नता आती है। किसी की आँखें कमजोर हैं। डाक्टर एक जोड़ी काँच उसकी आँखों पर चढ़ाता है, यदि उससे अक्षर छोटे दिखाई देते हैं, तो वह झट कह देता है—"डाक्टर साहब! यह काँच नहीं चाहिए।" इस पर डाक्टर दूसरी जोड़ी काँच की बदलता है, उसमें यदि उसे अक्षर बहुत बड़े दिखाई देते हैं तो भी वह उस काँच से इन्कार कर देगा। जैसे अक्षर हों, वैसे ही दिखाई दें तो वह उस चश्मे को स्वीकार कर लेगा। सम्यग्दर्शन भी एक चश्मा है, जो वस्तु को न तो एकान्तनित्य दिखाता है, और न एकान्तअनित्य, क्योंकि वस्तु को केवल नित्यरूप में देखना भी मिथ्या है और केवल अनित्यरूप में देखना भी भ्रान्ति है। वस्तु नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्यरूप से नित्य है, जबकि पर्याय रूप से अनित्य है। पदार्थ को उभयरूप में देखना ही सत्यदर्शन या सम्यग्दर्शन है।

सम्यक् शब्द लगाने से दर्शन स्व-पर-दर्शक बनता है

मान लीजिए—दो व्यक्ति हैं, दोनों कैद में बन्द हैं। एक को लोहे की बड़ी कोठरी में बन्द किया है, दूसरे को काँच की कोठरी में। बन्धन तो दोनों के लिए है। पहला अँधेरे में न अपने को देखता है, न दूसरे को; जबकि दूसरा व्यक्ति अपने को भी देखता है, दूसरे को भी, क्योंकि उसकी कोठरी में प्रकाश है।

यही कहानी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की है। मुक्त तो एक भी नहीं है, दोनों ही संसाररूपी कैद की कोठरी में बन्द हैं। परन्तु पहले की कोठरी में अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, कषाय आदि का घोर अन्धकार है, वह न तो 'स्व' को देख सकता है, और न 'पर' को। जबकि दूसरे की कोठरी में ज्ञानादि का प्रकाश है, रागादि का अँधेरा नहीं है, वह 'स्व' को भी—अपनी आत्मा को भी देख सकता है, और पर—संसार के सभी पर-पदार्थों को, पर-भावों को जान-देख सकता है। सम्यग्दर्शन-प्राप्त व्यक्ति स्व-पर-भेद-विज्ञान कर लेता है, इसका रहस्य समझ लेता है, वह पर के साथ व्यवहार करता हुआ भी या पर का उपयोग करता हुआ भी अन्तर् से निर्लिप्त रहता है, पर की आसक्ति या रागद्वेष में फँसता नहीं, क्योंकि वह सदैव-सतत जानता

है कि ये मेरे नही हैं। अतः उन पर न तो राग करता है, न द्वेष। सम्यग्दृष्टि के दर्शन की यही खूबी है।

सम्यग्दर्शन हेय-ज्ञेय-उपादेयविवेक

दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोडने का यह भी प्रयोजन है कि तब दर्शन सामान्य दर्शन न रहकर हेय, ज्ञेय, उपादेय को —वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने लगेगा। तब दर्शन (सम्यग्दर्शन) का अर्थ हो जायेगा— हेय को हेय (त्याज्य) रूप मे देखना, ज्ञेय को ज्ञेय रूप में देखना और उपादेय को उपादेय रूप में देखना।

अध्यात्मशास्त्रो मे विश्व के अनन्तानन्त पदार्थों को तीन भागो में विभक्त कर दिया गया है—हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय कहते हैं—छोडने योग्य पदार्थों को, ज्ञेय कहते है—जानने योग्य पदार्थों को और उपादेय कहते हैं—ग्रहण करने योग्य पदार्थों को। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन का परिष्कृत अर्थ हुआ—विश्व के समस्त पदार्थों मे से हेय पदार्थों को हेय रूप मे देखना-जानना, ज्ञेय पदार्थों को ज्ञेय रूप से जानना और उपादेय पदार्थों को उपादेय रूप से जानना-देखना।

सम्यग्दृष्टि सर्वप्रथम यह विवेक करता है कि अमुक पदार्थ इन तीनो में से किस कोटि का है ? हेय कोटि का है, ज्ञेय कोटि का है या उपादेय कोटि का ? तत्पश्चात् यह विचार करता है कि वह हेय पदार्थ है, तो हेय—त्याज्य क्यों है ? इसी तरह वह उपादेय पदार्थ है तो विचार करता है कि उपादेय क्यों है ? मेरे जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है ? उससे क्या लाभ है ? इसी प्रकार ज्ञेय के सम्बन्ध में वह विचार करता है कि वह ज्ञेय क्यो है ? हिंसा, असत्य आदि आस्रव, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय और राग-द्वेषादि जो पदार्थ हेय हैं, जिन पदार्थों का त्याग करना है, वे त्याज्य क्यों हैं ? यदि किसी व्यक्ति ने हिंसादि किसी भी पदार्थ-विशेष को छोड़ने से पूर्व उसकी हेयता का सम्यक्रूप से बोध नही किया है, और केवल जोश या आवेश में आकर, देखा-देखी, शर्मा-शर्मी, लिहाज से या मुलाहिजे या दबाब मे आकर उसे छोड़ा है, अथवा किसी स्वार्थ, लोभ, प्रलोभन या घृणा से, द्वेष से या भय से छोडा है, अथवा यशोलिप्सा, पद-लिप्सा या प्रतिष्ठालिप्सा के वश छोड़ा है तो उसका वह त्याग सच्चा त्याग नही है। इस प्रकार के त्याग से बन्धनमुक्ति नही हो सकती। जिसने किसी पदार्थ को छोड़ने से पहले उसकी हेयता का भलीभांति बोध कर लिया है,

उसका त्याग ही सम्यग्दर्शनपूर्वक त्याग होगा, वह त्याग बन्धनों से मुक्त करने वाला होगा ।

इसी प्रकार संसार में जो भी पदार्थ प्राप्त हो जाए, वह सब उपादेय (ग्राह्य) नहीं होता। किसी पदार्थ को ग्रहण करने से पूर्व सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि यह पदार्थ उपादेय क्यों है ? जैसे लौकिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि वाले लोग इन्द्रियों के विषयों को, पुण्यप्रकर्ष से प्राप्त भोग-उपभोग सामग्री को उपादेय मानते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें सर्वथा उपादेय नहीं मानता । सम्यग्दृष्टि के हेयोपादेय को नापने-तौलने के पैमाने और बाँट दूसरे ही होते हैं। वह आत्मकल्याण, आत्मविकास या आत्मरमण के गज से, आत्मलक्ष्यता के बाँट से हेय-उपादेय को नापता-तौलता है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि जीवन-व्यवहार के लिए भोजन, वस्त्र एवं मकान आदि आवश्यक हो सकते हैं, उपादेय नहीं; इसी प्रकार जीवन-निर्वाह के लिए अन्य आवश्यक पदार्थ आवश्यक हो सकते हैं किन्तु उपादेय पदार्थों की कोटि में उन्हें नहीं रखा जा सकता । मुख्यत्वेन उपादेय तत्त्व वही है, जिसके ग्रहण करने से आत्मा का विकास हो, आत्मकल्याण हो । अहिंसा, समता, क्षमा, सत्य आदि सम्यक् आचार ही वस्तुतः उपादेय हो सकते हैं, बशर्ते कि इनके साथ भी इहलौकिक-पारलौकिक सुख, स्वार्थ, लोभ, मोह आदि का दूषण न हो। अन्यथा, उपादेय होते हुए भी राग, मोह, आसक्ति, पद-प्रतिष्ठा, प्रलोभन, सुखाकांक्षा आदि के वश इन्हें ग्रहण करने से बन्धन-मुक्ति के बदले बन्धन की वृद्धि होगी। जिस पदार्थ के ग्रहण करने से आत्मा और बन्धन में पड़ती हो, उसके विकास में बाधा पहुँचती हो, उसे सम्यग्दृष्टि उपादेय नहीं मानता।

ज्ञेय का अर्थ है—जानने योग्य पदार्थ । इस विश्व में चेतन और जड़ दो ही कोटि के पदार्थ हैं। वे सभी सर्वप्रथम ज्ञेय हैं। हेय और उपादेय पहले पहल तो ज्ञेय ही होते हैं। सर्वप्रथम हेय और अन्त में उपादेय रखकर मध्य में ज्ञेय को रखने का प्रयोजन ही यह है कि मध्यगत ज्ञेय देहली-दीपक न्याय से दोनों ओर प्रकाश डालता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय का सर्वप्रथम वस्तुविषय 'स्व' और 'पर' का ज्ञान है। ज्ञान का स्वभाव केवल स्व-पर का प्रकाश कर देना है। ज्ञान का अर्थ केवल इतना ही है कि जो पदार्थ जैसा है, वैसा परिज्ञान करा देना। अपने (आत्मा) को समझना है और अपने से भिन्न 'पर' को भी। स्व से भिन्न पर को समझना, और पर से भिन्न स्व को समझना ही सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान है अर्थात्—स्व-पर के परिबोध (दर्शन)

से उत्पन्न होने वाला विवेक ही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञेय वस्तु की जानकारी हो जाना ही बन्धन नहीं है। आत्मा का यह तो सहज स्वभाव है। यदि आत्मा अपनी ज्ञानशक्ति से अपने से भिन्न संसार के अन्य पदार्थों को भी जानता-देखता है, तो कोई बुराई नहीं है। किसी पदार्थ को जानना मात्र बन्धन होता तो केवलज्ञानी वीतरागपुरुष की केवलज्ञानधारा सतत प्रवाहित रहती है, अनन्त-अनन्त पदार्थ जिनके ज्ञानरूप उपयोग में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होते रहते हैं, उन्हें भी बन्ध होने लगेगा। लेकिन बन्ध ज्ञान के साथ राग-द्वेष से होता है।

इस प्रकार स्वपर-विवेक करने के बाद—हेय क्या है और उपादेय क्या है? उसका सम्यक् बोध ज्ञेय कराता है। ज्ञेय का यह संकेत है कि उपादेय को अविवेकी बनकर बिना सोचे-समझे ग्रहण मत करो और न ही हेय का बिना जाने-बूझे त्याग करो। क्या, कुछ और कितना छोड़ना है, यह भी जानो और क्या, कुछ, कब और कितना ग्रहण करना है? यह भी जानो। सम्यग्दृष्टि का हेय भी ज्ञानपूर्वक होता है और उपादेय भी ज्ञानपूर्वक। वह त्याग या ग्रहण, जो भी करता है, विवेकी बनकर-आँखें खोलकर करता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि उपादेय भी तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि हेय भी वह सोच-समझकर आँखें खोलकर करता है। उपादेय के नाम पर कहीं अन्धविश्वास, कुरूढ़ि, अन्ध-परम्परा, आदि तो नहीं ग्रहण किया जा रहे हैं? इसका वह पूर्ण विवेक ज्ञेय के द्वारा करता है, और अगर उसे जँचता है कि हेय कोटि का पदार्थ उपादेय कोटि में भ्रमवश आ रहा है तो वह उसे हेय ही समझता है।

क्या हेय है, क्या उपादेय? यह सब साधक की अपनी-अपनी परिस्थिति और पर शक्ति पर निर्भर है। परन्तु सम्यग्दर्शनसम्पन्न साधक हेय को हेय और उपादेय को उपादेय अवश्य समझता है तथा हेय को छोड़ने, ज्ञेय को जानने और उपादेय को ग्रहण करने की विशुद्ध हार्दिक भावना रखता है। इसीलिए निश्चयसम्यग्दृष्टि का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

> स्वतत्त्व-परतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
> संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते॥[1]

"जिसकी अपने स्वतत्त्व में उपादेय बुद्धि है, और परतत्त्वों (परपदार्थों) में हेय बुद्धि है, जो संशय, विमोह, विभ्रम से रहित है; वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है।"

१. पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक ६।

तात्पर्य यह है कि जो-जो बुराइयाँ दुःख की कारण हैं और बुराइयों का कारणभूत जो द्रव्य है, उससे अपने आपको अलग अनु करना, अपने शुद्ध रूप की उपादेयता और पररूप या अपने अशुद्ध रूप हेयता पर पक्का विश्वास करना, सम्यग्दर्शन कहलाता है। सूर्य और उस किरणों की तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ ही पैदा है है। ज्ञान का कार्य इतना-सा है कि वह वस्तु को ठीक-ठीक जान लेना किन्तु ज्ञान के द्वारा जानी हुई वस्तु में जिस दृष्टि से कर्तव्याकर्तव्य हेयोपादेय का विवेक होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यद्यपि ज्ञान पहले ही होता है, किन्तु वह सम्यक् तभी होता है, जब हेयोपादेय विवेक हो जाता है। जिस समय सम्यग्दर्शन या हेयोपादेय का विवेक हु उसी समय ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हुआ।

क्या गणधर गौतम भगवान महावीर के पास जब सर्वप्रथम आए उ समय उनके अन्दर ज्ञान नहीं था? उनका सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञानमय थ लेकिन उसका उपयोग अहंकार-पोषण एवं दूसरों को पराजित करने लिए था, इसलिए वह ज्ञान विकृत था, अहंकाररूपी विष व्याप्त हो मे मिथ्याज्ञान था। भगवान् महावीर ने हेय-ज्ञेय-उपादेय, इस त्रिप का बोध दिया, इससे इन्द्रभूति का मिथ्यात्व दूर हो गया। सम्यग्दर्शन क दिव्य प्रकाश पाते ही उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन गया। इस कारण सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ-साथ होते है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।[1]

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग हैं।" आचार्य पूज्यपाद इस सूत्र में सम्यक् शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—पदार्थों के यथार्थ प्रतिपत्ति (ज्ञान) विषयक श्रद्धान का संग्रह करने हेतु ही दर्शन के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण दिया है।[2]

सम्यक् शब्द यहाँ मुख्यतया प्रशंसा अर्थ में है। सम्यक् शब्द अव्यय (निपात) है। इसके अतिरिक्त 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयो' इस प्रमाण के अनुसार सम्यक् शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में भी होता है।

१. तत्त्वार्थसूत्र १।१

२. भावाना याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग् विशेषणम्।
—सर्वार्थसिद्धि १।१।५।१६

तत्त्व का अर्थ है—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना, यही सम्यक् है।[1] व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'सम्यक्' शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं—१. प्रशस्त, २. संगत और ३. शुद्ध।

विशदता के अर्थ में सम्यक् शब्द का अर्थ होगा—स्पष्ट और निर्मल, परिपूर्ण दर्शन।

सम्यक् का जब प्रशंसा अर्थ होता है, तब उसके साथ दर्शन शब्द जुड़ जाने से अर्थ निकलता है—प्रशस्त दर्शन, या प्रशंसनीय दर्शन। दर्शन का अर्थ विश्वास है। प्रशस्त विश्वास तब होता है जब विश्वास के साथ अन्धता अथवा विपरीतता न हो। विश्वास के साथ जब विवेक होता है, अनाग्रह होता है, सत्यग्राही दृष्टि होती है, दुराग्रह नहीं होता, तभी विश्वास प्रशस्त होता है। जहाँ सम्यक् विश्वास होता है, वहाँ प्रत्येक कार्य के साथ कारण का विचार किया जाता है।

सम्यग् शब्द का 'यशस्वी' अर्थ भी कहीं-कहीं किया गया है। यशस्वी दर्शन या श्रद्धा तभी हो सकती है, जब व्यक्ति पापकर्मों से बचकर शुभयोग—पुण्यकर्म की ओर बढ़े, किन्तु इससे भी ऊपर उठकर पुण्यकर्म को भी हेय समझे एवं शुद्धोपयोग पर अपनी श्रद्धा दृढ़ रखे। पुण्यकर्म शुभोपयोग है, परन्तु उसमें व्यक्ति मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। पुण्यकर्म के फलस्वरूप शुभगति, स्वर्गादि शुभलोक, और वहाँ इन्द्र पद तक मिल जाए अथवा मनुष्य लोक में राजा या चक्रवर्ती पद तक प्राप्त हो जाए, परन्तु गुणस्थान श्रेणी चढ़ने पर, आत्मा के ऊर्ध्वारोहण में अन्ततोगत्वा वह पुण्यकर्म भी हेय ही है। वह उदासीन भाव से निर्लेप होकर पुण्य के कार्य करता है, मगर उसकी दृष्टि, उसकी श्रद्धा मोक्षलक्ष्यी ही रहती है। इसीलिए सम्यग्दर्शन में सम्यक् शब्द का जो प्रशस्त अर्थ किया है, उस प्रशस्त का अर्थ एक आचार्य ने इस प्रकार किया है :

प्रशस्तो मोक्षोऽविरोधी वा प्रशमसंवेगादि लक्षण आत्मधर्मः।[2]

अर्थात्—प्रशस्त के दो अर्थ हैं—पहला अर्थ है—मोक्ष। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन का अर्थ होता है—मोक्षलक्ष्यी दर्शन—दृष्टि या श्रद्धा। अथवा मोक्ष के अविरोधी शम-संवेगादि पंच लक्षणों से युक्त आत्मधर्म में प्रवेश कराने वाले जीव के सम्यक् भाव है, वही सम्यक्त्व है।

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।२।१।१६।४.

२ अभिधान राजेन्द्र कोष, भा० ७।

[ि]दी समझता है। मृगमरीचिका को दूर से देखने पर हूबहू ऐसा लगता [ि]मानो जल से भरा हुआ समुद्र हो, जैसे पानी में वृक्ष की परछाई दिखाई [दे]ती है, वैसे उसमें भी वृक्ष की परछाई दिखाई देती है। परन्तु पानी उसमें [ज]रा भी नहीं होता, पास में जाने पर उसकी असलियत मालूम देगी कि यह [मृ]गमरीचिका है, जल-परिपूर्ण सरोवर नहीं। परन्तु कोई भ्रमवश उसे जल-[परि]पूर्ण समझ लेता है तो उसका ज्ञान या श्रद्धा विपरीत होती है। जैसे यह [वि]परीतता बाह्य पदार्थों में है, वैसे ही आध्यात्मिक विषय में भी विपरीतता [हो]ती है। उसमें मनुष्य की श्रद्धा, मान्यता, दृष्टि या विश्वास सब विपरीत [ही] हो जाता है। वस्तु को उसके यथार्थस्वरूप में जब नहीं समझा जाता [है], तब विपरीतता होती है, और विपरीत श्रद्धान ही मिथ्यात्व या मिथ्या-[द]र्शन होता है। विपरीत श्रद्धा या मान्यता का परिणाम भी बहुत भयंकर [औ]र अनन्त संसार-परिभ्रमण आता है।[1]

प्राचीनकाल की एक घटना है। पर्वत, नारद और वसु—तीनों एक ही [वि]द्वान् गुरु से पढ़े थे। तीनों ही वेद के विद्वान बने। पढ़-लिखकर वसु राजा [ब]ना। पर्वत अपने ही घर पर कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा। एक दिन [प]र्वत अपने छात्रों को पढ़ा रहा था, उस समय नारद भी उससे मिलने [आ]या हुआ था। पर्वत ने वेद में आया हुआ एक सूत्र बोला—'अजैर्यष्टव्यम्' [औ]र उसका अर्थ किया—'बकरों को होम कर यज्ञ करना चाहिए।' यह अर्थ [सु]नते ही नारद से न रहा गया। उसने कहा—"पर्वत! ऐसा अनर्थ क्यों कर [र]हे हो? तुम्हारे जैसा विद्वान इस प्रकार का गलत अर्थ करेगा, तो संसार [मे]ं गजब हो जायगा। हिंसा की परम्परा फैलेगी। अज का अर्थ गृहस्थ के [य]हाँ रखा हुआ तीन वर्ष का पुराना जौ है, जिसमें उगने की शक्ति न रह [ग]ई हो, बकरा अर्थ कदापि नहीं है।" पर्वत सत्य को जानता था, किन्तु [अ]पने छात्रों के सामने स्वीकार करने में उसकी प्रतिष्ठा जाती थी। अतः [प]र्वत ने कड़ककर कहा—"नहीं, मैंने जो अर्थ बताया है, वही ठीक है, वही [अ]र्थ गुरुजी ने बताया था।"

नारद ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु पर्वत अपने हठाग्रह पर अड़ा

---

[1]. देखिये—मिथ्यात्व का परिणाम अमितगति श्रावकाचार में—

विवेको हन्यते येन मूढता येन जायते।
मिथ्यात्वेन परं तस्माद् दुःखदं विद्यते

रहा। आखिर दोनों ने वसु राजा को मध्यस्थ बनाकर उससे इसके अर्थ का निर्णय कराया। उसने जान-बूझकर पर्वत के पक्ष में गलत निर्णय दे डाला। फलत. उसे और पर्वत को नरक की यात्रा करनी पड़ी। आगे अनन्त संसार-परिभ्रमण भी करना पड़ेगा।

वस्तुत. विपरीत रूप में शास्त्र के अर्थों का आग्रह, विपरीत अर्थ के प्रति निष्ठा या श्रद्धा मनुष्य को सम्यग्दर्शन के मार्ग से बहुत दूर ले जाती है। एक बार दृष्टि में विपरीतता घुस जाने पर शीघ्र जाती नहीं। किन्तु जब निष्ठापूर्वक 'सम्यक्' श्रद्धा या रुचि आत्मलक्ष्यी हो तभी व्यक्ति प्रेय की दिशा में व्यक्ति गत-प्रगति कर सकता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि वस्तु को अविपरीत—यथार्थरूप में देखता जैसे सीप कुछ ही दूरी पर होती है, तो उसकी चमचमाहट देखकर चाँदी समझ ली जाती है, मगर उसके पास जाकर देखने से वही चाँदी दिखने वाली सीप सीप ही मालूम हो जाती है। सीप में सीपपन तो पहले मौजूद था, किन्तु दूरी के कारण ही उसमें विपरीतता प्रतीत होती थी चाँदी मालूम हो रही थी, जब नजदीक जाकर देखा तो विपरीतता हो गई, वास्तविकता जान पड़ी। इसी तरह वस्तु के पास जाने से भलीभाँति परीक्षण करने से वस्तु के विषय में विपरीतता दूर हो जाती वास्तविकता प्रकट हो जाती है। सरलात्मा जीव उस भ्रान्ति को भी अपनी भूल मानकर सुधार लेता है, और तभी वह सम्यग्दृष्टि बनता किन्तु मिथ्यादृष्टि मोह, स्वार्थ या लोभ आदि से अन्धा होकर वस्तु यथार्थ प्रतीति होने पर भी, उसे वास्तविक रूप में जानकर भी अपनी भूल सुधार कर वस्तु को वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं करता; यह मिथ्यादृष्टित्व का सबूत है।

विश्वास, अविश्वास और सम्यक्‌विश्वास

अविश्वास तो जीवन के लिए अत्यन्त भयंकर है। अविश्वास एक ऐसा विष है जो जीवन को निरुद्देश्य बनाता है, तथा दूसरे के प्रति निर निरर्थक वाग्जाल, कलह, क्लेश की सृष्टि करता है। अविश्वास चाहे अप पर हो, या दूसरे पर उससे मनुष्य का जीवन पंगु हो जाता है, वह सं स्वतन्त्र कदम नहीं बढ़ा पाता। जो लोग विश्वास की अमोघ शक्ति को न अन्धश्रद्धा और [illegible] निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं, अन्त में दुःख [illegible] नहीं कर पाते।

होकर साधक की पीठ थपथपाता है और उसकी आत्मशक्ति को अभि-व्यक्त करता है। यह सम्यक्विश्वास का ही प्रताप था, जिसने महामुनि गजसुकुमार को घोर मारणान्तिक संकट उपस्थित होने पर भी अपूर्व सहन और आत्मबल दिया, जिससे शान्ति और धैर्य के साथ राग-द्वेषरहित होकर समभाव में स्थिर रहे और आत्मभावों में रमण करते हुए वे अपने अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर सके। सम्यक्विश्वाससम्पन्न व्यक्ति में घट-घट में आत्मलक्षी आत्मविश्वास भरा होता है। ऐसा सम्यक्विश्वास व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है। ऐसा सम्यक्विश्वास उस ज्ञान को भी सम्यक् बना देता है जो पहले से सीमित था। उस ज्ञान में घिरे हुए अज्ञान, अन्धश्रद्धा और मिथ्यात्व के अन्धकार को यह दूर कर देता है। सम्यक्-विश्वास जितना प्रगाढ़ होता जाता है, उतना-उतना ही व्यक्ति में समर्पण एवं व्युत्सर्ग की भावना उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती जाती है। सम्यक्-विश्वास समग्र जीवन में अर्जित ज्ञान को सौरभ से और चारित्र को चमक से युक्त बना देता है।

सम्यक्विश्वास ही जीवन में सच्ची क्रान्ति—आध्यात्मिक क्रान्ति का स्रोत होगा। सम्यक्-विश्वास स्वपर-भेदविज्ञान की रोशनी से अनुप्राणित होगा। वह जीवन के हर मोर्चे पर कषाय एवं राग-द्वेषादि पर-भावों से लड़ेगा, स्व-भावों को अपने गुणसैन्य में अधिकाधिक स्थान देगा।

साधारण विश्वास या मिथ्याविश्वास जहाँ मोक्षमार्ग को अवरुद्ध कर देता है, वहाँ सम्यक्विश्वास मोक्षमार्ग के पथ में आई हुई गंदगी, मलिनता, धुंध, कोहरा आदि को साफ करके उसे स्वच्छ—शुद्ध बना देता है। मिथ्याविश्वास जहाँ दूसरों का सहारा ताकता है, वहाँ सम्यक्विश्वास केवल आत्मा के बल पर आगे बढ़ता है, इन्द्रियाँ, शरीर, मन आदि स्वयं मेव उसमें सहायता देने हेतु जुट जाते हैं। यही विश्वास (दर्शन) के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण लगाने का प्रयोजन है।

आत्मलक्षी सम्यक्विश्वास का परिणाम

आत्मलक्षी सम्यक्विश्वास (सम्यग्दर्शन) किस प्रकार साधक के ज्ञान पर आई हुई मलिनता, अविश्वास आदि को हटाकर शुद्ध-सम्यक्-केवल-ज्ञान का महाप्रकाश प्राप्त करा देता है, इसके लिए जैन इतिहास का एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए।

एक महान् आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें कुछ विद्वान्

थे तथा कुछ तपस्वी भी थे। उनमें एक मन्दबुद्धि शिष्य भी था। अवस्था उसकी परिपक्व थी। गुरु उसे सिखाने का पूरा प्रयत्न करते पर बुद्धिमन्दता के कारण उसे कुछ भी समझ में नहीं आता था। अपनी बुद्धिमन्दता पर उसे अत्यन्त खेद भी होता था, पर करता क्या? कोई चारा न था।

एक दिन उसे उदास देख गुरु ने पूछा—"वत्स! तू इतना खिन्न और उदास क्यों रहता है? तू घर-बार, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीला सब कुछ छोड़कर साधुधर्म में दीक्षित हुआ है, साधना का पावन-पथ तूने स्वीकार किया है। यहाँ तो तुझे सदा प्रसन्न और मस्त रहना चाहिए। साधु-जीवन में खिन्नता और उदासी शोभा नहीं देती।"

शिष्य—"गुरुदेव! आपका कथन सत्य है, मुझे प्रसन्न और मस्त ही रहना चाहिए। आपके चरणों में मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं है। आपकी परम कृपादृष्टि ही मेरे जीवन की सबसे बड़ी थाती है। परन्तु क्या करूँ? मुझे अपनी बुद्धिमन्दता पर तरस आती है। मैं अधिक शास्त्राध्ययन नहीं कर पाता। मुझे थोड़े-से मे बहुत ज्ञान प्राप्त हो जाए, ऐसी कृपा कीजिए।"

गुरु—"चिन्ता मत कर? मैं तुझे ऐसा ही एक छोटा-सा सूत्र बतला देता हूँ जिसमें सारे धर्म और अध्यात्म-ज्ञान का सार आ जाता है।"

यों कहकर गुरु ने उस मन्दबुद्धि शिष्य को एक सूत्र बतला दिया—'मा रुष, मा तुष' अर्थात्—न तो किसी के प्रति द्वेष करो, न ही राग। साधना का सार समत्व है।

गुरु ने उसे छोटा-सा सूत्र दिया था, परन्तु शिष्य इतना मन्द-बुद्धि था कि उसे इतना-सा सूत्र भी याद न रहा और वह 'मा रुष, मा तुष' के बदले 'माषतुष' रटने लगा जिसका अर्थ होता है, उड़द का छिलका। इसी को गुरु का प्रसाद समझकर वह निरन्तर रटता रहा। रटते-रटते उसकी भावना उत्तरोत्तर विशुद्धतर होती गई। आत्मलक्ष्यी सम्यग्दर्शन तो उस साधक में था। अपनी आत्मा पर, गुरु पर, गुरु के वचनों पर उसे पूर्ण आस्था थी। अतः वह निष्ठापूर्वक गुरु के द्वारा दिए गए सूत्र को ज्यों-ज्यों रटता रहा, त्यों-त्यों उसके हृदय और मन-मस्तिष्क में उसका अर्थ प्रबलता से जमता गया। शक्ति शब्द में नहीं होती, वह होती है, उसकी भावना और निष्ठा में। मन्दबुद्धि शिष्य में प्रबल आत्मविश्वास जाग गया था। आत्मा में निहित अनन्त ज्ञानशक्ति पर भी उसे पूर्ण विश्वास हो गया था। गुरु ने

मे उपलब्ध अर्थ तथा उनमें परस्पर अन्तर का स्पष्टीकरण करना उचित रहेगा।

शास्त्रों में तथा धर्मग्रन्थों एवं दर्शनग्रन्थो मे आये हुए सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची कुछ शब्दों के नाम इस प्रकार है —

१ सम्यग्दर्शन, सुदृष्टि या सम्यग्दृष्टि	६ सम्यक्प्रतीति
२ सम्यक्त्व	७ सम्यक्रुचि
३ सम्यक्श्रद्धा	८. सम्यक्भक्ति
४ सम्यक्विश्वास	९ सम्यक्आस्था
५ सम्यक्निष्ठा	१० सम्बोधि या सद्बोध ।

सम्यग्दर्शन के अर्थों पर हम प्रकाश डाल चुके है, उसके ही पर्यायवाची सुदृष्टि या सम्यग्दृष्टि आदि कई शब्द है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य मे सक्षेप मे उनका नामोल्लेख करके यों निर्वचन किया है—

> सम्मदिट्ठि अमोहो सोही सब्भावदसणं बोही।
> अविवज्जउ सुद्दिट्ठित्ति एवमाई निरुत्ताइ॥

"अर्थात्—सम्यग्दृष्टि, अमोहि, शुद्धि, सदभावदर्शन, वोधि, अविपर्यय और सुदृष्टि इत्यादि सम्यग्दर्शन के निरुक्त—समानार्थक है।"

सम्यक् दृष्टि यानी अविपरीत दृष्टि— दर्शन सम्यग्दृष्टि— सम्यग्दर्शन है। मोह—असत्यग्रहण से विपरीत दर्शन अमोहि है। (सत्यदर्शन) मिथ्यात्व-मल का अपगम—शुद्धि, जिनोक्त प्रवचन की प्राप्ति—सद्भावदर्शन, सत्य अर्थ का वोध—बोधि, अविपरीत वोध—अविपर्यय, शुद्ध दृष्टि—सुदृष्टि इत्यादि सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची अथवा समानार्थवाची शब्द है।[1]

सम्यक्त्व का अर्थविस्तार सम्यग्दर्शन से अधिक व्यापक

यहाँ आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य मे सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन आदि को समानार्थक वताते हुए भी इनके विशेष अर्थो का निर्वचन भी किया है।[2] अपने विशिष्ट अर्थ में सम्यक्त्व वह है, जिसकी उपस्थिति मे श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र 'सम्यक्' वनते हैं। दूसरी बात यह

---

१. विशेषावश्यकभाष्य गा०, २७८४, २७८८, २७८९, २७९० ।
२. वही, गा० २७८८ से २७९०

सम्यग्दर्शन नहीं बन पाता। सत्य को सत्य रूप में प्रतीति ही निय
जड़तत्त्व को जड़तत्त्व के रूप में और चैतन्यतत्त्व को चैतन्य तत्त्व के
निष्ठा श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। तत्त्व को यथार्थ रूप में समझना औ
पर विश्वास करना ही तो सम्यग्दर्शन है।

जैसे एक माता के हृदय में पुत्र के प्रति करुणा और प्रेम का
उमड़ता है, उसमें अहिंसा की क्षीण धारा भले ही गुप्त हो, पर
अहिंसा की निष्ठा नहीं कह सकते। उसकी करुणा और प्रेम के साथ
ममत्व का अंश जुड़ा हुआ है, व्यक्तिवाद जुड़ा है। इस प्रकार की
और प्रेम का प्रवाह तो जीव के हृदय में अनन्त-अनन्तकाल से चला
है, परन्तु मोह और ममता एवं स्वत्वमोह के कारण वह करुणा
न बन सकी, सम्यग्दर्शन के अभाव में वह करुणा आत्मविकास
सकी।

बिल्ली अपने बच्चों को दाँतों से पकड़कर ले जाती है तो
भी बच्चे के शरीर पर गड़ने नहीं पाता और जब उन्हीं दाँतों से
पकड़कर ले जाती है तो दाँत गड़ जाते हैं, चूहे के शरीर में रक्त
वह चलती है, वह पीड़ा से चीं-चीं कर उठता है। इसमें अन्तर भा
होता है। बिल्ली की भावना में एक के प्रति प्रेम और ममत्व है
दूसरे के प्रति क्रूरता है। इसी प्रकार सिंहनी भी अपने बच्चों को
दुलराती है, किन्तु वहाँ प्रेम की भावना दया या अहिंसा के रूप में
नहीं हुई। बिल्ली और सिंहनी की ममता को अहिंसा का विकास
जा सकता, क्योंकि उनमें अहिंसा की दृष्टि, निष्ठा और प्रतीति
जहाँ अहिंसा की निष्ठा नहीं, वहाँ सम्यग्दृष्टि न होने से बन्धन
कारण नहीं बनती। यही भावना, निष्ठा और दर्शन में अन्तर है।

सम्बोधि और सम्यक्त्व में अन्तर

यों तो सम्यक्त्व और सम्बोधि एकार्थक लगते हैं, लेकिन
छोटा-सा अन्तर प्रतीत होता है। सम्यक्त्व शब्द का व्यापक
बता चुके हैं कि इसमें रत्नत्रय को सम्यग्रूपता गृहीत हो
ही आज यह सम्यग्दर्शन अर्थ में रूढ़ हो गया हो। सम्यक्
वाली अन्तर्जागृति, जिससे हेय को छोड़ने, ज्ञेय को जा
उपादेय को ग्रहण करने की तत्परता हो, सम्बोधि है। सम्बोधि

सम्बोधि' का अर्थ सूत्रकृताङ्ग १।२।१ की टीका में देखें।

वास्तविक आत्मोन्नति का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्रूप से बोध प्राप्त होने पर व्यक्ति का जीवन ही बदल जाता है।

श्रद्धादि शब्दो की संगति

श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास, रुचि, आस्था, निष्ठा आदि सभी सम्यग्दर्शन के पर्यायवाचक है, इनका अर्थ एक-सा है, परन्तु गहराई मे देखने पर इनमे सूक्ष्म-सा अन्तर भी प्रतीत होता है। वैसे ये शब्द सम्यग्दर्शन की क्रमिक यात्रा के पड़ाव भी हैं। सबसे पहले तत्त्वभूत पदार्थ पर श्रद्धा होती है, जब वह श्रद्धा कई बार सफल हो जाती है तब उस पर प्रतीति होती है। तत्पश्चात् होता है दृढविश्वास और फिर होती है, उसके अनुसार प्रवृत्ति करने की रुचि। रुचि के बाद मनुष्य की आस्था उस पर पक्की और अनन्य भक्तिवत् हो जाती है। वही आस्था परिपक्व होने पर निष्ठा का रूप ले लेती है। इन सबका क्रमश. उत्तरोत्तर विकास ही सम्यग्दर्शन का रूप बनता है। ये सब सम्यग्दर्शन के रूप होते हुए भी इन सब में सम्यक्ता होना अनिवार्य है, अन्यथा श्रद्धा अन्धश्रद्धा, प्रतीति मिथ्याप्रतीति, विश्वास अन्धविश्वास, रुचि गलतरुचि, आस्था विपरीत पदार्थो पर और निष्ठा मोह-मूढता के रूप में परिवर्तित हो सकती है।

दर्शन शब्द का बदलता हुआ अर्थ

'सम्यग्' शब्द पर अनेक दृष्टियो मे विचार कर लेने के पश्चात् अब हम 'दर्शन' शब्द पर चिन्तन करते है।

प्राचीन जैन आगमो मे दर्शन शब्द के बदले दृष्टि शब्द का प्रयोग बहुलता मे हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र[1] और उत्तराध्ययन[2] मे दर्शन शब्द का लक्षणरूप अर्थ तत्त्वश्रद्धा माना गया है। परवर्ती जैन साहित्य मे दर्शन शब्द का देव, गुरु, और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के[3] अर्थ मे व्यवहार हुआ है। इस प्रकार जैनपरम्परा में सम्यग्दर्शन तत्त्वसाक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि लक्षणात्मक या स्वाभाविक अर्थो को अपने में समेटे हुए है।

सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणो पर हम अगले प्रकरण मे विचार करेंगे।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, १।२

२. उत्तराध्ययन, २८।१५.

३. सामायिक सूत्र—सम्यक्त्व पाठ.

श्रमण परम्पराओ पर भी पडा। तत्वार्थ की श्रद्धा अब 'जिन' (अरिहन्त) और 'बुद्ध' पर केन्द्रित हो गई, वह देव, गुरु और धर्म की ओर झुक गई, अर्थात्—थोड़ी ज्ञानात्मक, अधिक श्रद्धात्मक, कुछ निर्वैयक्तिक, कुछ वैयक्तिक बन गई। इस प्रकार जैन-बौद्ध परम्पराओ मे भक्ति तत्त्व प्रविष्ट हुआ। आगमो और पिटकों में सम्यग्दर्शन के अर्थों मे क्रमश: संशोधन, परिवर्द्धन एवं परिवर्तन का उल्लेख मिलता है।

आगामी पृष्ठो मे हम सम्यग्दर्शन के लक्षणो मे क्रमिक विकास एवं परस्पर संगति का निरूपण करेंगे। □

२. सम्यग्दर्शन : लक्षण और व्याख्याएँ

●●

सम्यग्दर्शन एक : लक्षण अनेक, व्याख्याएँ विशाल

पिछले प्रकरण मे हम सम्यग्दर्शन के विभिन्न अर्थों एवं उनमें परस्पर समन्वय, उन अर्थों के ऐतिहासिक आधार आदि पर विवेचन कर आये हैं। अब सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणो पर विचार कर ले, ताकि सम्यग्दर्शन का सर्वांग रूप हृदयंगम हो जाए।

सम्यग्दर्शन इतना विराट् विषय है कि वह एक और अखण्ड होते हुए भी देश, काल और पात्र को लेकर अनेक बन जाता है। प्रश्न है—भूतकाल के ग्रन्थकारो ने अपने-अपने ग्रन्थो मे उसका कैसा अंकन और चित्रण किया है ? समाधान की दृष्टि से हम कहना चाहेंगे कि यदि कोई उन ग्रन्थकारो के केवल शब्दो को पकडेगा, तब तो यही प्रतीत होगा कि जितने ग्रन्थकार है, उतने ही सम्यग्दर्शन के लक्षण, परिभाषाएँ और व्याख्याएँ है। परन्तु यदि वह उन ग्रन्थकारो की भाषा को न पकडकर मूल भावो को पकडेगा तो सबके लक्षण, सबकी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ लगभग एक-सी प्रतीत होगी, उनमे किसी प्रकार का भेद व विरोध नही प्रतीत होगा।

किसी भी युग का ग्रन्थकार क्यो न हो, उसका मूल आधार तो वीतराग-वाणी—आगम ही रहा है। हमारा सौभाग्य है कि आगम और आगमयुग के बाद, दर्शनयुग आदि के सभी विशिष्ट आचार्यो, महामुनियों एवं विद्वान् दार्शनिको का चिन्तन हमे उपलब्ध हुआ है। मूल आगमो के भाव ग्रहण करके आचार्यों ने तथा विविध ग्रन्थकारो ने उस चिन्तन को

पल्लवित-परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है, हम उस पल्लवित-परिष्कृत चिन्तन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि सत्य सदा त्रैकालिक, सार्वत्रिक और सार्वजनिक होता है। वह न तो कभी नया होता है, न ही पुराना और न किसी एक के अधिकार का होता है। सत्य सदाकाल एक ही—एक-सा होता है, उसे सिर्फ अभिव्यक्त करने की पद्धति युग-युग में बदलती रहती है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण दोनों नयों की दृष्टि से

जैनदर्शन की यह विशेषता रही है कि वह प्रत्येक वस्तु का स्वरूप बताने के लिए बाह्य और अन्तरंग दोनों दृष्टियों से जाँचता-परखता है।[1] केवल बाह्य दृष्टि से वस्तु का लक्षण करने पर वस्तु का वास्तविक रूप—मूलरूप जाना नहीं जा सकता ; क्योंकि वस्तु का मूल रूप तो उसका अंतरंग ही होता है। यदि अन्तरंग दृष्टि से ही वस्तु का लक्षण किया जाता है, तो वस्तु को साधारण व्यक्ति या अल्पज्ञ छद्मस्थ व्यक्ति सहसा पकड नहीं पाता, उसे पता ही नहीं लगता कि कौन व्यक्ति उस लक्षण से युक्त है, कौन नहीं ? मन के भावों का—अन्तरंग का पता प्रत्यक्षज्ञानी के सिवाय किसे लग सकता है ? इसलिए वस्तु का लक्षण निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से किया जाता है। सम्यग्दर्शन का लक्षण करते समय भी आगमज्ञ मनीषियों ने दोनों नयों का आश्रय लिया है। इसलिए सम्यग्दर्शन के निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन ये दो रूप बताकर दोनों का समन्वय किया गया है।[2]

निश्चयनय के अनुसार आत्मरूप

सम्यग्दर्शन को मोक्ष का साधन बताया गया है। मोक्ष या बन्धन दोनों आत्मा से सम्बन्धित हैं। वह न तो शरीर का धर्म है, न इन्द्रियों का और न ही किसी जड भौतिक वस्तु का, वह तो आत्मा का भाव है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी आत्मा का अमूर्तिक गुण है।[3] वह इन्द्रियप्रत्यक्ष

---

१ शुद्धं यदात्मनो रूपं निश्चयेनानुभूयते।
व्यवहारो भिदा द्वाराऽनुभावयति तत्परम्॥
—अध्यात्मसार, प्रबन्ध ६, अधिकार १८, श्लोक १०

२. (क) उपासकाध्ययन, कल्प २१, श्लोक २४५।
(ख) पंचवस्तुक द्वार ४।

३. प्रभानैर्मल्यशक्तीना यथा रत्नान्न भिन्नता।
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां तथाऽऽत्मनः॥
—अध्यात्मसार, प्रबन्ध ६, अधि० १८, श्लोक ७

नहीं है। मोक्ष जब आत्मस्वरूप है तो सम्यग्दर्शनादि भी आत्मस्वरूप होने चाहिए। उपासकाध्ययन में स्पष्ट बताया है—

> अक्षाज्ज्ञानं रुचिर्मोहाद्देहारवृत्तं च नास्ति यत्।
> आत्मन्यस्मिन्शिवीभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥[1]

"इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है न मोहजन्य रुचि होती है, और शारीरिक आचरण होता है। अतः ज्ञान दर्शन और चारित्र तीनों (निश्चयदृष्टि से) आत्मस्वरूप ही है।"

तात्पर्य यह है कि वीतराग पुरुषों में तत्त्वार्थ श्रद्धान या पदार्थों के प्रति रुचि न होने हुए भी उनमें सम्यग्दर्शन गुण होता है इसलिए केवल व्यवहारनय की दृष्टि से लक्षण करने में लक्षण में दोष रह जाता है, वह पूरी तरह से समस्त आत्माओं में घटित नहीं होता इसलिए निश्चयनय की दृष्टि से निश्चयसम्यग्दर्शन का लक्षण पंचसंग्रह में शुद्ध आत्म-परिणामरूप किया गया है :—

> सम्मत्तं च मोक्खबीयं तं पुण भूयत्थसद्दहणरूवं ।
> पसमाइलिंगगम्मं सुहायपरिणामरूवं तु ॥[2]

"सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है। वह स्वरूप से भूतार्थ (तत्त्वार्थ) श्रद्धानरूप (निर्विकल्प अनुभूति से गम्य) है, अथवा व्यवहार से प्रशम आदि लक्षणों से गम्य है, वह शुद्ध आत्मपरिणामरूप है।"

शुद्ध आत्मपरिणाम में आत्मप्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण की गति नहीं हो सकती। इसीलिए योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को आत्मा के साथ अभिन्न रूप से बताया है —

> आत्मनो दर्शन-ज्ञान चारित्राण्यथवा यतेः ।
> यत्तदात्मक एवैष शरीरमधितिष्ठति ॥[3]

मुमुक्षु की आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, क्योंकि आत्मा रत्नत्रय के साथ तादात्म्य होकर ही शरीर में स्थित है।

वेदान्त के अनुसार आत्मा के [illegible] गुण सम्यग्दर्शनादि [illegible] [illegible] [illegible] अतिरिक्त [illegible] [illegible]

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]

कुछ नही है। जो श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) है, वही आत्मा है, जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो चारित्र है, वह भी आत्मा ही है। साधक अपनी रत्नत्रय-साधना के बल पर जो कुछ प्राप्त करता है, वह उससे भिन्न नही होता। आत्मा ही अपनी साधना द्वारा अपने आपकी अनुभूति, विनिश्चिति या दृढ श्रद्धान या प्रतीति, उपलब्धि करता है।

यद्यपि देव, गुरु, धर्मशास्त्र, तत्त्व आदि के प्रति श्रद्धान् रूप जो व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्षण है, वह तभी कृतार्थ और सफल हो सकता है, जब आत्मा के प्रति श्रद्धा या स्वानुभूति हो, या आत्मा की दृढ प्रतीति, रुचि या विश्वास हो। जब श्रद्धा को आत्मा से अभिन्न बताया गया है, तब देव, गुरु, धर्म, शास्त्र, तत्त्व आदि के प्रति कोरी श्रद्धा से काम नही चल सकता, कोरी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नही बन सकती। इसी तथ्य का समर्थन पंचाध्यायी मे किया गया है —

> स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयोगुणा।
> स्वानुभूति विनाऽऽभासा, नार्थाच्छ्रद्धादयोगुणा॥
> विना स्वानुभूति तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत।
> तत्त्वार्थानुगताऽप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धित॥[1]

"यदि श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि स्वानुभूति सहित होगे तभी वे सम्यग्दर्शन के लक्षण (गुण) कहलाएँगे। वस्तुत स्वानुभूति (स्वरूपानुपलब्धि) के बिना श्रद्धा आदि गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण नही कहलाते किन्तु वे लक्षणाभास कहलाते है।"

'स्वानुभूति (आत्मा के प्रति श्रद्धा-प्रतीति) के बिना जो श्रद्धा केवल शास्त्रो या गुरु आदि के उपदेश के श्रवण-मात्र से होती है, वह तत्त्वार्थ के अनुकूल होते हुए भी वास्तव मे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रहित होने से शुद्ध श्रद्धा नही कही जा सकती।"

वास्तव में देखा जाए तो सबसे बडी और मूल श्रद्धा तो आत्मा पर श्रद्धा या विश्वास है, आत्मा की या आत्मस्वरूप की प्रतीति या विनिश्चय होने पर ही आस्रव एव बन्ध को छोडा जाता है, सवर और निर्जरा की साधना की जाती है। आत्मस्वरूप पर विश्वास नही जमा और आत्मा की शक्तियो की पहिचान नही हुई तो बन्धनो को कैसे तोडा जाएगा, और कैसे मोक्ष के लिए पुरुषार्थ किया जाएगा ? यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ

---

१. पचाध्यायी (उत्तरार्ध) श्लोक ४१५, ४२१।

उसके सेवक और दास हैं। उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे जीव (आत्मा) रूपी राजा की आज्ञा में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित कर सकें। जीव-रूपी राजा को धर्मास्तिकाय यह आदेश नहीं दे सकता कि चलो या जल्दी-जल्दी गमन करो। अधर्मास्तिकाय सेवक भी यह नहीं कह सकता कि यहाँ ठहरो, यहाँ नहीं। पुद्गलास्तिकाय भी सदा उसके उपभोग के लिए तैयार है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सांसारिक पदार्थ आदि सदा उसकी सेवा में तैनात रहते हैं। आकाश, अवकाश देने और काल उसकी पर्याय परिवर्तन के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। ये सब जीव के प्रेरक कारण नहीं हैं, सिर्फ तटस्थ या उदासीन कारण हैं।

एक बात और—जीव को चक्रवर्ती की उपमा व्यावहारिक दृष्टि से दी गई है, जीव तो चक्रवर्ती से भी कई गुना बढ़कर तीन लोक का नाथ एवं त्रिलोकपूज्य बन सकता है। इसमें इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो सर्वज्ञ (केवलज्ञानी), अरिहन्त या सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन सकता है। चक्रवर्ती तो सिर्फ छह खण्ड का ही अधिपति होता है, छह खण्ड के बाहर एक अणु पर भी उसका शासन नहीं चल सकता, लेकिन जीव तो तीन लोक का अधिपति एवं पूज्य अपनी आत्मशक्ति प्रकट करके बन सकता है। आत्मा को परमात्मा या त्रिलोकपूज्य बनाने वाला अन्य कोई तत्त्व, पदार्थ आदि नहीं है, वह स्वयं ही अपने मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेषादि विकारों और विकल्पों को नष्ट कर सम्यग्दर्शी, सम्यग्ज्ञाता एवं यथाख्यात-चारित्री बनकर आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

अध्यात्मवादी सभी दर्शनों ने जीव (आत्मा) को अन्य सभी तत्त्वों का राजा या प्रमुख कहा है। आत्मा (जीव) का वास्तविक बोध या अनुभव होने पर अजीव को पहचानना आसान हो जाता है, क्योंकि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। इसलिए जीव के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीव से ही सम्बन्धित हैं, जीव की सत्ता के कारण ही उन सबकी सत्ता है। फलितार्थ यह है कि समग्र अध्यात्मविद्या का आधार यह जीव ही है। इसलिए निश्चय-सम्यग्दर्शन के लिए सर्वप्रथम आवश्यक शर्त है – आत्मा के स्वरूप की अनुभूति, श्रद्धा और विनिश्चिति।[1] जब यह निश्चय हो जाता है कि मैं अजीव से भिन्न चेतन-आत्मतत्त्व हूँ, तब आत्मा में किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान नहीं रहता।

---

१. अध्यात्मसार, प्रबन्ध ६, अध्याय १८, श्लोक ३
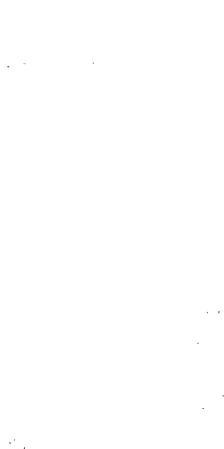
है, इस साध्य-साधक भाव को बतलाने हेतु व्यवहार-सम्यक्त्व में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है।

अल्पज्ञ लोगों को समझाने के लिए पहले व्यवहार-सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया जाता है और व्यवहार के साथ-साथ व्यवहार के द्वारा निश्चय की प्रतीति कराई जाती है। इस दृष्टि से व्यवहार-सम्यग्दर्शन को निश्चय-सम्यग्दर्शन का कारण बताया जाता है। जिनके व्यवहारसम्यक्त्व (देवगुरुधर्म की श्रद्धारूप) है, उसे आंशिक रूप में निश्चय-सम्यग्दर्शन प्राप्त हो ही जाता है। 'पंचास्तिकाय' में तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहार-सम्यक्त्व को शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व का बीज माना गया है। ज्यों-ज्यों उसमें राग घटता जाता है, त्यों-त्यों वह व्यवहार से निश्चय की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है, निश्चय का प्राबल्य होने से सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय व्यवहार से निश्चय का रूप लेते जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जो सम्यग्दर्शन होता है, उसमें आत्म-विनिश्चय, आत्मबोध या आत्मस्वरूप का अनुभव कतई नहीं रहता, वहाँ भी आंशिक रूप में यह सब रहता ही है, अन्यथा उसे सम्यक्त्व ही नहीं कहा जाएगा।

दर्शनसप्तक अनिवार्य

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए दर्शनसप्तक—अर्थात् १-४. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, एवं ५. सम्यक्त्वमोहनीय, ६. मिथ्यात्व-मोहनीय, ७. मिश्रमोहनीय—मोहनीय कर्म की, इन सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना अनिवार्य है। इन सातों के क्षयोपशमादि हो जाने से जीव की परिणति में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। उसी के कारण उसके प्रतिक्षण असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है। अनेक प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है, अनेकों के अनुभाग और स्थिति का ह्रास या क्षय हो जाता है। अतः भेददृष्टि के कारण जो सम्यग्दर्शन व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है, उसमें भी आत्मविनिश्चय, आत्मानुभूति और आत्मस्थिति रहती ही है। किन्तु चारित्रमोहनीय की अन्य प्रकृतियों के कारण उनमें स्थिरता न आ सकने से तीनों एकरूप नहीं हो पाते।

अतः अगले पृष्ठों में हम क्रमशः व्यवहार और निश्चयसम्यग्दर्शन के लक्षणों पर विचार करेंगे। □

"इन (पूर्वोक्त नौ) तथ्यस्वरूप भावों के सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण में जो भावपूर्वक श्रद्धान है, उसे सम्यक्त्व कहा गया है।"

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"[1]

"अपने-अपने स्वभाव में स्थित जीवादि तत्त्वरूप अर्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।"

इन दोनों सूत्रों में दिया गया यह लक्षण शब्दशः भले ही न मिलता हो, परन्तु दोनों का भावार्थ एक ही है—'जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा करना, सम्यग्दर्शन है।' यही वह लक्षण है, जो आगमकाल से चला आ रहा है। इसी लक्षण को केन्द्र में रखकर श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों परम्पराओं के मूर्धन्य विद्वान् ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वे क्रमशः दी जा रही हैं—

१. तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानं, तत्त्वेन वार्थानां श्रद्धानं, तत्त्वार्थश्रद्धानं, तत् सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः। तत्त्वानि जीवादीनि ......। त एव चार्थास्तेषां श्रद्धानं, तेषु प्रत्ययावधारणम्।[2]

"तत्त्वभूत पदार्थों का श्रद्धान, अथवा तत्त्व से (यथार्थ रूप से) अर्थों का श्रद्धान, तत्त्वार्थ श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है। तत्त्व जीवादि सात पदार्थ हैं। तत्त्व से—भाव से (यथार्थ रूप से—जो पदार्थ जैसा है, उसी रूप में) उसका निश्चय सम्यग्दर्शन है। ये ही जीवादि पदार्थ तत्त्व हैं, तत्त्वभूत हैं, उनका श्रद्धान—उनके यथार्थ स्वरूप में विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन है।"

२. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची, तस्य भावस्तत्त्वम्, योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्यभवनमित्यर्थः। अर्यते निश्चीयते इत्यर्थः। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। ...... अथवा तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।[3]

"तत्त्व शब्द भावसामान्य का वाचक है, "तस्य भावस्तत्त्वम्"—उस पदार्थ का भाव (जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप होना) तत्त्व शब्द का अर्थ है। अर्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—"जो निश्चय किया जाता है, वह अर्थ है।" तत्त्व (यथार्थरूप) में

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० २।
२. तत्त्वार्थभाष्य, अ० १, सू० २।
३. सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सू० २।

श्रद्धा, रुचि या निश्चय करता है, उसे सद्दृष्टि—सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।"

१३. छप्पंच णवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥[1]

"षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नौ (जीवादि) पदार्थ, जो जिनवरों द्वारा उपदिष्ट हैं, उनका आज्ञा से या अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।"

१४. जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तं ... ॥[2]

"जीव-अजीव आदि तत्त्वों के प्रति सदैव विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।"

१५ भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥[3]

"भूतार्थ (शुद्ध) नय से निश्चय किये हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व (इन तत्त्वों का श्रद्धान) सम्यग्दर्शन है। इन नौ तत्त्वों में एकत्व प्रकट करने वाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके शुद्धनय से नौ तत्त्वों को जानने से आत्मानुभूति होती है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।"

१६ रुचिर्जिनोक्त तत्त्वेषु सम्यग्दर्शनमुच्यते।[4]

"वीतराग देव द्वारा प्ररूपित तत्त्वों (नौ तत्त्वों) पर रुचि सम्यग्दर्शन कहलाता है।"

अब हम क्रमशः इन व्याख्याओं पर विश्लेषण करेंगे, जिससे तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को सांगोपांग हृदयंगम कर सकें।

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन : एक पर्यवेक्षण

तत्त्व एवं अर्थ क्या और क्यों ?—सम्यग्दर्शन की जो व्याख्या

---

१ षट्प्राभृत १।१९
२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, श्लोक २२।
३ समयसार, गा० १३।
४ योगशास्त्र, प्रकाश १, श्लोक १७।

लक्षण दिया गया है, उसमें सर्वप्रथम 'तत्त्व' शब्द पर हमारी दृष्टि जाती है कि तत्त्व क्या है ? उसे क्यों माना जाए, केवल अर्थश्रद्धान ही कह दिया जाता, तो क्या आपत्ति थी ?

शब्दशास्त्र के अनुसार तत्त्व का अर्थ होता है—'तस्यभाव'—'उसका भाव' यानी स्वरूप। जिस पदार्थ का जो भाव—स्वरूप है, वह उसका तत्त्व है। अर्थात्—जो पदार्थ जिस रूप में व्यवस्थित है, उसका वैसा होना तत्त्व है।

यदि सम्यग्दर्शन का लक्षण, केवल 'तत्त्वश्रद्धान' ही कर दिया जाता तो केवल भावमात्र को ही सम्यग्दर्शन कहा जाता। तब यह लक्षण अधूरा रह जाता। वैशेषिक आदि दर्शन तत्त्व पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि का ग्रहण करते हैं। यदि इस लक्षण में केवल 'तत्त्वश्रद्धान' इतना ही रखा जाता तो उक्त 'तत्त्व' पद में इन सबका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन हो जाता, जो युक्तिसंगत एवं अभीष्ट नहीं है।

अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची होने से इस लक्षण में तत्त्वपद रखने से वेदान्तदर्शन के 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—संसार में एक ही ब्रह्मतत्त्व है, दूसरा नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार 'सब एक है' इस प्रकार का लक्षण मानना पड़ता, जोकि अभीष्ट नहीं है। 'तत्त्वश्रद्धान' के वेदान्तानुसारी अर्थ मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान में विरोध आता है।

अतः इन सब दोषों को दूर करने के लिए सम्यग्दर्शन के लक्षण में तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदों का ग्रहण किया गया है।

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि केवल 'अर्थश्रद्धान' इतना ही सम्यग्दर्शन का लक्षण कह दिया जाता तो क्या आपत्ति थी ?

पहली आपत्ति तो यह थी कि अर्थ शब्द के धन, प्रयोजन, अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं, उन सबके ग्रहण का प्रसंग आता, जो युक्त एवं अभीष्ट नहीं है।

इतना ही लक्षण स्वीकार करने में दूसरी आपत्ति यह है कि 'अर्थश्रद्धान' शब्द का अर्थ होगा—पदार्थों का श्रद्धान। संसार में पदार्थ तो अनन्त हैं। किस किस पर श्रद्धा की जाए, किस-किस पर न की जाए ? इस दोषापत्ति के निवारणार्थ 'अर्थश्रद्धान' के पूर्व तत्त्व-शब्द को जोड़ा गया है। जो तत्त्वभूत पदार्थ हैं, उन्हीं पर श्रद्धा या विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वभूत पदार्थ किन्हें कहे जाएँ और क्यों ?

यदि तत्त्वभूत पदार्थ पर श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाए, तब सवाल यह होता है कि तत्त्वभूत पदार्थ किसे कहा जाए ? यदि तत्त्वभूत का अर्थ यह लिया जाए कि जिसकी जिस पर श्रद्धा या रुचि है, वही उसके लिए तत्त्वभूत है, तब तो बहुत गड़बड़ी होगी। बच्चे को मिठाई पर या माँ के दूध पर श्रद्धा रहती है, धनलोभी को धन के प्रति श्रद्धा होती है, कामुक को कामिनी पर रुचि होती है, चोर को परधनहरण करने में श्रद्धा होती है, भोगी को इन्द्रियों के विविध विषयों के भोग पर श्रद्धा रहती है तो क्या इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। आप कहेंगे कि ये तो तत्त्वभूत पदार्थ हैं ही नहीं। परन्तु जो अल्पज्ञ है, एवं मिथ्यात्वग्रस्त है, वह भ्रमवश इन्हें तत्त्वभूत पदार्थ मान भी सकता है।

इसका क्या प्रमाण है कि ये (शास्त्रों या ग्रन्थों में बताये गये) सात या नौ पदार्थ ही तत्त्व है, अन्य पदार्थ तत्त्वभूत नहीं है। इस शंका का समाधान यह है कि व्यवहार-सम्यग्दर्शन के इन सब लक्षणों में तथा व्याख्याओं में से अधिकांश में निम्न पदों का प्रयोग हुआ है—

'जिणपण्णत्तं तत्तं' 'जिणवरेहिं पण्णत्तं'

'जिनवरों द्वारा प्रज्ञप्त',

'जिनोक्ततत्त्वेषु'

'जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गये तत्त्व।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से बता दिया है कि ये सात या नौ तत्त्व, अथवा षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय या नवविध पदार्थ अल्पज्ञों द्वारा मनःकल्पित या मनगढ़ंत नहीं है, परन्तु वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा कथित या प्रज्ञप्त अथवा उपदिष्ट है। इसलिए तत्त्वभूत हैं। इन पर सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभुओं द्वारा तत्त्व या सत्य की मुहर छाप लगी हुई है। जिन लक्षणों अथवा व्याख्याओं में स्पष्टतया इन पदों का प्रयोग नहीं हुआ है, उनमें भी जिनोक्त, वीतरागभाषित या जिनोपदिष्ट आदि पदों का अध्याहार किया जाता है, अथवा समझ लिया जाता है। इसलिए ये पदार्थ वीतराग सर्वज्ञ द्वारा भाषित या उपदिष्ट होने से इनकी तत्त्वरूपता असंदिग्ध है।

वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन पदार्थों को तत्त्वभूत इसलिए बताया है कि जीवतत्त्व को छोड़कर शेष पदार्थ आत्मा के विकास एवं ह्रास में निमित्त है, शुद्धि और अशुद्धि में निमित्त कारण है, तथा इन तत्त्वभूत पदार्थों में आत्मा

को संसारवृद्धि एवं संसारह्रास के सभी पदार्थ समाविष्ट हो जाते है। मुख्यतया जीव और अजीव, इन दो तत्त्वों में संसार के समस्त पदार्थ आ जाते है। इसके अतिरिक्त जब आत्मा के चरम विकासरूप मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन को बताया गया है तो यहाँ उन्ही पदार्थों को तत्त्वभूत बताना आवश्यक समझा गया, जो आत्मा के चरम विकास में साधक या बाधक हैं, तथा इन्ही पदार्थों में से कौन-से उपादेय और कौन-से ज्ञेय हैं? यह आध्यात्मिक विकास के सन्दर्भ में बताना आवश्यक था। इस दृष्टि से जिनेन्द्र भगवान ने अजीव, आस्रव और बन्ध इन तीन पदार्थों को हेय, तथा जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय तथा सभी पदार्थों को ज्ञेय बताकर इनकी तत्त्वरूपता वास्तविकता प्रकट कर दी है। "सूत्रप्राभृत" (गा० ५) में इसी का समर्थन किया गया है—

> सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
> हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सुद्दिट्ठी॥

"जिनेन्द्र भगवान् ने जीव-अजीव आदि बहुविध पदार्थ सुतथ्य बताए हैं, उनमें से जो हेय हैं, उन्हें हेय रूप में और उपादेय को उपादेय रूप में (अर्थात्—जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये उपादेय, और शेष तीन हेय) जो जानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।"

आशय यह है कि जो पदार्थ हेय, ज्ञेय, उपादेय इन तीनों में से जैसा भी जिस रूप में अवस्थित है, उसका वैसा रूप बताकर उन ९ पदार्थों की तत्त्वरूपता स्पष्ट कर दी है। इसी कारण ये सभी जिनोक्त पदार्थ तत्त्वभूत माने जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि किसी व्यक्ति की बुद्धि बड़ी तीव्र है, उसने शास्त्र या ग्रन्थ पढ़कर सुनकर या रटकर इन ९ जिनोक्त तत्त्वभूत पदार्थों को जान लिया, वह उन तत्त्वों के नाम, भेद-प्रभेद, अर्थ-लक्षण या परिभाषाएँ, आदि कण्ठस्थ कर चुका है, बात-बात में वह उन तत्त्वभूत पदार्थों के सम्बन्ध में चर्चा या शंका-समाधान भी कर देता है, उस तत्त्वज्ञान की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो जाता है, उन तत्त्वों पर लम्बे-चौड़े लच्छेदार भाषण भी दे देता है, वाणी से श्रद्धा भी प्रकट कर देता है, दूसरों को भी उन तत्त्वों का स्वरूप समझा देता है; उनके मन में उन तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति श्रद्धा भी जमा देता है, परम्परागत संस्कारों के कारण भी वह अपने धर्म-सम्प्रदाय के गुरु से तत्त्वभूत पदार्थों का स्वरूप समझकर उन्हें ग्रहण कर लेता है, अपनी श्रद्धा पक्की भी बना लेता है कि ये ही तत्त्वभूत पदार्थ

ऐसा है, अजीव या पुद्गल मेरे से भिन्न पदार्थ हैं। इस प्रकार स्वभाव के प्रति आत्मलक्ष्यी श्रद्धा के बिना केवल तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति श्रद्धा कृतकार्य नहीं हो सकती। इसलिए तत्त्व और उसके स्वरूप के निश्चय यानी तत्त्वार्थ पर श्रद्धान स्वभाव के श्रद्धान से युक्त होगा, तभी सम्यग्दर्शन होगा।

इसका रहस्य यह है कि तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा तो की जाए, किन्तु उनके श्रद्धान की ओट में आत्मा को, आत्मा के विकास एवं हित को भुला न दिया जाए। नौ तत्त्वों में मुख्य तत्त्व जीव ही है। उसका (अपना) स्वरूप भूलकर जब जीव धनादि अचेतन पदार्थों में अपनी सुख-शान्ति और चेतना ढूँढता है, नये-नये रागादि विकल्प करता हुआ जीव-अजीव के साथ आस्रव-बन्ध का मेल बिठा लेने पर चारों एक हो जाते हैं। तदनन्तर स्वपर-भेदविज्ञान करके विकल्प उत्पन्न करने वाले कर्मों (संस्कारों) को आने से रोक दे और पूर्वविकल्प से बद्ध कर्मों को काटता चले और यों करते-करते एक दिन समस्त कर्मों और विकल्पों से पूर्णतया मुक्त होकर निर्बाध शान्ति का उपयोग करे तो जीव-अजीव के साथ संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों की एकता होगी। यों सात तत्त्वों के दो खण्ड हो गए—एक व्याकुलता-उत्पादक और दूसरा व्याकुलता-निवारक। पहला हेय, दूसरा उपादेय। हेय खण्ड को छोड़कर सिर्फ उपादेय खण्ड में विचरण करने पर एक अखण्ड जीवतत्त्व रहा।

तत्त्वभूत पदार्थ के प्रति आत्मलक्ष्यी श्रद्धान इसलिए भी आवश्यक बताया गया है कि इस आत्मा में अनन्तकाल से जैसे तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति अश्रद्धान रहा है, वैसे अतत्त्वभूत पदार्थों के प्रति भी श्रद्धान रहा है। अर्थात् जैसे—तत्त्वविषयक यथार्थश्रद्धान का अभाव मिथ्यादर्शन है, वैसे ही अतत्त्वविषयक अयथार्थ श्रद्धान भी मिथ्यात्व है। दोनों ही सम्यग्दर्शन में बाधक है। पहला सर्वथा मूढ दशा (निगोद आदि अविकसित जीवों) में होता है, जबकि दूसरा विचारदशा में मताभिनिवेश के कारण होता है, अतत्त्व में तत्त्वरूप श्रद्धा को अपना लिया जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन में तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति आत्मलक्ष्यी श्रद्धान अनिवार्य है।

तत्त्वरुचि : कब सम्यग्दर्शन, कब नहीं ?

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है—'रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु'—'जिनोक्त तत्त्वों में रुचि सम्यग्दर्शन है।' इस सम्बन्ध

में प्रश्न यह है कि केवल रुचि को धर्म कहा जाए या कर्मों का औदयिक परिणाम ?

गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि रुचि एक प्रकार का राग है, इच्छा है, कषायभाव है। रुचि धर्म कैसे बन सकेगी ? रुचि या इच्छा को सम्यग्दर्शन या धर्म कहा जाएगा तो संसार में कोई भी जीव अभव्य नहीं रहेगा, क्योंकि रुचि तो अभव्य में भी रहती है, रुचि मिथ्यादृष्टि में भी रहती है, उसे भी सम्यग्दृष्टि कहना पड़ेगा।

इसका समाधान यह दिया गया कि 'केवल रुचि को ही श्रद्धान या सम्यग्दर्शन नहीं कहते, अपितु तत्त्वरुचि को ही श्रद्धान एवं सम्यग्दर्शन कहते हैं।'

फिर भी एक प्रश्न रह जाता है कि तत्त्वरुचि तो नास्तिक, अन्धविश्वासी, मांसाहारी और व्यभिचारी किन्तु प्रखरबुद्धि वाले साक्षर (शिक्षित) व्यक्ति में भी पाई जाती है वह किसी न किसी लौकिक लक्ष्य से होती है। जैसे—किसी शिक्षित व्यक्ति में अपनी प्रसिद्धि, तरक्की और अन्य सांसारिक स्वार्थों को लेकर तत्त्वरुचि होती है, वह घंटों तत्त्वचर्चा में लीन रहता है, परन्तु उसकी वह तत्त्वरुचि आत्मलक्ष्यी नहीं, वह हेय को हेय तथा उपादेय को उपादेय समझकर भी हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने की ओर उन्मुख नहीं होता। न ही उसके जीवन में, उसकी दृष्टि और संस्कारों में कोई परिवर्तन होता है, क्योंकि उसकी तत्त्वरुचि सिर्फ संसारलक्ष्यी रही है, आत्मलक्ष्यी नहीं। अतः संसारलक्ष्यी तत्त्वरुचि राग है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, जबकि जो तत्त्वरुचि आत्मलक्ष्यी है, वह चेतना का शुद्ध परिणाम है, वह राग नहीं है। इसलिए आत्मलक्ष्यी तत्त्वरुचि को ही सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।

शुद्धनय से नौ तत्त्वों का श्रद्धान क्या और कैसे ?

समयसार में उक्त लक्षण 'भूयत्थेणाभिगदा' अर्थात् भूतार्थ—शुद्धनय से अभिगत जीवादि नौ तत्त्वों का श्रद्धान कहा है; इसका रहस्य यह है कि वहाँ अजीवादि के साथ आत्मा (जीव) का एकत्व प्रकट किया गया है। शुद्धनय की अपेक्षा नौ तत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण यह है कि वहाँ विकारी होने योग्य और विकारकर्ता दोनों पुण्य तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रवकर्ता दोनों आस्रव हैं, संवर होने योग्य और संवरकर्ता दोनों संवर हैं, निर्जरा

कहा गया है, वह बड़ा ही रहस्यमय है। 'तत्त्वार्थ' पद मे प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द इस बात की चेतावनी देता है कि इस लक्षण में तत्त्व शब्द से जिन प्रयोजनभूत जीव आदि सात या नौ तत्त्वो का संकेत किया गया है, यहाँ केवल उन शब्दो का या उनकी विस्तृत व्याख्याओ का श्रद्धान कराना ही इष्ट नही है, प्रत्युत उन भावो या स्वभावो का श्रद्धान कराना अभीष्ट है, जिनकी ओर ये व्याख्याएँ या शब्द संकेत कर रहे हैं और उन भावो या स्वभावो का ज्ञान कही बाहर नही है, प्रत्युत व्यक्ति के अपने ही मनोलोक मे, बुद्धिलोक मे या हृदयलोक मे निहित है। इसलिए न तो वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय है, न आगम और अनुमानप्रमाण के। केवल स्वानुभव-प्रत्यक्ष ही एकमात्र शरण है, उनके जानने-मानने के लिए। ज्ञानी-जनो ने कही भी अन्धविश्वास करने को नही कहा है। हाँ, किसी विषय को भली-भाँति समझने या उसकी सत्यता-असत्यता को परखने के लिए आगम, युक्ति आदि का सहारा लिया जा सकता है और स्वानुभव के साथ मिलान किया जा सकता है।

तत्त्वभूत पदार्थ या तथ्य कितने और क्यो ?

जैनागमो मे ९ तत्त्वों का निर्देश किया है, जिन्हे तथ्य कहा गया है, यथा—

> जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
> संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥[1]

"अर्थात्— जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तथ्य—तत्त्व है।"

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य कई ग्रन्थों में सात ही तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, जैसे—

> "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।"

"जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ७ तत्त्व है।"

पुण्य और पाप का आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव हो जाता है। शुभ कर्मों का आगमन पुण्यास्रव और अशुभकर्मों का आगमन पापास्रव है, तथा

---

१ उत्तराध्ययन २८।१४

शुभकर्मों का बन्ध पुण्यबन्ध और अशुभकर्मों का बन्ध पापबन्ध कहलाता है।

इन्ही सातो को तत्त्व या तत्त्वभूत पदार्थ कहा गया है, जिन पर श्रद्धान एवं ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न होता है—ये सात बाते ही तथ्य या तत्त्वरूप क्यो बताई गई है ? कम या अधिक क्यो नही ?

वस्तुतः किसी भी कार्य की सफलता के लिए ये सात बाते ही यथार्थतः जाननी तथा श्रद्धा करनी आवश्यक हैं। इनके जाने या श्रद्धा किये बिना वह महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ ही नही किया जा सकेगा। यदि इन ७ तथ्यो मे से सिर्फ किन्ही एक या दो का ज्ञान व श्रद्धान रखकर, शेष तथ्यो की परवाह न करके साधना शुरू कर दी जाएगी तो आगे चलकर *असफलता और निराशा ही पल्ले पड़ेगी, फल निकलेगा--निष्फल, पुरुषार्थ* एवं शक्ति और समय का नाश।

इस बात को निम्न उदाहरण से समझिए—

किसी व्यक्ति को किसी पदार्थ का कारखाना लगाना है, तो वह निम्नोक्त सात तथ्यों पर विचार एवं निश्चय करेगा—(१) मूल पदार्थ (Raw materal) क्या है ?, (२) उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य पदार्थ (विकृति पैदा करने वाले—Impurities) क्या हैं ?, (३) उनके मिश्रण का कारण क्या है ?, (४) पदार्थ का मिश्रित स्वरूप क्या है ?, (५) मिश्रण के रोकने व सावधानी रखने का उपाय, (६) मिश्रित विजातीय पदार्थ के शोधन का उपाय, तथा (७) शुद्ध पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

इसी प्रकार किसी रोग को सर्वथा विनष्ट करके पूर्ण स्वस्थ होना इष्ट है तो उसे भी इन ७ तथ्यो को जानकर उन पर श्रद्धा करनी पड़ेगी—(१) निरोगी—स्वस्थ रहना मेरा मूल स्वभाव है, (२) पर वर्तमान में क सा रोग आ गया है ?, (३) रोग का कारण, (४) रोग का नि (५) अपथ्य-सेवन का निषेध : रोग को रोकने का उपाय, (६) पुराने के नाश के लिए योग—औषध-सेवन, (७) निरोगी अवस्था का स्वरूप।

जिस प्रकार लौकिक कार्यों की सफलता के लिए ७ तथ्यो को जा तथा उन पर श्रद्धा करना आवश्यक है, वैसे ही आत्मा की पूर्ण स्वस्थ या अनन्त सुख-शान्ति की प्राप्ति जैसे लोकोत्तर कार्य की सफलता के भी पूर्वोक्त ७ तथ्यो का जानना एवं उन पर श्रद्धा करना आवश्यक

जीव आदि ७ तत्त्वों या ९ तत्त्वों का स्वरूप

जीव, अजीव आदि ७ या ९ तत्त्वों पर यथार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीव आदि तत्त्वों का स्वरूप क्या है? अब हम इन तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में बताते हैं—

जीव—यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि सात तत्त्वों या नौ पदार्थों में जीव ही प्रधान है। जीव के अतिरिक्त जितने भी अन्य पदार्थ या तत्त्व हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीव से ही सम्बन्धित हैं। जीवतत्त्व को केन्द्र में रखकर ही वे इसके चारों ओर घूमते हैं। जीव का अस्तित्व है तो आस्रव और बन्ध का भी अस्तित्व है। जीव को लेकर ही संवर एवं निर्जरा की सत्ता है। अजीव भी जीव से सम्पर्क के कारण, जीव का विरोधी होने के कारण अजीव कहलाता है। मोक्ष भी जीव की ही एक सर्वथा शुद्ध अवस्थाविशेष है। इसीलिए जीव की प्रधानता एवं श्रेष्ठता को लेकर कहा गया है—

> उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
> तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥

"वास्तव में जीव को उत्तम गुणों का धाम, सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य एवं सर्वतत्त्वों में श्रेष्ठ तत्त्व समझो।"

भले ही सर्वसाधारण को समझाने के लिए इसका नाम 'जीव' रखा गया हो, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो जीव ही समस्त गुणों और भावों का आधार है। यह जब तक देह में बैठा है, तब तक मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, तथा पुण्य-पाप, शुभाशुभ आदि का व्यापार चलता है। जीव जिस दिन इस शरीर को छोड़ देता है, तो जीवन की समस्त क्रियाएँ अपने आप बन्द हो जाती हैं। जीव का लक्षण बताया गया है—'उपयोगो लक्षणम्' अर्थात्—उपयोग जीव का लक्षण है। किन्तु बृहद्द्रव्यसंग्रह में इसका स्पष्ट लक्षण बताया गया है—

> जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो ।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[1]

"अर्थात्—जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, अपने शरीर के प्रमाण (बराबर) है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है, और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।"

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, अधि० १, गा० २।

आशय यह है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से जीव (विशुद्ध आत्मा) आदि, मध्य और अन्त से रहित, स्वपरप्रकाशक, अविनाशी, उपाधि-रहित और शुद्ध चैतन्य लक्षण वाले निश्चय प्राण से जीता है, तथापि अशुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्मबन्धन के वश अशुद्ध द्रव्य-भावप्राण से जीता है, इसलिए जीव है। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्ण निर्मल, केवलज्ञान-दर्शन-उपयोगमय है, तथापि अशुद्धनय से क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनोपयोगमय है। जीव निश्चयनय से अमूर्तिक (इन्द्रियों से अगोचर, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक) है, तथापि व्यवहारनय से मूर्तिक कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवान है। यद्यपि निश्चयनय से जीव क्रिया-रहित, अविचल, ज्ञायक, एकमात्र स्व-भाव का धारक है, तथापि व्यवहारनय से मन-वचन-काया के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों सहित होने से शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है। इसी प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादि विकल्परूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मा में उत्पन्न सुखरूपी अमृत का भोक्ता है, तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा से उस प्रकार के सुखामृत का अभाव होने से शुभकर्म से उत्पन्न सुख और अशुभकर्म से उत्पन्न दुःख का भोक्ता है। यह जीव निश्चयनय से लोकाकाश परिमित असंख्य स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबन्धनवश शरीरनाम कर्म के उदय से उत्पन्न अपने-अपने देहप्रमाण घटादि में स्थित दीपक के प्रकाशवत् संकोच—विस्तारशील है। यद्यपि जीव शुद्धनय की अपेक्षा से संसाररहित, और नित्य आनन्द स्वभाव है, तथापि अशुद्धनय की अपेक्षा से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इन पाँच प्रकार के संसार में रहता है। इस कारण संसारस्थ है। यह जीव व्यवहारनय से निज आत्मा की प्राप्ति-स्वरूप जो सिद्धत्व है, उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय के कारण सिद्ध (मुक्त) नहीं है, तथापि निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि गुण-स्वभाव होने से सिद्ध है। यह जीव यद्यपि व्यवहारनय से चार गतियों को प्राप्त कराने वाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा, तिरछा गमन करता है फिर भी निश्चयनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्राप्ति-स्वरूप मोक्ष में गमन के समय स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है।

इस प्रकार व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की दृष्टि से जीवतत्त्व का स्वरूप है।

अजीव — जीव के पश्चात् अजीवतत्त्व आता है, जो जीव का प्रतिपक्षी है। [illegible] ... [illegible] बताया है अब अजीव का स्वरूप

है— जिसमे चेतना न हो—जड हो, उपयोग न हो (सुख-दुःख का ज्ञान न हो)। अजीव का शब्दार्थ ही है, 'जो जीव न हो वह'।

अजीव के मुख्यत पाँच भेद है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गल।

अजीव का दो भागों मे वर्गीकरण किया गया है—रूपी और अरूपी। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, कर्म आदि सब अजीव पुद्गल है। ये सब जड परमाणुओ के पिण्ड है। रागादिभाव वस्तुत चेतन या जीव के स्वाभाविक भाव नही हैं; किन्तु मोहसहित संसारी जीव में ये होते है, मोहरहित मुक्त जीव में नही होते। ये रागादि भाव अचेतन होते हुए भी चेतन के साथ घुल-मिल जाते है।

आस्रव—जीव और अजीव के बाद आस्रव तत्त्व आता है। जीव और अजीव दोनो की विभावरूप परिणति ही वस्तुत आस्रव है। एक ओर से आत्मा राग-द्वेषरूप विभाव अवस्था मे परिणत होता है तो दूसरी ओर से कार्मण पुद्गल भी कर्मरूप विभाव अवस्था में परिणत होता है। इन दोनों की उभयमुखी विभाव परिणति के कारण जब अजीव द्रव्य (कार्मण पुद्गल वर्गणाएँ) जीव के साथ संयोग करने के लिए आकर्षित होता है, जीव के सम्पर्क मे आने लगता है, उस अवस्था को शास्त्रकारो ने आस्रव कहा है। जिस प्रकार समुद्र मे चलने वाली सछिद्र नौका में पानी आता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत (अविरति), प्रमाद, कषाय और शुभाशुभ (उपयोग से वासित) मानसिक, वाचिक, कायिक योग (क्रिया-प्रवृत्ति)—इन पाँच कारणो से शुभाशुभ कर्मों का आत्मा मे आगमन या प्रवेश करना आस्रव कहलाता है।[1] पुण्य और पाप को ही शुभास्रव और अशुभास्रव कह देते है। शुभ योग से पुण्य का आस्रव (आगमन) होता है और अशुभयोग से पापास्रव का। आस्रव के ५ अव्रत, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, एवं २५ क्रियाएँ, यों कुल ३९ भेद है।[2] तीन योग मिलाकर कहीं-कहीं इसके ४२ भेद भी किये गये है।

---

१ (क) वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० ३९।
(ख) योगसार प्राभृत, आस्रवाधिकार श्लोक १, २।
(ग) प्रशमरति, श्लोक २२०।
(घ) कायवाङ्मन कर्मयोग। स आस्रव। शुभ पुण्यस्य। अशुभ पापस्य।
—तत्त्वार्थसूत्र अ० ६, सू० १, २, ३, ४

२. 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया पंचचतुःपंचपंचविंशति संख्या पूर्वस्य भेदा।'
—तत्त्वार्थसूत्र अ० ६।६.

सम्यग्दृष्टि आस्रव के निम्न कारणों से बचता है—

(१) सचेतन-अचेतन पर-पदार्थों पर अपनेपन की बुद्धि से [illegible] मिथ्यात्ववश कर्मास्रव होता है।

(२) दृश्यमान कर्मजनित 'शरीरादि पदार्थ मुझमें हैं', 'मेरे साथ इनका तादात्म्य है,' 'इनका उपादान कारण मैं हूँ'; इस प्रकार के मिथ्यादर्शन से कर्मास्रव होता है।

(३) मैं अतीत में देहादि का स्वामी था, वर्तमान में हूँ, भविष्य में होऊँगा, ऐसा मिथ्यात्व भी कर्मास्रव का हेतु है।

(४) आत्मा के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से दारुण कर्मास्रव होता है।

(५) आत्मा जब तक परद्रव्यों से सुख-दुःखादि की इच्छा-[illegible] रखता है, तब तक कर्मास्रव नहीं रुक सकता।

(६) स्वदेह-परदेह (स्वजनादि शरीर) में आत्मबुद्धि रहेगी, तब तक कर्मास्रव नहीं रुकता।

(७) रागादि भाव, इन्द्रिय, कर्म, नोकर्म तथा रूप-रसादि विषयों [illegible] मैं हूँ, मैं इनका हूँ, इस प्रकार आत्मा के तादात्म्य-एकत्व की कल्पना करने से कर्मास्रव नहीं रुकता।

(८) हिंसादि पाँच पापों में मन की प्रवृत्ति अशुभ कर्मास्रव का कारण है।

(९) परद्रव्य में राग-द्वेष से शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आस्रव के कारणों से दूर रहने का [illegible] करता है।[1]

पुण्य पाप—शुभकर्म के वे पुद्गल, जिनसे जीव सांसारिक सुख [illegible] है पुण्य है और अशुभकर्म के वे पुद्गल, जिनसे जीव दुःख [illegible] पाप है।

[illegible] और पुण्य दोनों ही आस्रव हैं। [illegible] अशुभ है, [illegible] [illegible] अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उसका परिणाम दुःख [illegible] है। पुण्य [illegible] अच्छा लगता है, क्योंकि उसका परिणाम [illegible]

[1] [illegible]

सुख एवं समृद्धि है। इस दृष्टि से संसारी आत्मा पुण्य को पकडता है, और पाप को छोडता है। परन्तु जिस प्रकार पाप बन्धन है, उसी प्रकार पुण्य भी बन्धन है। पाप लोहे की बेडी है तो पुण्य सोने की। लेकिन बेडी तो बेडी है। दोनो का कार्य एक ही है। मोहमुग्ध आत्मा पुण्य के बन्धन को पाकर अपने को सौभाग्यशाली मानता है, किन्तु वह यह नही समझता कि जैसे लोहे की बेडी बन्धन का काम करती है, वैसे ही सोने की बेड़ी भी बन्धन में डालती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा यही सोचता है, जैसे पाप बन्धन है, वैसे ही पुण्य भी बन्धन ही है। दोनों मे आध्यात्मिक दृष्टि से कोई अन्तर नही है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुण्य अनुकूल-वेदन है, जबकि पाप प्रतिकूल-वेदन। पुण्य क्षणिक सुखरूप है तो पाप दु खरूप है। पुण्य की सुखरूपता और अनुकूलता भी केवल व्यवहार-दृष्टि मे है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी की दृष्टि में बन्धन बन्धन ही है, फिर भले ही वह दु खरूप हो या क्षणिक सुखरूप हो। यह सत्य है कि पुण्य मानव के जीवन-विकास में उपयोगी और सहायक हो सकता है, तथापि यह निश्चित है कि वह आस्रव है, अत विकार होने से अन्तत हेय ही है, उपादेय नही।

प्रश्न होता है, किस कार्य में पुण्य है और किस मे पाप ? सामान्य स्थूलदृष्टि लोग पुण्य-पाप का मापतौल बाह्य क्रियाओ या कार्यों पर से करते है, परन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। क्रियाएँ करते है—तन, मन और वचन। ये तीनों जड है। क्या इन जड वस्तुओ से होने वाली क्रियाओ का फल इन जड वस्तुओं को मिलेगा ? क्या कर्मबन्ध इनको होगा ? अगर जड को कर्मबन्ध हो, और उसका फल भी उसे मिले तब तो ईंट-पत्थर आदि अकस्मात् किसी के सिर या पैर पर पड गए, चोट लगी, वह खत्म हो गया, तो क्या उस क्रिया के द्वारा ईंट पत्थर के पापकर्मबन्ध होगा, या उसका अशुभ फल मिलेगा ? सिद्धान्त की दृष्टि से तो ईंट-पत्थर को न तो पाप हुआ, न ही उसका फल मिलेगा। कर्मबन्ध होता है चेतन को, उसका फल भी चेतन को मिलता है। इसलिए पुण्य-पाप का सम्बन्ध किन्ही जड की क्रियाओ के साथ नही है, वह चेतन आत्मा की भावना पर आधारित है। शुभ संकल्प या भाव (परिणाम) पुण्य का स्रोत है, जबकि अशुभ संकल्प या भाव पाप का स्रोत है।

बाह्य (शारीरिक) क्रियाओ पर से अगर पुण्य-पाप का नापतौल किया जाएगा तो बडी गडबड़ी होगी। उदाहरणार्थ—कुछ व्यक्ति स्नान करने के लिए शरीर से कपड़े उतार रहे हैं। कोई मालिश करने की दृष्टि से

या विकार अन्दर न आने पावे, क्योंकि वह जानता है कि जब तक अन्दर के शुभाशुभ विकल्प और रागद्वेषादि विकार दूर नहीं होंगे तब तक मुक्ति नहीं होगी। बन्ध का अर्थ योगसार में किया गया है—

> पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः।
> योगतः स मतो बन्धो, जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥[1]

"कर्म (कार्मणवर्गणा के रूप मे परिणत होकर जीव के साथ बन्ध होने) के योग्य पुद्गलो का कषाययोग से (कषायसहित मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से) जो ग्रहण होता है, वह बन्ध माना गया है; जो जीव की अस्वतंत्रता का कारण है।"

कर्मबन्ध के ४ प्रकार है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। रागद्वेष से युक्त चेतन-आत्मा ही कर्म बाँधता है, जो राग-द्वेष की स्निग्धता से रहित है, वह मन-वचन-काया की क्रिया करता हुआ भी कर्म नही बाँधता।

संवर—प्रतिक्षण आत्मा मे आते हुए कर्मदलिको को रोक देना ही संवर है। कषायों का निरोध भावसंवर है, जबकि कषाय-निरोध होने पर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के आगमन का विच्छेद होता है, उसे द्रव्यसंवर कहते है।[2] वस्तुतः आस्रवों का निरोध ही संवर है।[3] आत्मा प्रतिक्षण कषाय और योग के वशीभूत होकर कर्मों का उपार्जन करता रहता है। अतः उन नवीन कर्मों के आगमन को रोक देना ही संवर है। संवर के समिति, गुप्ति आदि ५७ भेद है।

निर्जरा—पूर्वबद्ध कर्मों का आत्मा से एकदेश से (अंशतः) हटते जाना ही निर्जरा है। बन्ध के हेतुओ का जब तक अभाव नही होता तथा नये कर्मों का आस्रव (आगमन) नहीं रुकता, तब तक निर्जरा बनती ही नहीं।[4]

निर्जरा के मुख्य दो भेद बताए गए है—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। सम्यग्दृष्टि साधक के लिए सकाम निर्जरा ही अभीष्ट है। अकाम-

---

१ योगसार, बन्धाधिकार १।
२ योगसार, संवराधिकार १,२।
३. 'आस्रवनिरोध संवर' —तत्त्वार्थ सूत्र ६।१
४. योगसार, निर्जराधिकार १,२।

निर्जरा वास्तव में निर्जरा नहीं, उसमें तो बलात् कष्ट सहना, या अज्ञानपूर्वक कष्ट सहना होता है, तथा वह तो प्रतिक्षण स्वयमेव ही होती रहती है क्योंकि पूर्वबद्ध कर्मों का फल देकर झर जाना ही अकाम निर्जरा है।

योगसार में पाकजा और अपाकजा, ये दो भेद निर्जरा के किये गये हैं। पाकजा में पके हुए कर्म (फल देने को उद्यत) का क्षय होता है, तथा अपाकजा में पके (काल-प्राप्त) और बिना पके (अकाल-प्राप्त) दोनों प्रकार के कर्मों का विनाश होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा समभावपूर्वक कष्ट, दु:ख, विपदा सहकर कर्मों की निर्जरा कर लेता है।

मोक्ष—कर्मबन्ध के कारणों का अभाव तथा संचित कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा होने पर आत्मा से समस्त कर्मों का विच्छेद (सम्बन्धाभाव) हो जाना मोक्ष है।

मोक्ष के मुख्य दो कारण हैं—संवर और निर्जरा। मोक्ष के पश्चात् फिर संसार में जन्म नहीं होता। मोक्ष आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है जिसमें आत्मा का किसी भी विजातीय पदार्थ के साथ संयोग नहीं रहता और आत्मा समस्त विकल्पों और विकारों से रहित होकर स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा इसी को लक्ष्य बनाकर राग-द्वेषात्मक विकल्पों से बचते हुए प्रवृत्ति करता है।

इस प्रकार जीव तत्त्व के सहित शेष ६ या ८ तत्त्वों का स्वरूप जानकर उन पर श्रद्धान करना ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। □

व्यवहार-सम्यग्दर्शन के लक्षणों का समन्वय

इससे पूर्व व्यवहार-सम्यग्दर्शन का प्रथम लक्षण बताया गया था 'तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन' है, और इस दूसरे लक्षण में 'देव, गुरु, धर्म और शास्त्र तथा तत्त्वभूत पदार्थ पर श्रद्धान को सम्यग्दर्शन' बताया गया है।

प्रश्न होता है, क्या इनमें पूर्वापर विरोध नहीं है ? प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रन्थ 'धवला' में इसका समाधान बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया गया है कि दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। आप्त, आगम और पदार्थ अथवा देव, गुरु और धर्म, इन तीनों को तत्त्वार्थ समझना चाहिए। अर्थात् सप्त या नव तत्त्वों में ही तत्त्वार्थ की परिसमाप्ति न करके तत्त्वार्थ के अन्तर्गत देव, गुरु, धर्म, शास्त्र एवं तत्त्व को भी समझ लेना चाहिए। ये सभी तत्त्वभूत पदार्थ हैं।[1]

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि जब 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' रूप लक्षण से ही काम चल जाता है तो अर्हन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और हिंसारहित सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म पर श्रद्धान को सम्यग्दर्शन क्यों कहा गया ? इसका समाधान 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में बहुत ही युक्तिसंगत किया गया है—"अरिहंत देव आदि पर श्रद्धान होने से या कुदेव आदि के प्रति श्रद्धान हट जाने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है, इस अपेक्षा से इसे सम्यग्दर्शन कहा है, किन्तु यही सम्यक्त्व का एकमात्र तथा सार्वत्रिक एवं सर्वथा लक्षण नहीं है। मिथ्या अरिहंतदेव आदि के प्रति श्रद्धान होने मात्र से तो सम्यक्त्व हो भी सकता है, नहीं भी, साथ ही यह भी सत्य है कि अरिहंत आदि के प्रति श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं हो सकता। इसलिए अरिहंतादि के प्रति श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है। इसी कारण इसका नाम व्यवहार-सम्यक्त्व है। अथवा जिस जीव को तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसे सच्चे देव (अरिहन्त) आदि के स्वरूप का श्रद्धान अवश्य ही होता है, इसी प्रकार जिसे सच्चे अरिहंत देव आदि के स्वरूप के प्रति श्रद्धान होता है उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है। इस प्रकार इन दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध जानकर अरिहन्तादि के प्रति श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है।"

---

१ धवल १.१.१.०१२२।२

प्रश्न होता है—कोई व्यक्ति अरिहन्त आदि देवों के प्रति श्रद्धा रखता है, उनके गुणों को पहचानता है, किन्तु उसे तत्त्वार्थ श्रद्धा नहीं है, तो उस स्थिति में क्या उसे सम्यग्दृष्टि कहा जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि जीव-अजीव आदि का स्वरूप पहचाने बिना अरिहन्तादि के प्रति कोरी अन्धश्रद्धा से तो वह उनके आत्माश्रित गुणों और शरीराश्रित गुणों को भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता, ऐसी स्थिति में वह अपनी आत्मा को भी परद्रव्य से भिन्न नहीं जान-मान सकता,[1] अतः उसका अरिहन्तादि के प्रति श्रद्धान वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के पूर्वोक्त दोनों लक्षणों की उपयोगिता

पूर्ण सत्य को स्वयं जानने और पाने के मार्ग की अपेक्षा दूसरा सहज मार्ग यह है कि जिन वीतराग महापुरुषों ने स्वानुभूति से पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, तथा उन्होंने तत्त्वभूत सत्य का जो भी स्वरूप बताया है, उस पर पूर्ण श्रद्धा करके चलना। इसे ही जैन सिद्धान्तमर्मज्ञों ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है। अर्थात्—पूर्ण सत्य का साक्षात् अनुभव करने वाले वीतराग पुरुषों (आदि) पर श्रद्धा रखकर उनके बताए हुए यथार्थदर्शन के सन्दर्भ में पूर्ण सत्यभूत तत्त्वों को दृढ़ विश्वास के साथ मानना। जैसे कि सूत्रकृतांग में बताया है

'अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु'[2]

"नहीं देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो।"

पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्ति किसी श्वेत वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं कर पाता। उसे श्वेत वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए दो मार्ग हो सकते हैं। प्रथम मार्ग यह है कि जब उसकी बीमारी स्वाभाविक रूप से कुछ मिट जाए, तब वह अपनी पहले-पीछे की अनुभूति में अन्तर पाकर अपने रोग को जाने और प्रयत्न द्वारा उसे शान्त करके वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध पा जाए। दूसरा मार्ग यह है कि जब किसी दूसरे अनुभवी एवं स्वस्थ दृष्टि वाले व्यक्ति द्वारा उसे यह बताया जाए कि वह श्वेत वस्तु को पीत वर्ण की देख रहा है, उस पर विश्वास करे, उसकी बात

---

१. [illegible]

२. सूत्रकृतांग, ३।१।११

मान ले। सम्यग्दृष्टि वाले या अनुभवी व्यक्ति की बात को मान लिए जाने से उसे अपनी भ्रान्तावस्था तथा दृष्टि की दूषितता का ज्ञान हो जाता है, साथ ही वह वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में जान भी लेता है।

सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थदृष्टि कहें, चाहे तत्त्वार्थश्रद्धान, चाहे देव गुरु धर्म शास्त्र आदि पर श्रद्धान, उनमें वास्तविकता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तर होता है, केवल उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग करके किसी सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दूसरा व्यक्ति उस वैज्ञानिक या विशेषज्ञ के कथन पर या उसके द्वारा किये हुए विविध प्रयोगों या प्रयोगविधियों पर विश्वास करके वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। उक्त दोनों दशाओं में व्यक्ति की दृष्टि यथार्थ एवं सम्यक् ही कही जाएगी, भले ही दोनों की उपलब्धि-विधि में अन्तर हो। एक ने स्वतः प्रयोग करके उसे तत्त्व-साक्षात्कार या स्वानुभूति से पाया, जबकि दूसरे ने सम्यक् दृढ़ श्रद्धा के माध्यम से।

निष्कर्ष यह है कि वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टि की यथार्थता दो माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है, या तो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-साक्षात्कार करे, या उन वीतरागों एवं साधकों पर या उनकी साधना प्रक्रिया एवं उनके वचनों पर श्रद्धा करे। तत्त्वश्रद्धा तो तब तक के लिए एक अनिवार्य विकल्प है, जब तक साधक स्वयं तत्त्व साक्षात्कार न कर ले। अन्तिम स्थिति तो तत्त्व-साक्षात्कार की है।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का मन्तव्य है कि तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो यह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्व-साक्षात्कार है। तत्त्व श्रद्धा का सोपान दृढ़ हो, तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व साक्षात्कार होता है।[1]

देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा : क्यों और कैसे ?

पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट संकेत कर दिया गया है कि केवल 'तत्त्वार्थ-श्रद्धान' कह देने से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले का काम नहीं चल सकता। सभी साधक उच्च भूमिका वाले नहीं होते। इसलिए प्राथमिक भूमिका के साधकों को बताया गया कि अरिहन्तदेव पर, निर्ग्रन्थ गुरु पर और वीतराग-प्ररूपित धर्म पर या शास्त्र पर श्रद्धा करो।

---

१ जैनधर्म का प्राण (पं० सुखलालजी), पृष्ठ २४।

प्राथमिक भूमिका में साधक को अपनी आत्मा की उन्नति के प्रति रुचि तो होती है, परन्तु उसकी आत्मा उस समय अविकसित दशा में होती है, वह ऐसा कोई आलम्बन ढूंढती है, जिससे वह विकास कर सके। उस समय इतना गहरा अनुभव नहीं होता, इसलिए न तो उसे अपने आदर्श का पता होता है, न मार्ग-दर्शक का और न मार्ग का।

प्राथमिक भूमिका का व्यक्ति चाहता है कि मैं अशाश्वत से शाश्वत की ओर, मिथ्यात्व या असत्य से सम्यक्त्व या सत्य की ओर, अविद्या और अज्ञान से विद्या की ओर या सम्यग्ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, परावलम्बन से स्वावलम्बन की ओर गति-प्रगति करूँ। उस समय उसे किसी न किसी अनुभवी, विशिष्ट ज्ञानी, साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए एवं वर्तमान में साधनापथ पर गति करने वाले तत्त्वों पर श्रद्धा रखकर चलने की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्रबुद्ध मनीषियों ने तीन तत्त्वों पर श्रद्धा रखकर चलना आवश्यक बताया—देवतत्त्व पर, गुरुतत्त्व पर और धर्मतत्त्व पर।

जो व्यक्ति ज्ञान, सुख, शक्ति की उच्चतम भूमिका—आत्मा के पूर्ण विकास की अवस्था पर पहुँच चुके हैं, वे आदर्श-वीतराग देव हैं, जो उस ओर स्वयं बढ़ रहे हैं और दूसरों को बढ़ने के लिए आह्वान करते हैं, उपदेश देते हैं, वे मार्गदर्शक—निर्ग्रन्थ गुरु हैं, और उच्चतम भूमिका पर पहुँचे हुए सफल व्यक्तियों ने अपने पूर्ण अनुभव से जो कल्याणकारी सत्यरूप पथ बताये हैं, वे धर्म है। जैनधर्म में इन तत्त्वों को क्रमशः देव, गुरु और धर्म शब्द से प्रकट किया गया है।

देवतत्त्व साधना के आदर्श को उपस्थित करता है। गुरुतत्त्व साधना का यथार्थ मार्ग बताता है और साधक को इधर-उधर विचलित होने से रोकता है, शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है, गर्व आने पर शान्त करता है। तीसरा धर्मतत्त्व आत्मा के विकास और शुद्धि के लिए मार्ग है, वह भी वीतराग-सर्वज्ञप्ररूपित ही ग्राह्य है।

यहाँ बुद्धिवादियों की ओर से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति को प्रत्येक बात अपनी बुद्धि से जाँच-परखकर स्वीकार करनी चाहिए। वह क्यों दूसरों की बुद्धि पर निर्भर रहे, उनमें अपनी श्रद्धा को आरोपित करे? परन्तु यह कथन युक्ति-संगत नहीं है।

सांसारिक मनुष्य की बुद्धि इतनी अल्प है कि सभी बातों का परीक्षण

वह स्वयं नहीं कर सकती। विज्ञान के क्षेत्र में भी मनुष्य को प्राचीन अन्वेषणों को आधार मानकर चलना आवश्यक है। अन्यथा, यदि वह नंँ सिरे से अपने अन्वेषण प्रारम्भ करे तो उसकी प्रगति ठप हो जायेगी, वह वहीं रह जायेगा, जहाँ पहले था। इसलिए प्राचीन अनुभवशील, निर्दोष, वीतराग पुरुषों एवं उनके बताये पथ पर चलने वाले निर्ग्रन्थ साधकों के अनुभवों पर विश्वास रखकर आगे बढ़ना उचित होता है। जब व्यक्ति स्वयं उन्हीं अनुभवों का साक्षात्कार कर लेता है, तब दूसरे के अनुभव पर विश्वास के स्थान पर अपने ही अनुभव पर चलता है, उसका सारा अनुभव अपना हो जाता है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में वह भूमिका १३वें गुणस्थान में आती है। उस कैवल्यदशा को प्राप्त करने से पहले दूसरे के अनुभवों पर विश्वास करने में कोई हानि नहीं है, बशर्ते कि शुद्ध निष्पक्ष बुद्धि से अपने अनुभव से उसे मिला ले, क्योंकि बुद्धि में एक दोष यह है कि वह प्रायः मन में जमे हुए राग के संस्कारों का समर्थन करती है। यदि व्यक्ति किसी को अच्छा मानता है, तो उसकी बुद्धि उसी का समर्थन करती हुई, अनेक गुण उसमें बता देगी और यदि वह किसी को बुरा मानता है तो उसकी बुद्धि उसमें दोष निकाल देगी। बुद्धि के अनुसार सत्य को जानने के लिए चित्तशुद्धि अनिवार्य है। शुद्ध चित्त वह है, जिसमें अनुराग या द्वेष, मोह, आसक्ति या घृणा-वैर-विरोध न हो, पक्षपात न हो। इस प्रकार की चित्त शुद्धि के लिए साधना आवश्यक है, जिसकी बुनियाद सम्यक्‌श्रद्धा है। यही कारण है सम्यग्दर्शन के इस लक्षण में परिष्कार कर दिया गया है। 'शुद्धधी:' 'गतोज्झितं गुणान्वितं' 'कारणद्वयात्', 'मूढत्रयोऽष्टमदस्तथानायतनानि षट्', 'सुनिर्मल' आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है, ताकि शुद्ध बुद्धि से दोषरहित, गुणसहित निर्मल श्रद्धान हो।

सामान्य अविकसित आत्मा के लिए आदर्श, पथप्रदर्शक एवं पथ—तीनों अभी तक अज्ञात होते है। जो अभी तक अज्ञात है, अननुभूत है, अस्पष्ट है, अभी तक जिसे न तो जाना है, न ही जिसके अनुभव का जरा-सा भी स्वाद लिया है उस अपरिचित अननुभूत की खोज कैसे हो? खोज के लिए ऐसे व्यक्ति का पता लगाना आवश्यक होता है, जिसने पहले खोज की हो, अपनी खोज में जो सफलतापूर्वक आगे से आगे बढ़कर साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुका हो, अथवा जो उसी के बताये हुए पथ पर गति-प्रगति कर रहा हो।

निष्कर्ष यह है कि उस अपरिचित आदर्श, पथदर्शक और पथ के

पाना तभी हो सकता है, जब वर्तमान जीवन मे भी मूल्यवान उस अज्ञान को समझकर उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि हो। यही कारण है कि ऐसी अपरिचित-अज्ञात त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा सम्यग्दर्शन (सत्यदर्शन) का कारण होते हुए भी सम्यग्दर्शन मान ली गई है।

श्रद्धा का महत्त्व व उपयोग

हाँ, इन तीनो श्रद्धेय तत्त्वो मे जिन गुणो या विशेषताओं की आवश्यकता है, उन्हें अवश्य जान लेना चाहिए।

जैनधर्म गुणपूजक है। वह देव और गुरु के रूप में किसी व्यक्ति-विशेष को उपस्थित नही करता। अपेक्षित गुणों तथा अन्य विशुद्धियों से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति हो, कही भी जन्मा हो, किसी भी सम्प्रदाय मे सम्बद्ध हो, किसी भी वेष में हो, वह श्रद्धेय है, वन्द्य है, उपास्य है। साथ ही धर्म भी वीतराग-केवली द्वारा प्ररूपित हो, वही श्रद्धेय या मान्य है। इन तीनों तत्त्वो का स्वरूप हम आगे बतायेंगे। फिलहाल तो यही सोचना है कि सम्यग्दर्शन का यह बाह्य स्वरूप देव, गुरु और धर्म, इन तीनो तत्त्वो पर श्रद्धा करने का है। यह श्रद्धा प्राथमिक है, पहली चोट है। यह बहुत उपयोगी है। जहाँ पहले-पहल अग्नि प्रगट होती है, वही बहुत उपयोगी होती है। अन्त में तो उसका इतना उपयोग नही रहता, मगर प्रथमत तो उसका बहुत उपयोग है ही।

चित्त वासना से अधिक ग्रस्त हो तब व्यक्ति सही सोच नही पाता, यथार्थ देख-सुन नही पाता। अत चित्त को शान्त एव एकाग्र करने के लिए उसे (चित्त को) किसी आधार की आवश्यकता होती ही है। वह आधार कोई-न-कोई शुद्ध-चित्त व्यक्ति या तत्त्व होना चाहिए, जहाँ चित्त वासना-शून्य होकर शान्त हो सके, एकाग्र हो सके, विश्राम कर सके। यह विश्राम ही श्रद्धा है।

देव के प्रति श्रद्धा

साधारण मनुष्य का चित्त प्राय अनेक भागो अथवा खण्डों में बंटा रहता है, कटा-कटा-सा रहता है, वासनाओं से व्यग्र भी रहता है। वह श्रद्धा नहीं है, जो अनेक पर बँटी हो, या थोडी श्रद्धा वीतराग अरिहन्त पर हो, कुछ अश्रद्धा भी हो, दूसरों के प्रति भी थोडा भरोसा हो, थोड़ा अपने व्यक्तित्व पर भी भरोसा हो। ऐसा खण्ड-खण्ड विश्वास श्रद्धा नहीं हो सकती। श्रद्धा के लिए अखण्डता अत्यन्त आवश्यक है।

मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति को परमात्मतत्त्व का, आत्मा का, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदि का कुछ भी पता या अनुभव नहीं होता। उसे यह भी पता नहीं होता है कि मानव-शरीर में स्थित आत्मा में ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा इन सब कर्मों, वासनाओं आदि दोषों को पार करके मुक्ति की मंजिल तक पहुँचा जा सकता है तथा मुक्ति को प्राप्त किये हुए अथवा जीवन्मुक्त (अरिहन्त) व्यक्ति भी होते हैं। अतः ऐसा व्यक्ति, जो उस जीवन्मुक्त पुरुष की झलक पा रहा है, उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर मुस्तैदी से आगे बढ़ रहा है, ऐसे व्यक्ति (गुरु) पर पूर्ण श्रद्धा रखकर ही वह अविकसित आत्मा कुछ पा सकता है। परोक्षरूप से ही सही, उस देवाधिदेव से परिचित हो सकता है। ऐसे व्यक्ति की निकटता से जो अपनी आत्मा के विकास की प्रतीति होती है, उसी का नाम श्रद्धा है।

श्रद्धा का अर्थ अन्ध-विश्वास नहीं, आँखें मूँदकर बिना सोचे-समझे किसी भी व्यक्ति को अपना हृदय समर्पित कर देना, मस्तक झुका देना या उसकी बात मान लेना श्रद्धा नहीं।

जैनधर्म जीवन-विकास के लिए श्रद्धा और तर्क दोनों को आवश्यक बताता है। तर्क जीवन को प्रखर बनाता है, जबकि श्रद्धा जीवन को सरस बनाती है। श्रद्धा के साथ तर्क का समन्वय होने पर ही वह सच्ची श्रद्धा होगी। श्रद्धा इसलिए आवश्यक है कि जीवन का कोई न कोई सुदृढ़ केन्द्र व अविचल आधार होना जरूरी है। श्रद्धा के साथ तर्क इसलिए आवश्यक है कि श्रद्धा-भक्ति के प्रवाह में बहकर व्यक्ति अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग किये बिना आडम्बर और वाग्जाल से बहकर इधर-उधर न लुढ़क जाये। अपनी परम्परागत धारणा को लेकर किसी भी व्यक्ति या तत्त्व की ओर झुक जाना श्रद्धा नहीं है। परन्तु देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के जो लक्षण बताये गये हैं, तदनुसार पहले भलीभाँति छान-बीन कर लेने के बाद इस विश्वास के साथ इन तीनों के साथ जुड़ जाना कि जिस प्रकार का सर्वोत्तम भविष्य अरिहन्त (वीतराग देव) का हुआ है, और जिस प्रकार वीतराग-पथ के पथिकों (गुरुओं) का हुआ है, जिस प्रकार की अलौकिक सुख-शान्ति एवं आत्मिक शक्ति उन्हें प्राप्त हुई है, एक दिन वैसा ही उत्तम भविष्य हमारा भी होगा। इस धर्मतत्त्व से जिस प्रकार अनेकों लोगों ने मुक्ति प्राप्त की है, संसार-सागर से पार होकर अनन्त चतुष्टय पाये हैं, वैसे ही इस धर्मतत्त्व से हम भी प्राप्त करेंगे, यही सच्चे माने में श्रद्धा है।

इस प्रकार के (शास्त्रनिर्दिष्ट देव-गुरु का) व्यक्तित्व एवं तत्त्व पर

जब प्रतीति हो जाये तब व्यक्ति उसके और अपने बीच कोई परदा या दीवार न रखे, सर्वथा खुल जाये, उसको साथ लेकर चलने को तैयार हो, तभी श्रद्धा कृतकार्य एवं सफल हो सकती है। श्रद्धा का स्वाद तभी आयेगा, जब व्यक्ति अपने अहंकार को खोकर उसके साथ अपनी प्राथमिक यात्रा करेगा, जिसने उन मार्गों को जान लिया है किन्तु जिन मार्गों से वह स्वयं अभी तक अपरिचित है, अज्ञात है। केवल उस वीतराग पुरुष के या वीतराग-मार्गपथिक के या धर्मतत्त्व के गुणगान कर लेने, अथवा सुन लेने, उनकी आकृति या प्रतिकृति देख लेने या उनके प्रचार के लिए कुछ धन खर्च कर देने अथवा शरीर से कुछ श्रम कर देने मात्र से श्रद्धा फलित नहीं होती। श्रद्धा तभी सच्चे माने में सफल होगी, जब व्यक्ति अपने हृदय में उन श्रद्धेय तत्त्वों को धारण करेगा, उनके सामने आत्म-समर्पण कर देगा, कुर्बान हो जायेगा, प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो जायेगा, अपने अहंकार को छोड़कर मन में संकल्प कर लेगा कि आज से ये ही श्रद्धेय तत्त्व मेरी आँखें हैं, ये ही मेरे कान हैं, ये ही मेरे हृदय है। मैं इन्हीं के द्वारा देखूँगा, सुनूँगा, सोचूँगा।[1]

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में इस प्रकार की श्रद्धा प्रकट न होने के कारण को प्रस्तुत किया गया है :

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
> जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रम्,
> यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥[2]

"हे जनबान्धव ! आपके विषय में मैंने सुना, मैंने आपकी बाह्य पूजा भी की, आपकी प्रतिकृति भी देखी, किन्तु आपको मैंने हृदय में भक्ति-भावपूर्वक धारण नहीं किया, यही कारण है कि मैं दुःख का पात्र बना, क्योंकि कोई भी भावशून्य क्रिया प्रतिफलित नहीं होती।"

श्रद्धा का अर्थ है, श्रद्धेय तत्त्व का रस एवं उसकी धुन श्रद्धा करने वाले में समा जाए, प्रविष्ट हो जाए। श्रद्धा शारीरिक वस्तु नहीं है, शारीरिक क्रियाओं में परिसमाप्त नहीं होती, वह अन्तरंग वस्तु है, आत्मा

---

१ तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सण्णी, तण्णिवेसणे .... ।
 —आचा० १।५।६।१६२

२. कल्याणमन्दिर स्तोत्र, काव्य ३८।

परख कर सकता है। वस्तुत देव, गुरु, धर्म और शास्त्र मनुष्य के आध्यात्मिक विकास मे निमित्त हैं, अवलम्बन हैं, किन्तु साधक में विवेक-दृष्टि न हो तो देव, गुरु या शास्त्र कितना ही उपदेश दे दें, शास्त्र का स्वाध्याय भी वह कितना ही कर ले, उससे कोई लाभ होने वाला नही। देव, गुरु और शास्त्र का कथन किस अपेक्षा मे है ? किस द्रव्य, क्षेत्र, काल और पात्र को लेकर वह कथन किया गया है ? इस प्रकार की विवेकदृष्टि नही है तो वह उसके लिए हानिकारक ही सिद्ध होगा। विचार-जड़ता से हानि की ही सम्भावना है। परीक्षा-प्रधान साधक शास्त्र-वचन, वीतराग-वाणी या गुरुवचन को अपनी बुद्धि की तुला पर तौलता है, तर्क की कसौटी पर कसता है, फिर उसमें से जितना अंश उसके लिए वर्तमान में उपयोगी है, उतना ग्रहण कर लेता है, शेष को रख देता है।

इसलिए देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा के साथ विवेकदृष्टि होनी चाहिए अन्यथा देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा से जो लाभ होना चाहिए वह नही हो सकेगा। इन श्रद्धेय तत्त्वों को, अपने प्रति किसी के द्वारा श्रद्धा करने, न करने से कोई लाभ-अलाभ नहीं। लेकिन श्रद्धालु यदि इनके प्रति श्रद्धा नही करता तो उसी की हानि है। श्रद्धालु हो श्रद्धा से अपनी आत्मा का विकास कर लेता है, वही जिनेश्वर देव पर, सद्गुरु पर एव सद्धर्म पर श्रद्धा करके एक दिन स्वय वीतराग बन जाता है, मुक्त हो जाता है।

कई लोग कहते हैं कि हमारी अपने देव, गुरु और धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा है, परन्तु इतने से ही सम्यग्दर्शन नही आ जाता, यो तो वैष्णव, शाक्त, शैव, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी अपने-अपने देव, गुरु और धर्म पर यकीन, विश्वास (Faith) या श्रद्धा रखते है, परन्तु उनमे आत्मदर्शन का—अपनी आत्मा के प्रति सच्ची एवं दृढ श्रद्धा का अभाव है। अपनी आत्मा पर पहले श्रद्धा होगी, तभी देव-गुरु आदि पर श्रद्धा टिकेगी। अर्थात्—आत्म-दर्शन होने पर ही देव, गुरु, धर्म पर विश्वास टिकेगा। वैसी आत्मलक्ष्यी श्रद्धा ही कल्याणकारिणी होगी। इस मूल बात को न समझकर केवल देवादि पर श्रद्धा से तो बहुत-से साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ते हैं, कषाय और रागद्वेष फैलते है।

वास्तव मे देखा जाए तो देव, गुरु और धर्म, ये साध्य नही, साधन है, निमित्त है. साध्य तो स्वय आत्मा ही है। देव, गुरु, धर्म तो ऊर्ध्वारोहण करने के लिए अवलम्बन है, सहारे हैं। चढ़ना तो आत्मा को ही है। मोक्ष मे पहुँचना तो स्वय आत्मा को ही है। मोक्ष-प्राप्ति के समय

[illegible] धर्म का मार्ग। [illegible] के अध्ययन [illegible] है।

[illegible] द्वारा प्रस्तुत देव, गु[रु] धर्म और शासन का स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि इनसे परिभाषा [illegible] से पूर्व इनके स्वरूप को समझा जा सके।

देव [illegible]

[illegible] के मतानुसार में अरिहन्त या आप्त को ही दे[व] माना गया है। [illegible] देव है। भारतीय परम्परा में उसकी [illegible]। वैदिक परम्परा में मिलता है, वहाँ प्रत्येक विशिष्ट शक्ति को ही देव मान लिया गया है, और [illegible] वरदाता के रूप में माना है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत आदि को देव मा[नकर] विविध सांसारिक सुखों और अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उन[की] स्तुति करके उनसे वरदान माँगना ही उन धर्मों और धर्मानुयायियों [का] मुख्य ध्येय हो गया। जब वैदिक विचारधारा का और विकास हुआ [तब] ईश्वर और उसके अवतारों को देव माना जाने लगा। वहाँ ईश्वर [की] कल्पना भी ऐसी है कि उससे भी मनुष्य को आत्मविकास करके ईश्वर प्राप्त करने की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती, क्योंकि वहाँ देवकृपा को ही प्रमुखता दी गई है।

योगदर्शन में कथित ईश्वर के लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है [कि] वह कभी क्लेश, कर्मविपाक और आशय से लिप्त हुआ ही नहीं, सदा अलिप्त रहा है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र में चलते हुए जहाजों के [लिए] ध्रुव के समान है, जिसे देखकर सभी चलते हैं, किन्तु वहाँ तक पहुँच[ता] कोई नहीं।

योगदर्शन का ईश्वर आदर्श था और आदर्श ही रहेगा, वह क[भी] दोषों से लिप्त हुआ ही नहीं। जब कि जैनदर्शन का अरिहन्त भी आदर्श [है] परन्तु वह सदा से ही आदर्श नहीं रहा। अवनत से उन्नत बना है। वि[भिन्न] योनियों और गतियों में भ्रमण करते हुए अपनी साधना से राग-द्वेष मि[टा]कर वीतराग अरिहंत बना है। जीव अगर उनके अनुसार पुरुषार्थ करे [तो] एक दिन वह भी राग-द्वेषमुक्त अरिहन्त बन सकता है, सिद्ध-बुद्ध-[मुक्त] हो सकता है।

वैदिक-सम्प्रदायों में अवतारवाद की भी विचारधारा जोर-शोर में ा है। जब भी धर्म का ह्रास होता है तो उत्तम शक्तियाँ ऊपर से पशुरूप शु-मानव रूप में तथा मानव के रूप में अवतरित होती है। मानव में शक्ति नहीं है कि वह अपनी शक्ति में इतना विकसित हो सके। अत तारी पुरुष ऊपर से आकर पापियों का संहार और धर्मियों का उद्धार के चले जाते हैं।

वैदिक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ गीता (४-७।८) में स्पष्ट उद्घोष है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

"हे भारत (अर्जुन)! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ, प्रकट करता हूँ। ही साधु पुरुषों (सज्जनों) के दुःखों को दूर करने और दुष्ट कर्म करने तों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में ट होता हूँ।"

परन्तु जैनदर्शन न तो इन्द्रादि देवों को वरदाता के रूप में आदर्श ता है, और न ही अवतारी पुरुषों को अपना आदर्श मानता है। वह ही पुरुषों को आदर्श देव के रूप में मानता है, जो राग-द्वेषादि १८ दोषों रहित हों। सम्यग्दृष्टि पुरुष देव से वरदान माँगता ही नहीं, वह तो नी ही साधना के बल पर स्वयं वीतराग या मुक्त बन जाता है। रहन्त देव को केवल प्रेरणास्रोत प्रकाश-स्तम्भ के समान मानता है।

देव के लक्षण

अब हम देव के लक्षण दे रहे हैं—

> सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
> यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥[1]

"जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों को जिसने पूर्णरूप जीत लिया हो, जो तीनों लोक द्वारा पूज्य हो, और यथार्थ वस्तुस्वरूप प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी ही सच्चे देव हैं।"

> आप्तः स्याद्दोषविनिर्मुक्तः सर्वज्ञः शास्त्रभेदकः[2]

---

[1] योगशास्त्र, २।४
[2] गुणभूषण श्रावकाचार, उ० १।७

[illegible] ... धर्म का [illegible] ... के अरहन्त [illegible] ... है।

[illegible] ... द्वारा [illegible] देव, [illegible] ... है, [illegible] ... गये।

देव : [illegible]

[illegible] के [illegible] में अरिहन्त या आप्त को ही देव माना गया है। [illegible] भारतीय [illegible] में उनकी [illegible]। [illegible] वैदिक परम्परा में मिलता है। [illegible] वहाँ प्रत्येक [illegible] शक्ति को ही देव मान लिया गया है, और उन्हें वरदाता के रूप में माना है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत आदि को देव मान कर विविध सांसारिक सुखों और अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उनकी स्तुति करके उनसे वरदान माँगना ही उन धर्मों और धर्मानुयायियों का मुख्य ध्येय हो गया। जब वैदिक विचारधारा का और विकास हुआ तो ईश्वर और उसके अवतारों को देव माना जाने लगा। वहाँ ईश्वर की कल्पना भी ऐसी है कि उसमें भी मनुष्य को आत्मविकास करके ईश्वरत्व प्राप्त करने की कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती, क्योंकि वहाँ देवकृपा को ही प्रमुखता दी गई है।

योगदर्शन में कथित ईश्वर के लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि वह कभी क्लेश, कर्मविपाक और आशय से लिप्त हुआ ही नहीं, सदा से अलिप्त रहा है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र में चलते हुए जहाजों के लिए ध्रुव के समान है, जिसे देखकर सभी चलते हैं, किन्तु वहाँ तक पहुँचा कोई नहीं।

योगदर्शन का ईश्वर आदर्श था और आदर्श ही रहेगा, वह कभी दोषों से लिप्त हुआ ही नहीं। जब कि जैनदर्शन का अरिहन्त भी आदर्श है परन्तु वह सदा से ही आदर्श नहीं रहा। अवनत से उन्नत बना है। विविध योनियों और गतियों में भ्रमण करते हुए अपनी साधना से राग-द्वेष मिटा कर वीतराग अरिहंत बना है। जीव अगर उनके अनुसार पुरुषार्थ करे तो एक दिन वह भी राग-द्वेषमुक्त अरिहन्त बन सकता है, सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो सकता है।

वैदिक-सम्प्रदायो में अवतारवाद की भी विचारधारा जोर-शोर से फली है। जब भी धर्म का ह्रास होता है तो उत्तम शक्तियाँ ऊपर से पशुरूप में, पशु-मानव रूप मे तथा मानव के रूप मे अवतरित होती है। मानव मे वह शक्ति नही है कि वह अपनी शक्ति मे इतना विकसित हो सके। अत अवतारी पुरुष ऊपर से आकर पापियो का सहार और धर्मियो का उद्धार करके चले जाते है।

वैदिक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ गीता (४-७।८) मे स्पष्ट उद्घोष है—

यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥८॥

"हे भारत (अर्जुन)! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ, प्रकट करता हूँ। मैं ही साधु पुरुषो (सज्जनो) के दु खो को दूर करने और दुष्ट कर्म करने वालो का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग मे प्रकट होता हूँ।"

परन्तु जैनदर्शन न तो इन्द्रादि देवो को वरदाता के रूप मे आदर्श मानता है, और न ही अवतारी पुरुषो को अपना आदर्श मानता है। वह उन्ही पुरुषो को आदर्श देव के रूप में मानता है, जो राग-द्वेषादि १८ दोषों से रहित हो। सम्यग्दृष्टि पुरुष देव मे वरदान मांगता ही नही, वह तो अपनी ही साधना के बल पर स्वय वीतराग या मुक्त बन जाता है। अरिहन्त देव को केवल प्रेरणास्रोत प्रकाश-स्तम्भ के समान मानता है।

देव के लक्षण

अब हम देव के लक्षण दे रहे है—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजित ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥[1]

"जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारो को जिसने पूर्णरूप से जीत लिया हो, जो तीनो लोक द्वारा पूज्य हो, और यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी ही सच्चे देव है।"

आप्तः स्याद्दोषविनिर्मुक्तः सर्वज्ञः शास्त्रभेदकः[2]

---

१. योगशास्त्र, २।४
२ गुणभूषण श्रावकाचार, उ० १।७

जो समस्त दोषों से मुक्त, सर्वज्ञ और आगम का उपदेशक हो, वह आप्त है [illegible] है।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥[1]

[illegible] है जिसने समस्त दोषों का नाश कर दिया है, जो सर्वज्ञ है तथा हितोपदेशक है। इन तीन प्रमुख गुणों से युक्त हो, वही निश्चित रूप से आप्त है, अन्य प्रकार से यह आप्तता नहीं आ सकती।"

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥[2]

"जो दिव्य औदारिक शरीर में विराजमान है जिसने ज्ञानावरणीय आदि ४ घातिकर्मों का नष्ट कर दिया है, जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य एवं अनन्तसुख से परिपूर्ण है, एवं धर्मोपदेशक है, वही अर्हन्त है।"

मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसम्पदा ।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः ॥[3]

"जो अठारह दोषों से मुक्त है, तथा सर्वज्ञ सम्पदा से युक्त है, भव्य जीवों को मुक्तिपथ का उपदेश देता है, वह त्रिलोक-स्वामी आप्त है।"

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥[4]

"जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकों का अधिपति है, समस्त दोषों से रहित है, समस्त प्राणियों का हितैषी है, उसे ही आप्त कहते हैं।"

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥[5]

"जो समस्त दोषों से रहित है, केवलज्ञानादि परम वैभवों से युक्त है उसे परमात्मा कहते है, जो इससे विपरीत है, वह परमात्मा नहीं हो सकता।"

---

१ रत्नकरड श्रावकाचार, श्लोक ५।
२ लाटी संहिता, सर्ग ४।१३६।
३ अनगार धर्मामृत, श्लोक १४।
४ उपासकाध्ययन २।४६।
५. नियमसार—जीवाधिकार, गा० ७।

अरिहन्त भगवान जिन १८ दोषों से रहित है, वे इस प्रकार है—

१ दानान्तराय,	७ रति,	१३ निद्रा(प्रमाद),
२ लाभान्तराय,	८. अरति,	१४. अविरति (त्याग का अभाव),
३ भोगान्तराय,	९. जुगुप्सा (घृणा),	१५ राग,
४ उपभोगान्तराय,	१० भय,	१६ द्वेष,
५ वीर्यान्तराय,	११ काम(वासना-वेदत्रय),	१७. शोक (चिन्ता) और
६ हास्य,	१२ अज्ञान(मूढता),	१८ *मिथ्यात्व* ।[1]

जैनधर्म में स्वर्गलोक के भोगी-विलासी देवों का स्थान अलौकिक और आदरणीय रूप में नहीं माना है। उनकी पूजा, भक्ति या सेवा करना मनुष्य की मानसिक दुर्बलता है। जैनधर्म आध्यात्मिक-भावनाप्रधान धर्म है। अतः श्रद्धा और भक्ति के द्वारा उपास्यदेव वही हो सकता है, जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्ण विकास के शिखर पर पहुँच गया हो, संसार की समस्त मोहमाया से मुक्त हो चुका हो, रागद्वेष-कषायादि विकारों पर सर्वथा विजय प्राप्त कर चुका हो, तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन के महाप्रकाश में तीनों काल और तीनों लोक को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता-देखता हो। इसके अतिरिक्त सच्चा वीतराग अरिहन्तदेव वही महापुरुष होता है, जो उपर्युक्त १८ दोषों से सर्वथा रहित हो। वही सम्यग्दृष्टि के लिए श्रद्धास्पद होता है। इसके विपरीत जो कुदेव हैं, रागादि दोषों से युक्त हैं, अनुग्रह और निग्रहपरायण है, जो स्त्री, शस्त्रादि रखते हैं, जिनके शत्रु होते है, सांसारिक राग-रंग आदि में लिप्त हैं, वे सम्यग्दृष्टि के लिए उपासनीय, श्रद्धेय एवं शरण्य नहीं हो सकते।[2]

गुरु निर्ग्रन्थ एवं साधनाशील

देवतत्त्व के बाद दूसरा श्रद्धेय तत्त्व है—गुरु। प्रत्येक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व ग्रहण के समय यह प्रतिज्ञा करता है—*'सुसाहुणो गुरुणो'* अर्थात्—

१ दिगम्बर परम्परा में लाटी संहिता में राग-द्वेषादि दोष जो घातिकर्म चतुष्टय से सम्बद्ध हैं, माने हैं, शेष ग्रन्थकार १८ दोष प्रायः इस प्रकार मानते हैं—१. क्षुधा २. पिपासा, ३. जरा, ४ रोग, ५ जन्म, ६ मृत्यु, ७ भय, ८ मद, ९ राग, १० द्वेष, ११ मोह, १२. चिन्ता, १३. रति, १४ निद्रा, १५ विस्मय, १६. विषाद, १७. स्वेद और १८ खेद। —वसुनन्दि श्रावकाचार

२. योगशास्त्र, प्रकाश २।६-७

सुसाधु मेरे गुरु हैं। आवश्यकसूत्र[1] में ऐसे गुरु के छत्तीस गुण बताए हैं—

> पंचिंदियसंवरणो तह नवविह बंभचेर-गुत्तिधरो।
> चउविहकसायमुक्को इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो॥
> पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायार पालणसमत्थो।
> पंचसमिओ तिगुत्तो छत्तीस गुणो गुरु मज्झ॥

"पाँच इन्द्रियों के विषयों को रोकने अथवा वश करने वाले, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों के धारक, चार प्रकार के कषायों से मुक्त, इन १८ गुणों से युक्त तथा पंचमहाव्रतों के पालक, ज्ञानादि पंचाचार-पालन में समर्थ, पंचसमिति, त्रिगुप्ति से युक्त, यों ३६ गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।"

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में गुरु का लक्षण इस प्रकार दिया है—

> महाव्रतधराधीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
> सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः।[1]

"अहिंसा आदि ५ महाव्रतों के धारक, परीषह एवं उपसर्ग आने पर भी व्याकुल न होने वाले धीर, भिक्षा से ही जीवननिर्वाह करने वाले, सदा सामायिक—समभाव में रहने वाले और सद्धर्म का उपदेश देने वाले गुरु कहलाते हैं।"

सच्चा साधु संयम-पालनार्थ आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त अपने पास कोई परिग्रहवर्द्धक वस्तु नहीं रखता, सीमित वस्त्र-पात्र रखता है। रात्रिभोजन नहीं करता, पैदल चलता है, स्वयं गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा लाता है। भिक्षाचरी, निवास, भोजन, विहार आदि प्रत्येक चर्या में विवेक और सावधानी रखता है। स्वावलम्बन उसकी चर्या का मुख्य अंग है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रशस्त गुरु का लक्षण यह दिया है—

> विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
> ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥[2]

"जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति एवं वांछा से रहित है, षट्जीव-कायिक आरम्भ (हिंसा) से विरत है, निष्परिग्रही है, ज्ञान, ध्यान और तप में रत रहता है, वही तपस्वी गुरु प्रशस्त (प्रशंसा के योग्य) है।"

---

1. योगशास्त्र, प्र० २।८।
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १०।

जैन साधु के लिए प्राकृत भाषा में 'समण' शब्द का प्रयोग होता है जिसके तीन रूप होते हैं—'श्रमण' 'शमन' और 'समन'। आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक सभी बातों में वह अपने श्रम पर, अपने तप एवं संयम पर निर्भर रहता है, इसलिए 'श्रमण' कहलाता है; कषायों तथा इन्द्रिय-विषयों पर राग-द्वेष का शमन करता है, इसलिए 'शमन' कहलाता है; एवं प्राणिमात्र पर, शत्रु-मित्र पर, अनुकूलता-प्रतिकूलता में, निन्दा-प्रशंसा में सम रहता है,इसलिए 'समन' कहलाता है।[1]

ऐसा सुसाधु ही सम्यग्दृष्टि एवं व्रती श्रावक के लिए श्रद्धेय एवं उपास्य होता है।

ऐसा सुसाधु गुरु केवल मार्गदर्शक होता है, वह हाथ पकड़कर नहीं चलाता, और न ही किसी के क्रोधादि विकार-विष को वमता है। मध्यकाल में भक्तियोग—समर्पण का दौर चला तो अनुगामी या शिष्य गुरु को ही सब कुछ-मानकर पराश्रित हो गया, कर्मयोग न विमुख भी हो गया, स्वयं साधना में पुरुषार्थ से अलग हो गया, फलत शिष्य या अनुगामी में जड़ता या निष्क्रियता आ गई, वह अपना आत्मविश्वास, आत्मविकास खो बैठा। ऐसा सदा परावलम्बी बना रहने वाला शिष्य या अनुयायी अपनी क्षमताओं को विकसित न कर सका।

लेकिन सम्यग्दृष्टि के लिए ऐसा गुरु श्रद्धेय नहीं होता और न ही ऐसे गुरु कभी श्रद्धेय हो सकते है, जो रात-दिन भोग-विलास में लगे रहते हैं, चढ़ावे के रूप में बड़ी-बड़ी भेंटें लेते हैं, राजाओं का-सा ठाठ-बाट सजाए रखते हैं, माल-मलीदा खाते है, कंचन और कामिनी के चक्कर में पड़े रहते हैं, इत्र-फुलेल लगाते है, नाटक-सिनेमा देखते हैं, गाजा, अफीम, भांग, मद्य, सुलफा आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, आरम्भ-परिग्रह में आसक्त रहते है।[2]

धर्मतत्त्व विश्लेषण

सम्यग्दृष्टि के लिए तीसरा श्रद्धेय तत्त्व धर्मतत्त्व है। इसे कहीं-कहीं दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में तत्त्वज्ञान या तत्त्व भी कहा है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दोनों ही नाम मिलते है, कहीं हिंसा-रहित धर्म, कहीं

1. 'समया ए समणो होइ' —उत्तराध्ययन
2. योगशास्त्र, प्रकाश २।६-१०.

दानादिपल्लवोपेतं ध्यानपुष्प जिनेश्वरा ।
स्वर्ग-मुक्ति फलाद्यं च धर्म कल्पद्रुम जगु. ॥[1]

"जिनेश्वर देव ने धर्म को कल्पवृक्ष कहा है, इसका महामूल सम्यग्-दर्शन है, यह सम्यक्दया के जल से सींचा जाता है, ज्ञानाचरण इसका महास्कन्ध है, क्षमा आदि दस धर्म इसकी शाखाएँ हैं, यह दान-शील आदि पत्तों से सुशोभित है, इसके सुध्यानरूपी पुष्प है, और स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फलों से यह समृद्ध है।"

धर्म क्या है, क्या नहीं ?

आज संसार में अनेक धर्म प्रचलित है, सब अलग-अलग राग अलापते हैं। कोई दाढी, चोटी या जनेऊ मे धर्म मानता है, कोई किसी को एक पैसा दे डालने में, कोई पीपल के चार चक्कर लगा देने मे, कोई एकादशी का व्रत करने मे, कोई किसी क्रियाकाण्ड मे और कोई किसी में धर्म मानता है। साधारण मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है कि ये सब धर्म है भी या नहीं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सब धर्म के कलेवर, सम्प्रदाय हैं, इनमे धर्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, किन्तु ये स्वयं धर्म नहीं है।

धर्म जीवन का बहुत बडा बल है। आध्यात्मिक जीवन का प्राण ही धर्म है। धर्म के सम्बन्ध मे ससार के विचारकों द्वारा कथित हजारों परिभाषाएँ मिलती है। अत. धर्म जैसे विराट् तत्त्व को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन है। भगवान् महावीर से पूछा गया तो उन्होंने किसी क्रियाकाण्ड या रीति-रिवाज में धर्म को न बाँधकर उत्तर दिया—"जहाँ अहिंसा, संयम और तप हो, वही धर्म है।" अर्थात्—जिस व्यक्ति के अन्तर्मानस मे विश्व-मैत्री हो, दुर्वृत्तियों पर नियन्त्रण हो, और इच्छाओं का निरोध हो, वही धर्म है।

धर्म कोई भौतिक तत्त्व नहीं, न ही किसी स्थान विशेष पर रखा जा सकता है, वह तो जीवन के कण-कण में है। धर्म न तो शरीर मे है, न शरीर की किसी क्रिया में है, न ही धर्म का वास वाणी में है, न मन मे। ये सब पुद्गल की रचनाएं हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म का स्पष्ट और व्यापक स्वरूप बताया—'वत्थुसहावो धम्मो।' प्रत्येक वस्तु का अपना जो

---

१ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ३।१०५-१०६

निर्ग्रन्थ-धर्म, तथा कहीं-कहीं तत्त्व या तत्त्वभूत पदार्थ शब्द मिलता है। योगशास्त्र में धर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

> दुर्गतौप्रपतत्प्राणि—धारणाद्धर्म उच्यते ।
> संयमादिर्दशविध, सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥[1]

"नरक और तिर्यंचगति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म कहलाता है। सर्वज्ञ द्वारा कथित संयम आदि दस प्रकार का धर्म ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ है।"

जिनोक्त धर्म ही श्रद्धेय एवं ग्राह्य है। जिन का अर्थ है—जिसने रागद्वेष को जीत लिया है, तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उसे सर्वज्ञ भी कहते है। जो वीतराग (जिन) होंगे, वे कोई भी मिथ्या कथन नहीं करेंगे। कहा भी है—

> वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रूवते क्वचित् ।
> यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शकम् ॥[2]

"क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ कदापि मिथ्या भाषण नहीं करते, इसलिए उनके वचन तथ्य सत्य होते है, यथार्थ वस्तुस्वरूप के दर्शक होते हैं।"

मिथ्या भाषण के मुख्य दो कारण हो सकते है—कषाय और अज्ञान। वीतराग जिनेन्द्र भगवान इन दोनों कारणों से रहित है। उनका कोई भी स्वार्थ नहीं होता, वे किसी बात को नहीं जानते हों, ऐसा भी नहीं है। इसलिए सर्वज्ञ जिनोक्त तत्त्व या धर्म मिथ्या नहीं हो सकता।

इसके विपरीत जो मिथ्यादृष्टि एवं रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा प्रवर्तित धर्म है, जो हिंसादि दोषों से कलुषित है; वह धर्म के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी संसार-परिभ्रमण का कारण है।[3]

जिनोक्त धर्म को प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है—

> सद्दर्शनमहामूलं सद्दयाजलसिंचितम् ।
> ज्ञानवृत्तिमहास्कन्धं क्षमादिशाखशोभितम् ॥

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश २।११
२. आचारांगवृत्ति, पत्रांक २०१
३. योगशास्त्र, प्रकाश २।१३.

दानादिपल्लवोपेतं ध्यानपुष्पं जिनेश्वराः ।
स्वर्ग-मुक्ति फलाढ्यं च धर्मकल्पद्रुमं जगुः ॥[1]

"जिनेश्वर देव ने धर्म को कल्पवृक्ष कहा है, इसका महामूल सम्यग्-दर्शन है, यह सम्यक्दया के जल से सींचा जाता है, ज्ञानाचरण इसका महास्कन्ध है, क्षमा आदि दस धर्म इसकी शाखाएँ हैं, यह दान-शील आदि पत्तों से सुशोभित है, इसके शुभ्यानरूपी पुष्प हैं, और स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फलों से यह समृद्ध है।"

धर्म क्या है, क्या नहीं ?

आज संसार में अनेक धर्म प्रचलित हैं, सब अलग-अलग राग अलापते हैं। कोई दाढ़ी, चोटी या जनेऊ में धर्म मानता है, कोई किसी को एक पैसा दे डालने में कोई पीपल के चार चक्कर लगा देने में, कोई एकादशी का व्रत करने में, कोई किसी क्रियाकाण्ड में और कोई किसी में धर्म मानता है। साधारण मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है कि ये सब धर्म हैं भी या नहीं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सब धर्म के कलेवर, सम्प्रदाय हैं, इनमें धर्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, किन्तु ये स्वयं धर्म नहीं है।

धर्म जीवन का बहुत बड़ा बल है। आध्यात्मिक जीवन का प्राण ही धर्म है। धर्म के सम्बन्ध में संसार के विचारकों द्वारा कथित हजारों परिभाषाएँ मिलती हैं। अतः धर्म जैसे विराट् तत्त्व को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन है। भगवान् महावीर से पूछा गया तो उन्होंने किसी क्रियाकाण्ड या रीति-रिवाज में धर्म को न बाँधकर उत्तर दिया—"जहाँ अहिंसा, संयम और तप हो, वही धर्म है।" अर्थात्—जिस व्यक्ति के अन्तर्मानस में विश्व-मैत्री हो, दुर्वृत्तियों पर नियन्त्रण हो, और इच्छाओं का निरोध हो, वही धर्म है।

धर्म कोई भौतिक तत्त्व नहीं, न ही किसी स्थान विशेष पर रखा जा सकता है, वह तो जीवन के कण-कण में है। धर्म न तो शरीर में है, न शरीर की किसी क्रिया में है, न ही धर्म का वास वाणी में है, न मन में। ये सब पुद्गल की रचनाएँ हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म का स्पष्ट और व्यापक स्वरूप बताया—'वत्थुसहावो धम्मो।' प्रत्येक वस्तु का अपना जो

---

१. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ३।१०५-१०६

स्वरूप है। अहिंसा क्या है? राग-द्वेष, प्रमाद, मानसिक प्रद्वेष, कषाय आदि सब हिंसा है. बाह्यहिंसा का कारण तो आन्तरिक हिंसा ही है। मन से राग-द्वेषादि विकार हटा कि अहिंसारूप स्वभाव में आए, वही धर्म हो हो गया। असत्य का कारण राग-द्वेष है, ये हटे कि सत्य आया। चोरी का कारण राग-द्वेष है, दोनों हटे कि अचौर्य आया। इसी प्रकार किसी स्त्री के प्रति पुरुष का और पुरुष के प्रति स्त्री का राग, सम्मोह या आकर्षण समाप्त होना ही ब्रह्मचर्य है। वस्तु पर से राग-मूर्च्छा समाप्त होना ही अपरिग्रह है। आशय यह है कि धर्म का मूलस्वरूप राग-द्वेषादि से हटकर अपने स्वभाव—वीतरागत्व में स्थिर हो जाना है।

आज जीवन और धर्म दोनो को अलग-अलग कर दिया गया है। होना चाहिए था, जीवन के साथ-साथ धर्म, क्योंकि जहाँ चैतन्यस्वरूप जीवन है, वहीं उसका स्वभाव—धर्म रहेगा। जहाँ द्रव्य होगा, वही उसका स्वभाव होगा। अग्नि है, वहाँ उष्णता भी है। धर्मस्थान का धर्म अलग, बाजार का अलग, घर का अलग, इसी प्रकार धर्म घडी-दो घडी तक सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ आदि के रूप में रहा, फिर छूमन्तर! अमुक परम्परा के पालन में धर्म रहा, परम्परा में नहीं। इस प्रकार असीम, सर्वव्यापक धर्म को देश-काल, परम्परा, अमुक क्रियाकाण्ड आदि में बाँधकर अवरुद्ध कर दिया।

कुछ लोगों ने धर्म को ऐश्वर्य, भोग और भौतिक आनन्द के रूप में देखा, उन्होंने धर्म की व्यापक सत्ता को क्षुद्र शरीर के घेरे में बाँध दिया, धर्म का आन्तरिक और वास्तविक विराट् स्वरूप उनकी दृष्टि में ओझल हो गया।

कुछ लोगों ने धर्म को परलोक की वस्तु बना दिया। यहाँ तप करोगे तो आगे स्वर्ग मिलेगा। यहाँ दान करोगे तो स्वर्ग में वैभव मिलेगा। यहाँ जो कुछ भी धर्माचरण करोगे, उसका फल मरने के बाद परलोक में मिलेगा। यह गलत मान्यता चल पडी। यह कार्य-कारण सिद्धान्त के विरुद्ध है। दीपक अब जले और उसका प्रकाश घण्टे-दो घण्टे बाद हो, ऐसा नहीं होता है। वस्तु में भाव और अभाव एक ही साथ होते हैं। इधर प्रकाश हुआ कि तत्काल अँधेरा मिट गया। अशुद्धि मिटी कि शुद्धि की क्रिया सम्पन्न हुई। सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि का प्रादुर्भाव हुआ कि असत्य, हिंसा, दुराचार का तत्काल विनाश हुआ। इसी प्रकार भीतर धर्म का प्रकाश हो गया तो कोई कारण नहीं कि बाहर प्रकाश न हो, अँधेरा ही

रहे। यदि किसी आत्मा में धर्म का प्रकाश हो गया है तो उसका सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय—सभी प्रकार का जीवन धर्म से प्रकाशमान होगा। यदि व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक जीवन में फर्क है तो समझना चाहिए कि धर्म उसके अन्दर में प्रकट ही नहीं हुआ है, सिर्फ बाह्य क्रियाओं को धर्म मान लिया गया है।

इसी प्रकार धर्म के नाम से जहाँ धर्मान्धता, धर्मजनून, कट्टरता, छुआछूत, भेदभाव, घृणा आदि पनपते हों, वहाँ धर्म नहीं, पाप है, अधर्म है, हिंसा है। बंगाल के कालीचन्द्र ब्राह्मण की धर्मयुक्त बात को धर्म के ठेकेदारों ने न मानकर धर्मान्धता का परिचय दिया, उसका नतीजा यह हुआ कि कालीचन्द्र कालाचांद नामक मुसलमान बना, उसने लाखों हिन्दुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन कराया, मुसलमान बनाया। धर्म के ठेकेदारों द्वारा इस प्रकार की धर्मान्धता धर्म की सुरक्षा, धर्म की सेवा समझी जाती है, परन्तु है वास्तव में यह पाप की सेवा। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा पैदा करने वाले चाहे हिन्दू हों या मुसलमान वे धर्म की सेवा नहीं, पाप की सेवा करते हैं। इसका नाम धर्मश्रद्धा नहीं है। धर्मश्रद्धा है—दुःख और संकट आ पड़ने पर भी अपने स्वभाव को न भूलना, स्वभाव से न हटना।

उत्तराध्ययन में धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से लाभ के विषय में पूछा गया है, तब भगवान महावीर ने यही कहा है—

"धर्मश्रद्धा से सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुख-साता में अनुरक्त रहने वाले जीव को उससे विरक्ति हो जाती है।"[1] अर्थात् वह अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख-कष्ट में डालना नहीं चाहता, अपने सुख का बलिदान देकर दूसरों को सुख पहुँचाना या सुख में विघ्न-बाधा न डालना उसका स्वभाव बन जाता है। तभी धर्म पुरुष धारण करता है, जब दूसरों को दुःख से बचाने के लिए अपने द्वारा सुख-भोगों का परित्याग कर दिया जाता है।

धर्म से धन पुत्र, इहलौकिक, पारलौकिक सुख की वांछा करना आकांक्षा है धर्मश्रद्धा नहीं। सच्चा धर्मनिष्ठ पारिवारिक, साम्राज्य या राष्ट्रीय जीवन में पक्षपात के बिना ही धर्माचरण करता है। वस्तुतः

1 [illegible] विरज्जइ, अगारधम्मं [illegible]
[illegible]
—उत्तराध्ययन सूत्र [illegible]

में इन्द्रियसुख-भोग, धन-वैभव एवं सुख-साधनों की चकाचौंध में धर्म पर श्रद्धा रखना बहुत ही कठिन है। जब मनुष्य भय, प्रलोभन, सुख-सुविधा, रागादि से हटकर एकमात्र अपने स्वभाव में स्थित होकर सत्य, अहिंसा आदि का पालन करता है, तभी कहा जा सकता है कि उसकी धर्म पर दृढ़श्रद्धा है।

शास्त्र : सर्वज्ञप्रज्ञप्त

दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों में गुरु के बदले 'आगम' या 'शास्त्र' पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन माना गया है। शास्त्रों का उपदेशक गुरु होता है, इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में गुरु पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का कारण बताया है। सोचना यह कि शास्त्र क्या है, उस पर श्रद्धा का अर्थ और उद्देश्य क्या है? आचार्य समन्तभद्र शास्त्र का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टाविरोधकम् ।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥[1]

"जो सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष द्वारा कथित हो, जिसके वचनों का वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन (खण्डन) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो जो तत्त्व— वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश करता हो, सर्वजीवों के लिए हितकर हो, जो मिथ्यामार्ग का युक्ति, प्रमाण आदि से निराकरण करता हो, वही शास्त्र है।"

साधक जब साधना-पथ पर आगे बढ़ता है, तो उसके समक्ष अनेक विघ्न-बाधाएँ, संकट, उलझनें एवं विपदाएँ आती हैं। चूँकि साधक अभी प्रत्यक्ष अलौकिक ज्ञानी नहीं होता, उसका ज्ञान सीमित होता है, यद्यपि वह विवेक और वैराग्य को साथ लेकर वह चलता है, फिर भी जहाँ कोई बात अपनी बुद्धि, इन्द्रियों एवं मन की पहुँच से परे हो, या अभी तक कोई पदार्थ सर्वथा अपरिचित हो, अथवा गुरु-परम्परागत सुनी हुई बात औत्सर्गिक हो, मगर निर्णय आपवादिक परिस्थिति में करना हो, ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित का निर्णय शास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। अथवा कोई अध्यात्म तत्त्वज्ञ निष्पक्ष निःस्पृह गुरु हो तो उसके द्वारा किया जा सकता है, परन्तु जहाँ ऐसे गुरु का संयोग न हो, वहाँ शास्त्र ही काम आता है। शास्त्र के द्वारा साधक साधना-पथ को देखकर चलता है। जो

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६।

रहे। यदि किसी आत्मा में धर्म का प्रकाश हो गया है तो उसका सामाजि पारिवारिक, राष्ट्रीय—सभी प्रकार का जीवन धर्म से प्रकाशमान होग यदि व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक जीवन में फर्क है तो समझना चाहि कि धर्म उसके अन्तर् में प्रकट ही नहीं हुआ है, सिर्फ बाह्य क्रियाओं धर्म मान लिया गया है।

इसी प्रकार धर्म के नाम से जहाँ धर्मान्धता, धर्मजनून, कट्टर छुआछूत, भेदभाव, घृणा आदि पनपते हों, वहाँ धर्म नहीं, पाप है, अधर्म है हिंसा है। बंगाल के कालीचन्द्र ब्राह्मण की धर्मयुक्त बात को धर्म के ठेकेदारों ने न मानकर धर्मान्धता का परिचय दिया, उसका नतीजा यह हुआ कि कालीचन्द्र कालाचाँद नामक मुसलमान बना, उसने लाखों हिन्दुओं को जबरन धर्म-परिवर्तन कराया, मुसलमान बनाया। धर्म के ठेकेदारों द्वारा इस प्रकार की धर्मान्धता धर्म की सुरक्षा, धर्म की सेवा समझी जाती है परन्तु है वास्तव में यह पाप की सेवा। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा पैदा करने वाले चाहे हिन्दू हों या मुसलमान वे धर्म की सेवा नहीं, पाप की सेवा करते हैं। इसका नाम धर्मश्रद्धा नहीं है। धर्मश्रद्धा है—दुःख और संकट आ पड़ने पर भी अपने स्वभाव को न भूलना, स्वभाव से न हटना।

उत्तराध्ययन में धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से लाभ के विषय में पूछा गया है, तब भगवान महावीर ने यही कहा है—

"धर्मश्रद्धा से सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुख-साता में अनुरक्त रहने वाले जीव को उससे विरक्ति हो जाती है।"[1] अर्थात् वह अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख-कष्ट में डालना नहीं चाहता अपने सुख का बलिदान देकर दूसरों को सुख पहुँचाना या सुख में विघ्न-बाधा न डालना उसका स्वभाव बन जाता है। तभी धर्म सुरक्षित [illegible] करता है, जब दूसरों को दुःख से बचाने के लिए अपने प्राप्त सुख-भोगों का परित्याग कर दिया जाता है।

धर्म से धन पुत्र, इहलौकिक, पारलौकिक सुख की वांछा [illegible] [illegible] है, धर्मश्रद्धा नहीं। सच्चा धर्मनिष्ठ पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में फलाकांक्षा के बिना ही धर्माचरण करता है। [illegible]

[1] [illegible]

—उत्तराध्ययन सूत्र [illegible]

में इन्द्रियसुख-भोग, धन-वैभव एवं सुख-साधनों की चकाचौंध में धर्म पर श्रद्धा रखना बहुत ही कठिन है। जब मनुष्य भय, प्रलोभन, सुख-सुविधा, रागादि से हटकर एकमात्र अपने स्वभाव में स्थित होकर सत्य, अहिंसा आदि का पालन करता है, तभी कहा जा सकता है कि उसकी धर्म पर दृढ़श्रद्धा है।

शास्त्र : सर्वज्ञप्ररूपित

दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों में गुरु के बदले 'आगम' या 'शास्त्र' पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन माना गया है। शास्त्रों का उपदेशक गुरु होता है, इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में गुरु पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का कारण बताया है। सोचना यह कि शास्त्र क्या है, उस पर श्रद्धा का अर्थ और उद्देश्य क्या है? आचार्य समन्तभद्र शास्त्र का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टाविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥[1]

"जो सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष द्वारा कथित हो, जिसके वचनों का का वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन (खण्डन) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो जो तत्त्व—वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश करता हो, सर्वजीवों के लिए हितकर हो, जो मिथ्यामार्ग का युक्ति, प्रमाण आदि से निराकरण करता हो, वही शास्त्र है।"

साधक जब साधना-पथ पर आगे बढ़ता है, तो उसके समक्ष अनेक विघ्न-बाधाएँ, संकट, उलझनें एवं विपदाएँ आती हैं। चूंकि साधक अभी प्रत्यक्ष अलौकिक ज्ञानी नहीं होता, उसका ज्ञान सीमित होता है, यद्यपि वह विवेक और वैराग्य को साथ लेकर वह चलता है, फिर भी जहाँ कोई बात अपनी बुद्धि, इन्द्रियों एवं मन की पहुँच से परे हो, या अभी तक कोई पदार्थ सर्वथा अपरिचित हो, अथवा गुरु-परम्परागत सुनी हुई बात औत्सर्गिक हो, मगर निर्णय आपवादिक परिस्थिति में करना हो, ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित का निर्णय शास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। अथवा कोई अध्यात्म तत्त्वज्ञ निष्पक्ष निःस्पृह गुरु हो तो उसके द्वारा किया जा सकता है; परन्तु जहाँ ऐसे गुरु का संयोग न हो, वहाँ शास्त्र ही काम आता है। शास्त्र के द्वारा साधक साधना-पथ को देखकर चलता है। जो

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ९।

में इन्द्रियसुख-भोग, धन-वैभव एवं सुख-साधनों की चकाचौंध में धर्म पर श्रद्धा रखना बहुत ही कठिन है। जब मनुष्य भय, प्रलोभन, सुख-सुविधा, रागादि से हटकर एकमात्र अपने स्वभाव में स्थित होकर सत्य, अहिंसा आदि का पालन करता है, तभी कहा जा सकता है कि उसकी धर्म पर दृढ़श्रद्धा है।

शास्त्र : सर्वज्ञकथित

दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों में गुरु के बदले 'आगम' या 'शास्त्र' पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन माना गया है। शास्त्रों का उपदेशक गुरु होता है, इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में गुरु पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का कारण बताया है। सोचना यह कि शास्त्र क्या है, उस पर श्रद्धा का अर्थ और उद्देश्य क्या है? आचार्य समन्तभद्र शास्त्र का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टाविरोधकम् ।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥[1]

"जो सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष द्वारा कथित हो, जिसके वचनों का वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन (खण्डन) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो जो तत्त्व- वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश करता हो, सर्वजीवों के लिए हितकर हो, जो मिथ्यामार्ग का युक्ति, प्रमाण आदि से निराकरण करता हो, वही शास्त्र है।"

साधक जब साधना-पथ पर आगे बढ़ता है, तो उसके समक्ष अनेक विघ्न-बाधाएँ, संकट, उलझनें एवं विपदाएँ आती हैं। चूंकि साधक अभी प्रत्यक्ष अलौकिक ज्ञानी नहीं होता, उसका ज्ञान सीमित होता है, यद्यपि वह विवेक और वैराग्य को साथ लेकर वह चलता है, फिर भी जहाँ कोई बात अपनी बुद्धि, इन्द्रियों एवं मन की पहुँच से परे हो, या अभी तक कोई पदार्थ सर्वथा अपरिचित हो, अथवा गुरु-परम्परागत सुनी हुई बात औत्सर्गिक हो, मगर निर्णय आपवादिक परिस्थिति में करना हो, ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित का निर्णय शास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। अथवा कोई अध्यात्म तत्त्वज्ञ निष्पक्ष निःस्पृह गुरु हो तो उसके द्वारा किया जा सकता है; परन्तु जहाँ ऐसे गुरु का संयोग न हो, वहाँ शास्त्र ही काम आता है। शास्त्र के द्वारा साधक साधना-पथ को देखकर चलता है। जो

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ९।

रहे। यदि किसी आत्मा में धर्म का प्रकाश हो गया है तो उसका सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय—सभी प्रकार का जीवन धर्म से प्रकाशमान होगा। यदि व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक जीवन में फर्क है तो समझना चाहिए कि धर्म उसके अन्तर में प्रकट ही नहीं हुआ है, सिर्फ बाह्य क्रियाओं को धर्म मान लिया गया है।

इसी प्रकार धर्म के नाम से जहाँ धर्मान्धता, धर्मजनून, कट्टरता, छुआछूत, भेदभाव, घृणा आदि पनपते हों, वहाँ धर्म नहीं, पाप है, अधर्म है, हिंसा है। बंगाल के कालीचन्द्र ब्राह्मण को धर्मयुक्त बात को धर्म के ठेकेदारों ने न मानकर धर्मान्धता का परिचय दिया, उसका नतीजा यह हुआ कि कालीचन्द्र कालापहाड़ नामक मुसलमान बना, उसने लाखों हिन्दुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन कराया, मुसलमान बनाया। धर्म के ठेकेदारों द्वारा इस प्रकार की धर्मान्धता धर्म की सुरक्षा, धर्म की सेवा समझी जाती है परन्तु है वास्तव में यह पाप की सेवा। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा पैदा करने वाले चाहे हिन्दू हों या मुसलमान वे धर्म की सेवा नहीं, पाप की सेवा करते हैं। इसका नाम धर्मश्रद्धा नहीं है। धर्मश्रद्धा है—दुःख और संकट आ पड़ने पर भी अपने स्वभाव को न भूलना, स्वभाव से न हटना।

उत्तराध्ययन में धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से लाभ के विषय में पूछा गया है, वहाँ भगवान महावीर ने यही कहा है—

"धर्मश्रद्धा से सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुख-साता में अनुरक्त रहने वाले जीव को उससे विरक्ति हो जाती है।"[1] अर्थात् वह अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख-कष्ट में डालना नहीं चाहता, अपने सुख का बलिदान देकर दूसरों को सुख पहुँचाता या सुख में विघ्न-बाधा न डालना उसका स्वभाव बन जाता है। तभी धर्म पुरुषार्थ धारण करता है, जब दूसरों को दुःख से बचाने के लिए अपने प्राप्त सुख-भोगों का परित्याग कर दिया जाता है।

धर्म से धन, पुत्र, इहलौकिक, पारलौकिक सुख की वांछा करना सौदेबाजी है, धर्मश्रद्धा नहीं। सच्चा धर्मनिष्ठ पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में फलाकांक्षा के बिना ही धर्माचरण करता है। वर्तमान

---

१ धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं [illegible] वोच्छेयं करेइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र २९।३

में इन्द्रियसुख-भोग, धन-वैभव एवं सुख-साधनों की चकाचौंध में धर्म पर श्रद्धा रखना बहुत ही कठिन है। जब मनुष्य भय, प्रलोभन, सुख-सुविधा, रागादि से हटकर एकमात्र अपने स्वभाव में स्थित होकर सत्य, अहिंसा आदि का पालन करता है, तभी कहा जा सकता है कि उसकी धर्म पर दृढ़श्रद्धा है।

शास्त्र : सर्वज्ञप्ररूपित

दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों में गुरु के बदले 'आगम' या 'शास्त्र' पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन माना गया है। शास्त्रों का उपदेशक गुरु होता है, इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में गुरु पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का कारण बताया है। सोचना यह कि शास्त्र क्या है, उस पर श्रद्धा का अर्थ और उद्देश्य क्या है? आचार्य समन्तभद्र शास्त्र का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टाविरोधकम् ।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥[1]

"जो सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष द्वारा कथित हो, जिसके वचनों का वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन (खण्डन) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो जो तत्त्व—वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश करता हो, सर्वजीवों के लिए हितकर हो, जो मिथ्यामार्ग का युक्ति, प्रमाण आदि से निराकरण करता हो, वही शास्त्र है।"

साधक जब साधना-पथ पर आगे बढ़ता है, तो उसके समक्ष अनेक विघ्न-बाधाएँ, संकट, उलझनें एवं विपदाएँ आती हैं। चूंकि साधक अभी प्रत्यक्ष अलौकिक ज्ञानी नहीं होता, उसका ज्ञान सीमित होता है, यद्यपि वह विवेक और वैराग्य को साथ लेकर वह चलता है, फिर भी जहाँ कोई बात अपनी बुद्धि, इन्द्रियों एवं मन की पहुँच से परे हो, या अभी तक कोई पदार्थ सर्वथा अपरिचित हो, अथवा गुरु-परम्परागत सुनी हुई बात औत्सर्गिक हो, मगर निर्णय आपवादिक परिस्थिति में करना हो, ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित का निर्णय शास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। अथवा कोई अध्यात्म तत्त्वज्ञ निष्पक्ष निःस्पृह गुरु हो तो उसके द्वारा किया जा सकता है; परन्तु जहाँ ऐसे गुरु का संयोग न हो, वहाँ शास्त्र ही काम आता है। शास्त्र के द्वारा साधक साधना-पथ को देखकर चलता है। जो

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ९।

रहे। यदि किसी आत्मा में धर्म का प्रकाश हो गया है तो उसका सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय—सभी प्रकार का जीवन धर्म से प्रकाशमान [illegible]। यदि व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक जीवन में फर्क है तो समझना चाहिए कि धर्म उसके अन्तर् में प्रकट ही नहीं हुआ है, सिर्फ बाह्य क्रियाओं को धर्म मान लिया गया है।

इसी प्रकार धर्म के नाम से जहाँ धर्मान्धता, धर्मजनून, [illegible] छुआछूत, भेदभाव, घृणा आदि पनपते हों, वहाँ धर्म नहीं, पाप है, अधर्म है, हिंसा है। बंगाल के कालीचन्द्र ब्राह्मण की धर्मयुक्त बात को धर्म के ठेकेदारों ने न मानकर धर्मान्धता का परिचय दिया, उसका नतीजा यह हुआ कि कालीचन्द्र कालापहाड़ नामक मुसलमान बना, उसने लाखों हिन्दुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन कराया, मुसलमान बनाया। धर्म के ठेकेदार [illegible] इस प्रकार की धर्मान्धता धर्म की सुरक्षा, धर्म की सेवा समझते [illegible] परन्तु है वास्तव में यह पाप की सेवा। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा [illegible] चाहे हिन्दू हों या मुसलमान वे धर्म की सेवा नहीं, पाप की सेवा करते हैं। इसका नाम धर्मश्रद्धा नहीं है। धर्मश्रद्धा है—दुःख और [illegible] पड़ने पर भी अपने स्वभाव को न भूलना, स्वभाव से न हटना।

उत्तराध्ययन में धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से लाभ के विषय में [illegible] गया है कि भगवान महावीर ने यही कहा है—

धर्मश्रद्धा से सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त होने वाले [illegible] [illegible] में अनुरक्त रहने वाले जीव को उससे विरक्ति हो जाती है। अर्थात् वह अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख-संकट में डालना [illegible] [illegible] अपने सुख का बलिदान देकर दूसरों को सुख पहुँचाना [illegible] [illegible] उसका स्वभाव बन जाता है। [illegible] [illegible] दूसरों को दुःख से बचाने के लिए [illegible] [illegible] का परित्याग कर दिया जाता है।

[illegible]

हुई विभाव परिणतियों की मलिनता का निवारण करना ही शास्त्र का मुख्य हेतु होता है। आगमवेत्ता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से शास्त्र का अर्थ पूछा गया तो उन्होंने बताया—

सासिज्जइ तेण तहिं वा नेयमाया व तो सत्थं ।[1]

"जिसके द्वारा यथार्थ सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का प्रबोध हो एवं आत्मा अनुशासित हो, वह शास्त्र है।"

शास्त्र के इस अर्थ में शास्त्र का स्वरूप और उद्देश्य दोनों गर्भित हैं। यही बात उत्तराध्ययन सूत्र में बताई गई है —

जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ।[2]

"जिसे सुनकर साधक की आत्मा प्रतिबुद्ध होती है, वह तप, संयम और अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होता है, वही शास्त्र है।"

प्रश्नव्याकरणसूत्र में भगवान के द्वारा शास्त्रप्रवचन का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है—

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं[3]

"समस्त प्राणिजगत् की सुरक्षा एवं दया से प्रेरित होकर भगवान ने प्रवचन—शास्त्र उपदेश दिया।"

जैन परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्य हरिभद्र सूरि ने शास्त्र का प्रयोजन बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बतलाया—

मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥[4]

"जिस प्रकार जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसे उज्ज्वल बना देता है, उसी प्रकार शास्त्र भी मानव के अन्तःकरणरत्न में स्थित काम-क्रोधादि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र तथा निर्मल बना देता है।"

किस शास्त्र को सच्चा मानें, किसे नहीं ?

यदि अमुक नियत शास्त्र हो, तब तो ठीक है, परन्तु यहाँ तो

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गा० १३८४।
२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३।८।
३. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।
४. योगबिन्दु प्रकरण, २।९।

हुई विभाव परिणतियों की मलिनता का निवारण करना ही शास्त्र का मुख्य हेतु होता है। आगमवेत्ता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से शास्त्र का अर्थ पूछा गया तो उन्होंने बताया—

सासिज्जइ तेण तहिं वा नेयमाया व तो सत्थं ।[1]

"जिसके द्वारा यथार्थ सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का प्रबोध हो एवं आत्मा अनुशासित हो, वह शास्त्र है।"

शास्त्र के इस अर्थ में शास्त्र का स्वरूप और उद्देश्य दोनों गर्भित है। यही बात उत्तराध्ययन सूत्र में बताई गई है —

जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ।[2]

"जिसे सुनकर साधक की आत्मा प्रतिबुद्ध होती है, वह तप, संयम और अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होता है, वही शास्त्र है।"

प्रश्नव्याकरणसूत्र में भगवान के द्वारा शास्त्रप्रवचन का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है—

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं[3]

"समस्त प्राणिजगत् की सुरक्षा एवं दया से प्रेरित होकर भगवान ने प्रवचन—शास्त्र उपदेश दिया।"

जैन परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्य हरिभद्र सूरि ने शास्त्र का प्रयोजन बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बतलाया—

मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥[4]

"जिस प्रकार जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसे उज्ज्वल बना देता है, उसी प्रकार शास्त्र भी मानव के अन्तःकरणरत्न में स्थित काम-क्रोधादि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र तथा निर्मल बना देता है।"

किस शास्त्र को सच्चा मानें, किसे नहीं?

यदि अमुक नियत शास्त्र हो, तब तो ठीक है, परन्तु यहाँ तो

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गा० १३८४।
२ उत्तराध्ययनसूत्र, ३।८।
३ प्रश्नव्याकरणसूत्र, २.१।
४ योगबिन्दु प्रकरण, २१९।

कर उसे देखना, समझना और सोचना विचारना होता है, वह शास्त्र की आँख के द्वारा होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा 'आगम चक्खू साहू'[1]—साधु की आँख आगम है, वह आगम की आँख से साक्षात् जानता है। उसी से वह चेतन-अचेतन, जीव-अजीव का स्वरूप भली-भाँति युक्ति-संगत जान लेता है। शास्त्र से ही वह आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, कर्म, कर्मबन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्त्वों के स्वरूप को भली-भाँति जान लेता है। इन सबको जानने और चिन्तन करने का माध्यम एक ही है—शास्त्र। साधक शास्त्र से ही स्व-पर-पदार्थों को भली-भाँति जान लेता है। मैं कौन हूँ? मेरे साथ शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों आदि का क्या सम्बन्ध है? कर्म के फलस्वरूप होने वाली नाना गतियों, योनियों, वहाँ भोगे जाने वाले सुख-दुःख, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा आदि का फल क्या, कैसा होता है? इन सबको जानने के लिए छद्मस्थ अवस्था तक साधक के लिए शास्त्र ही अवलम्बन रहेगा। जो कल्पातीत या केवलज्ञानी हो गये हैं, उनके लिए शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं रहता। उन्हें किसी भी आचार एवं व्यवहार के लिए शास्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। शास्त्र की आवश्यकता अधिकतर स्थविरकल्पी और उनके अनुयायी गृहस्थ श्रावकों को रहती है।

शास्त्र का लक्षण और प्रयोजन

वास्तव में शास्त्र में सन्त एवं महापुरुषों—आप्तपुरुषों के अनुभवों के नवनीत का दर्शन होता है। उनका उपदेश सर्वजनहिताय होता है। प्रशमरति में शास्त्र का निर्वचन और उद्देश्य इस प्रकार बताया गया है—

> यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
> संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥[2]

"चूंकि जिनका मन राग-द्वेष से उद्धत है, उन जीवों को यह सद्धर्म में सम्यक् प्रकार से अनुशासित (शिक्षित) करता है, और दुःख से बचाता है, इसलिए सत्पुरुष इसे शास्त्र कहते हैं।"

शास्त्र का सीधा सम्बन्ध आत्मा से होता है, आत्मा के अनन्तज्ञान दर्शन-चारित्र-स्वरूप आलोक को व्यक्त करना एवं आत्मस्वरूप पर छाई

---

१ प्रवचनसार ३।३४।

२ प्रशमरति, श्लोक १८७।

५. निश्चय-सम्यग्दर्शन के लक्षण और व्याख्याएँ

••

पिछले पृष्ठो मे व्यवहार-सम्यग्दर्शन पर विवेचन किया जा चुका है। *व्यवहारसम्यग्दर्शन एक प्रकार का परिधान या वेश-भूषा है,* जिससे स्पष्ट पहचान हो सकती है। यह पहचान होने के बाद फिर अन्तरग पहचान करना जरूरी है। निश्चय-सम्यग्दर्शन अन्तरंग हृदय है। अत अब सम्यग्दर्शन के दूसरे रूप—निश्चय-सम्यग्दर्शन पर विचार करना है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण बताया गया था—'तत्त्वार्थ-श्रद्धान' उस पर पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में एक परिष्कार दिया गया है—

'मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहितं सम्यग्दर्शनम्।'[1]

"अर्थात्—मिथ्यात्व के उदय से जनित विपरीत अभिनिवेश से मुक्त होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" विपरीत अभिनिवेश राग या द्वेष के कारण होता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण के सम्बन्ध में जो समयसार की गाथा दी गई थी—

'भूयत्थेणाभिगदा.... सम्मत्तं।'[2] उसका व्यवहार-सम्यग्दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि व्यवहार-सम्यक्त्व तो अभूतार्थ (व्यवहारनय) से जीवादि ९ तत्त्वों पर श्रद्धान होने पर होता है, भूतार्थनय (निश्चयनय) एकत्व को ही प्रकट करता है। अत निश्चय (भूतार्थ) नय से नौ तत्त्वों के

---

१ पचास्तिकाय—समयसार, ता० वृ० १५५।२२०।११।

२ समयसार, आ० ३१४-३१५।

श्वेताम्बर परम्परा के शास्त्र अलग, दिगम्बर परम्परा के अलग, और उन
शास्त्रों का भी विशाल अम्बार लगा हुआ है। फिर उन निर्धारित शास्त्रों
के अमुक अर्थ भी अपने-अपने मतानुसार पृथक्-पृथक् हैं। इनमें से सही
गलत का निर्णय करना बड़ा पेचीदा कार्य है। पाठक की बुद्धि
ही भ्रमित हो जाती है, वह यथार्थ निर्णय नहीं कर पाती। सामान्य स्थू
बुद्धि कुछ तो निर्णय कर लेती है कि जिन तथाकथित शास्त्रों या शास्त्र
नाम पर चलने वाले ग्रन्थों में पशुबलि-नरबलि आदि हिंसा का विधान
जिनमें असत्य बोलने की भी छूट है, जिन शास्त्रों में अन्धविश्वास भरा
है, जिन शास्त्रों में एक ही वर्ग या वर्ण के हित की बात अधिक सोची ग
ऐसे शास्त्रों को वे शास्त्र नहीं मानें, मानव-मानव के बीच घृणा एवं भेद
की दीवारें खींचने वाले, नारी-गौरव को नष्ट करने का विधान
साम्प्रदायिक उत्तेजनाएँ भरी हुई हों, क्या वह वाणी शास्त्र या आप्त-
हो सकती है ? कदापि नहीं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने इस समस्या का सही समाधान
कि कौन-सा शास्त्र सम्यक् है, कौन-सा असम्यक् यह निर्णय शास्त्र प
साधक की अपनी दृष्टि पर निर्भर है। यदि उसकी दृष्टि सत्यानुग
विवेक जागृत है, तो संसार का प्रत्येक शास्त्र उसके लिए सम्यक् हो
है, प्रकाश दे सकता है, यदि बुद्धि हठाग्रही है, मिथ्या है, सांसारिक
लालची है, स्वार्थी, राग-द्वेषकलुषित है तो उसके लिए सम्यक्शा
मिथ्याशास्त्र हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर एक सम
जैनाचार्य ने कहा—

> स्वागम रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् ।
> न श्रेयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥

"अपना होने के राग से हम किसी शास्त्र को स्वीकार नहीं क
और पराया होने के कारण किसी अन्य शास्त्र को ठुकराते नहीं
मध्यस्थ यानी सम्यक्दृष्टि से तर्क और बुद्धि की तुला पर जो सिद्ध
प्रतीत होता है, वही शास्त्र स्वीकार करते हैं।"

निष्कर्ष यह है जो शास्त्र सच्चे हों, उन पर श्रद्धा करो, लेकि
और विवेकपूर्वक। आँखें खुली हों, उसके लिए शास्त्र गुरु हैं,
लेकिन जो आँखें मूँदकर अन्धश्रद्धा एवं स्व-मोहवश शास्त्र को ले
उसके लिए वे हानिकर भी सिद्ध हो सकते हैं। अत: देव, गुरु,
शास्त्र तीनों पर विवेकपूर्वक श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

५. निश्चय-सम्यग्दर्शन के लक्षण और व्याख्याएँ

••

पिछले पृष्ठों मे व्यवहार-सम्यग्दर्शन पर विवेचन किया जा चुका है। व्यवहारसम्यग्दर्शन एक प्रकार का परिधान या वेश-भूषा है, जिससे स्पष्ट पहचान हो मकती है। यह पहचान होने के बाद फिर अन्तरग पहचान करना जरूरी है। निश्चय-सम्यग्दर्शन अन्तरंग हृदय है। अत अत्र मम्यग्दर्शन के दूसरे रूप—निश्चय-सम्यग्दर्शन पर विचार करना है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण बताया गया था—'तत्त्वार्थ-श्रद्धान' उस पर पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में एक परिष्कार दिया गया है—

'मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहितं सम्यग्दर्शनम्।'[1]

"अर्थात्—मिथ्यात्व के उदय से जनित विपरीत अभिनिवेश से मुक्त होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" विपरीत अभिनिवेश राग या द्वेष के कारण होता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण के सम्बन्ध में जो समयसार की गाथा दी गई थी—

'भूयत्थेणाभिगदा''''' सम्मत्तं।'[2] उसका व्यवहार-सम्यग्दर्शन से सीधा सम्बन्ध नही है, क्योंकि व्यवहार-सम्यक्त्व तो अभूतार्थ (व्यवहारनय) से जीवादि ९ तत्त्वो पर श्रद्धान होने पर [होता है, भूतार्थनय (निश्चयनय) एकत्व को ही प्रकट करता है। अत निश्चय (भूतार्थ) नय से नौ तत्त्वो के

---

१. पंचास्तिकाय—समयसार, ता० वृ० १५४।२२०।११।

२. समयसार, आ० ३१४-३१५।

श्वेताम्बर परम्परा के शास्त्र अलग, दिगम्बर परम्परा के अलग, और उन शास्त्रों का भी विशाल अम्बार लगा हुआ है। फिर उन निर्धारित शास्त्रों के अमुक अर्थ भी अपने-अपने मतानुसार पृथक्-पृथक् हैं। इनमें से सही गलत का निर्णय करना बड़ा पेचीदा कार्य है। पाठक की बुद्धि ही भ्रमित हो जाती है, वह यथार्थ निर्णय नहीं कर पाती। सामान्य स्थूल बुद्धि कुछ तो निर्णय कर लेती है कि जिन तथाकथित शास्त्रों या शास्त्र के नाम पर चलने वाले ग्रन्थों में पशुबलि-नरबलि आदि हिंसा का विधान है जिनमें असत्य बोलने की भी छूट है, जिन शास्त्रों में अन्धविश्वास भरा पड़ा है, जिन शास्त्रों में एक ही वर्ग या वर्ण के हित की बात अधिक सोची गई है ऐसे शास्त्रों को वे शास्त्र नहीं माने, मानव-मानव के बीच घृणा एवं भेदभाव की दीवारें खींचने वाले, नारी-गौरव को नष्ट करने का विधान साम्प्रदायिक उत्तेजनाएँ भरी हुई हों, क्या वह वाणी शास्त्र या आप्त-व हो सकती है ? कदापि नहीं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने इस समस्या का सही समाधान कि कौन-सा शास्त्र सम्यक् है, कौन-सा असम्यक् यह निर्णय शास्त्र साधक की अपनी दृष्टि पर निर्भर है। यदि उसकी दृष्टि सत्यानु विवेक जागृत है, तो संसार का प्रत्येक शास्त्र उसके लिए सम्यक् हो है, प्रकाश दे सकता है, यदि बुद्धि हठाग्रही है, मिथ्या है, सांसारिक शालक्ष्यी है, स्वार्थी, राग-द्वेषकलुषित है तो उसके लिए सम्यक्श मिथ्याशास्त्र हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर एक सम जैनाचार्य ने कहा—

> स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् ।
> न श्रयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥

"अपना होने के राग से हम किसी शास्त्र को स्वीकार नहीं कर और पराया होने के कारण किसी अन्य शास्त्र को ठुकराते नहीं, मध्यस्थ यानी सम्यक्दृष्टि से तर्क और बुद्धि की तुला पर जो सिद्धान्त प्रतीत होता है, वही शास्त्र स्वीकार करते हैं।"

निष्कर्ष यह है जो शास्त्र सच्चे हों, उन पर श्रद्धा करो, लेकिन और विवेकपूर्वक। आँखें खुली हों, उसके लिए शास्त्र गुरु है, हित लेकिन जो आँखें मूँदकर अन्धश्रद्धा एवं स्व-मोहवश शास्त्र को लेकर च उसके लिए वे हानिकर भी सिद्ध हो सकते हैं। अतः देव, गुरु, धर्म शास्त्र चारों पर विवेकपूर्वक श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

५. निश्चय-सम्यग्दर्शन के लक्षण और व्याख्याएँ

पिछले पृष्ठों में व्यवहार-सम्यग्दर्शन पर विवेचन किया जा चुका है। व्यवहारसम्यग्दर्शन एक प्रकार का परिधान या वेश-भूषा है, जिससे स्पष्ट पहचान हो सकती है। यह पहचान होने के बाद फिर अन्तरंग पहचान करना जरूरी है। निश्चय-सम्यग्दर्शन अन्तरंग हृदय है। अतः अब सम्यग्दर्शन के दूसरे रूप—निश्चय-सम्यग्दर्शन पर विचार करना है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण बताया गया था—'तत्त्वार्थ-श्रद्धान' उस पर पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में एक परिष्कार दिया गया है—

'मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहितं सम्यग्दर्शनम्।'[1]

"अर्थात्—मिथ्यात्व के उदय से जनित विपरीत अभिनिवेश से मुक्त होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" विपरीत अभिनिवेश राग या द्वेष के कारण होता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण के सम्बन्ध में जो समयसार की गाथा दी गई थी—

'भूयत्थेणाभिगदा···· सम्मत्तं।'[2] उसका व्यवहार-सम्यग्दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि व्यवहार-सम्यक्त्व तो अभूतार्थ (व्यवहारनय) से जीवादि ९ तत्त्वों पर श्रद्धान होने पर होता है, भूतार्थनय (निश्चयनय) एकत्व को ही प्रकट करता है। अतः निश्चय (भूतार्थ) नय से नौ तत्त्वों के

---

१. पंचास्तिकाय—समयसार, ता० वृ० १४५।२२०।११।

२ समयसार, आ० ३१४-३१५।

श्वेताम्बर परम्परा के शास्त्र अलग, दिगम्बर परम्परा के अलग, और उन शास्त्रों का भी विशाल अम्बार लगा हुआ है। फिर उन निर्धारित शास्त्रों के अमुक अर्थ भी अपने-अपने मतानुसार पृथक्-पृथक् है। इनमें से सही गलत का निर्णय करना बड़ा पेचीदा कार्य है। पाठक की बुद्धि हैं ही भ्रमित हो जाती है, वह यथार्थ निर्णय नही कर पाती। सामान्य स्थूल बुद्धि कुछ तो निर्णय कर लेती है कि जिन तथाकथित शास्त्रों या शास्त्र के नाम पर चलने वाले ग्रन्थों मे पशुबलि-नरबलि आदि हिंसा का विधान है जिनमें असत्य बोलने की भी छूट है, जिन शास्त्रों मे अन्धविश्वास भरा पड़ा है, जिन शास्त्रों मे एक ही वर्ग या वर्ण के हित की बात अधिक सोची गई है ऐसे शास्त्रो को वे शास्त्र नही माने, मानव-मानव के बीच घृणा एवं भेदभाव की दीवारें खीचने वाले, नारी-गौरव को नष्ट करने का विधान है साम्प्रदायिक उत्तेजनाएँ भरी हुई हो, क्या वह वाणी शास्त्र या आप्त-वचन हो सकती है ? कदापि नही।

इसीलिए भगवान् महावीर ने इस समस्या का सही समाधान कि कौन-सा शास्त्र सम्यक् है, कौन-सा असम्यक् यह निर्णय शास्त्र साधक की अपनी दृष्टि पर निर्भर है। यदि उसकी दृष्टि सत्यानुलक्षी विवेक जागृत है, तो संसार का प्रत्येक शास्त्र उसके लिए सम्यक् हो सकता है, प्रकाश दे सकता है, यदि बुद्धि हठाग्रही है, मिथ्या है, सांसारिक शालदर्शी है, स्वार्थी, राग-द्वेषकलुषित है तो उसके लिए सम्यक्शास्त्र मिथ्याशास्त्र हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर एक समर्थ जैनाचार्य ने कहा--

> स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् ।
> न श्रेयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥

"अपना होने के राग से हम किसी शास्त्र को स्वीकार नहीं करते और पराया होने के कारण किसी अन्य शास्त्र को ठुकराते नहीं, मध्यस्थ यानी सम्यक्दृष्टि से तर्क और बुद्धि की तुला पर जो सिद्धान्त प्रतीत होता है, वही शास्त्र स्वीकार करते है।"

निष्कर्ष यह है जो शास्त्र सच्चे हों, उन पर श्रद्धा करो, लेकिन और विवेकपूर्वक। आँख खुली हो, उसके लिए शास्त्र गुरु है, हित लेकिन जो आँख मूँदकर अन्धश्रद्धा एवं स्व-मोहवश शास्त्र को मेरु बनाते उसके लिए वे हानिकर भी सिद्ध हो सकते है। अतः देव, गुरु, धर्म शास्त्र चारों पर विवेकपूर्वक श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

५. निश्चय-सम्यग्दर्शन के लक्षण और व्याख्याएँ

••

पिछले पृष्ठो मे व्यवहार-सम्यग्दर्शन पर विवेचन किया जा चुका है। व्यवहारसम्यग्दर्शन एक प्रकार का परिधान या वेश-भूषा है, जिससे स्पष्ट पहचान हो सकती है। यह पहचान होने के बाद फिर अन्तरग पहचान करना जरूरी है। निश्चय-सम्यग्दर्शन अन्तरंग हृदय है। अत अब सम्यग्दर्शन के दूसरे रूप—निश्चय-सम्यग्दर्शन पर विचार करना है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण बताया गया था—'तत्त्वार्थ-श्रद्धान' उस पर पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति मे एक परिष्कार दिया गया है—

'मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहित सम्यग्दर्शनम्।'[1]

"अर्थात्—मिथ्यात्व के उदय से जनित विपरीत अभिनिवेश से मुक्त होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" विपरीत अभिनिवेश राग या द्वेष के कारण होता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण के सम्बन्ध मे जो समयसार की गाथा दी गई थी—

'भूयत्थेणाभिगदा'''' सम्मत्तं।'[2] उसका व्यवहार-सम्यग्दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि व्यवहार-सम्यक्त्व तो अभूतार्थ (व्यवहारनय) से जीवादि ९ तत्त्वो पर श्रद्धान होने पर होता है, भूतार्थनय (निश्चयनय) एकत्व को ही प्रकट करता है। अत. निश्चय (भूतार्थ) नय से नौ तत्त्वो के

---

१. पंचास्तिकाय—समयसार, ता० वृ० १५५।२२०।११।

२ समयसार, आ० ३१४-३१५।

साथ एकत्व-प्राप्ति से आत्मानुभूति होती है। अथवा उन भूतार्थ
जाने गये जीवादि ६ पदार्थों को शुद्ध-आत्मा से भिन्न करके सम्यक् अवलो
करना निश्चय-सम्यग्दर्शन है। आशय यह है कि आत्मानुभव सहित
(तत्त्वों) पर श्रद्धा-प्रतीति ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

इसी लक्षण की व्याख्या दूसरे पहलू से भी की जाती है—'त
श्रद्धान' व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्षण है, और निश्चय-सम्यग्दर्शन
एक लक्षण किया है—'स्वपरयोर्विभागदर्शनं'—'स्व' और 'पर' का भेद
सम्यग्दर्शन है। इन दोनों का समन्वय इस प्रकार है—यहाँ हेय तत्त्व
'पर' में और उपादेय तत्त्वों को 'स्व' में समाविष्ट कर दिया ग
'स्व' अर्थात् 'मैं जीव हूँ, संवर-निर्जरा के द्वारा प्राप्त शान्ति (निराकु
ही मेरा स्वभाव है। 'मोक्ष' मेरे ही स्वभाव का पूर्ण विकास है, स्वाभ
दशा है। अजीव 'पर' तत्त्व है। इसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले अ
आस्रव और बन्ध को परभाव समझकर छोड़ना और जीव, संवर
निर्जरा को स्व-भाव समझकर ग्रहण करना यही 'स्व-पर-भेददर्शन' नि
सम्यग्दर्शन हुआ। आत्मिक सुख-शान्ति का अनुभव होने पर ही
स्व—जीव—आत्मा को समझेगा। 'स्व' को जाने बिना वह 'पर'
कहेगा ? मैं आत्मा हूँ, शरीरादि पर-भाव हैं। मैं इनसे पृथक् हूँ।' इस
की स्वपर-भेददृष्टि का संवेदन ही सम्यग्दर्शन है।

स्व-पर का भेदविज्ञान होते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है औ
आत्मा यह निश्चय कर सकता है कि 'मैं चैतन्य हूँ, आत्मा हूँ, मैं शरी
हूँ, शरीरादि सब भौतिक है, पौद्‌गलिक है, जबकि मैं अभौतिक एवं
गलिक हूँ। पुद्‌गल से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुद्‌गल ज्ञान
नहीं है।' सम्यग्दर्शनमूलक सम्यग्ज्ञान से आत्मा यह निश्चय
है कि 'अनन्त अतीत में पुद्‌गल का एक कण भी मेरा अपना नहीं हुआ
अनन्त भविष्य में भी यह मेरा कैसे हो सकेगा और वर्तमान में तो
अपना होने की आशा ही कैसे की जा सकती है ? पुद्‌गल कदापि
नहीं हो सकता और न ही आत्मा कभी पुद्‌गल हो सकता है।
पुद्‌गल है, मैं मैं हूँ।' इस प्रकार स्वपर-भेददर्शन ही वस्तुतः सम्यग्दर्श

प्रश्न होता है, सम्यग्दृष्टि के चारों ओर नाना प्रकार के पु
का जमघट लगा रहता है, जीवन-निर्वाह में यथावश्यक पुद्‌गलों
ग्रहण भी करना है, उपभोग भी करना है, फिर पुद्‌गलों को अपनी
से पृथक्—भिन्न कहने से क्या लाभ हुआ ? इसका समाधान अध्यात्म

यह देता है कि पुद्गल के अस्तित्व को कभी मिटाया नहीं जा सकता, विश्व के कण-कण में अनन्तकाल से पुद्गलों की सत्ता रही है, अनन्त अनागत में भी रहेगी, तथा वर्तमान में भी है। यह कल्पना करना व्यर्थ है कि पुद्गल जब नष्ट हो जाएगा, तब मेरी मुक्ति हो जाएगी। पुद्गल के अभाव की कल्पना करना वृथा है। सम्यग्दृष्टि को इतना ही करना है कि वह पुद्गलों के प्रति मन में राग-द्वेष का—आसक्ति और घृणा का भाव न लाए। अगर राग-द्वेष या आसक्ति—घृणा का भाव मन से दूर कर दिया तो पुद्गल भले ही रहे, वे सम्यग्दृष्टि का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। लेकिन पुद्गलों के प्रति राग-द्वेषादि तभी दूर हो सकते है, जब स्वपर-भेददृष्टिरूप सम्यग्दर्शन आ जाए। जब तक आत्मा-अनात्मा का—स्व-पर का—जड़-चेतन का—भेदविज्ञान नहीं होता, तब तक सच्चे माने में साधक को सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अब एक तीसरे पहलू से इस लक्षण को समझिए जैसा कि प्रवचनसार में कहा है—

'ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण'[1]

"ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों तत्त्वों की यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है।"

ज्ञेय से ससार के सभी पदार्थ या तत्त्वभूत पदार्थ और ज्ञाता से आत्मा, इन दोनों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर व्यक्ति पर-पदार्थों के छलावे में नहीं आता, वह स्व-रूप या स्व-भाव में स्थिर रहता है। वह शरीर के विनाश और विकास को अपना विनाश और विकास नहीं समझता, न ही पुद्गल के अपकर्ष और उत्कर्ष को भी अपना अपकर्ष और उत्कर्ष समझता है।

यों तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को गुण और आत्मा को गुणी कहकर दोनों को पृथक्-पृथक् कहा गया है, परन्तु निश्चयदृष्टि से आत्मा ही रत्नत्रय है। आत्मा का विशुद्ध परिणाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर हो रहा है, उसे 'स्वसमयस्थित' कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि स्वसमयस्थित होता है। जो पुद्गल एवं कर्मप्रदेशों मे स्थित होता है, उसे 'परसमयस्थित' कहा जाता है।

---

१ प्रवचनसार—त० प्र०, २४२।

इसी प्रकार देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति श्रद्धा व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया गया है, परन्तु यह व्यवहार-सम्यग्दर्शन तो साधन है—आलम्बन है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध करने का। इस स्थूल दृष्टिकोण से मनुष्य वहीं अटककर आगे नहीं बढ़ पाता, इन तत्त्वों पर केवल श्रद्धा करके ही रह जाता है, आत्मा को जगाता नहीं, अतः भगवान् महावीर के अध्यात्मदर्शन ने कहा—"तू ही तेरा देव है, तू ही तेरा गुरु है, तू ही तेरा शास्त्र या धर्म है।"

'पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्त'[1]

"आत्मन् ! तू ही तेरा मित्र है।"

'आया सामाइए'[2]

"तू ही तेरी सामायिक है—समता-साधना, उपासना है।"

जब साधक व्यवहारदृष्टि की परत को भेदकर निश्चयदृष्टि की गहराई में झांकता है, तब बाहर की विकल्पमय भूमिका को छोड़कर अन्दर की भूमिका पर पहुँच जाता है। वहाँ सभी जंजाल, प्रपंच, रागादि विकल्प एवं बन्धन टूट जाते हैं, दृष्टि स्वच्छ हो जाती है। वह वहाँ सिर्फ अपने ही अखण्ड शुद्ध स्वरूप चैतन्य देव को देखता है, तब उसके सामने किसी बाहर के गुरु का, देव का, धर्म या शास्त्र का विकल्प नहीं रहता।

निश्चयदृष्टि से समवसरण में स्वर्णसिंहासन पर विराजमान छत्र-चामर-भामण्डल आदि भौतिक ऐश्वर्य से युक्त तीर्थंकर का बाह्य रूप देव नहीं होता, किन्तु वहाँ उसका देव होता है—अनन्तज्ञान-दर्शन की निर्मल ज्योति से जगमगाता विशुद्ध निर्विकार आत्मस्वरूप ! वह शुद्ध आत्मस्वरूप ही उसका सच्चा देव है, वही गुरु है और वही शास्त्र या धर्म है। बाहर के देव, गुरु और शास्त्र या धर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्त निमित्त है, वह उपादान नहीं, मूल स्वभाव नहीं। अतः निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा को ही देव, गुरु, धर्म या शास्त्र समझना सम्यग्दर्शन है। इसीलिए समयसार में कहा गया गया—

'विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निज परमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनम्।'[3]

---

१. आचारांग १।३।३।१२५।

२ भगवती सूत्र, श० १, उ० ९।

३ समयसार ता० वृ०, २।८।१०।

"विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावरूप निज परमात्मा (शुद्धात्मा) में रुचिरूप सम्यग्दर्शन है।"

शुद्धात्मा पर रुचि या श्रद्धा

सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है— शुद्ध आत्मा की रुचि। नियमसार में इसी प्रकार का लक्षण दिया गया है

'शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य।'[1]

"शुद्ध जीवास्तिकाय (आत्मा) की रुचि निश्चय-सम्यक्त्व है।

'अन्तर्नाद' में यही लक्षण प्रतिध्वनित हुआ है

> आत्मभावरतिः सम्यग्दर्शनं मोक्षहेतुकम्।
> तद्विरुद्धरतिर्मिथ्यादर्शनं भवहेतुकम् ॥[2]

"एकमात्र आत्मभाव में रति ही सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का हेतु है। इसके विपरीत भाव में— अनात्मभाव में रति मिथ्यादर्शन है और वह संसार-परिभ्रमण का हेतु है।"

वास्तव में सम्यग्दर्शन का मूल केन्द्र आत्मा है, अमुक नदी, नाग, पहाड़, शरीर, तीर्थ या व्यक्ति नहीं। आत्मा ही निजस्वरूप है। अतः एकमात्र आत्मा में, आत्मभाव में, निजस्वरूप में, अभिरुचि-प्रतीति-अनुभूति ही सच्चा सम्यग्दर्शन है। जिसकी रुचि आत्मा से भिन्न भाव में है, यानी जिसे आत्मप्रतीति— आत्मस्वरूप का बोध नहीं है, जो परस्वरूप को ही निजस्वरूप माने हुए है, देहादि में ही निजता का बोध रखता है, वह आत्मा मिथ्यादृष्टि है, उसका दर्शन मिथ्यादर्शन है, और वही संसार का— भवबन्धन का हेतु है। जिस प्रकार पर-घर में भटकने वाली नारी कुलटा कहलाती है, उसी प्रकार निजात्मा के बोध से भिन्न देहादि पर-पदार्थों में भटकने वाली अनुभूति भी एक तरह से कुलटा अनुभूति है। अनुभूति का कुलटापन ही मिथ्यादर्शन है।

अनन्तकाल से प्राणी 'पर' के प्रति रुचि और उस पर श्रद्धा करता आया है, 'स्व' पर उसकी रुचि और श्रद्धा नहीं जमी। अनन्तकाल से शरीर और शरीर से सम्बन्धित भोगों पर, इन्द्रियों और इन्द्रियविषय-भोगों पर

---

१. नियमसार, गा० ३ की पद्म प्र० टीका।

२ अमरभारती, अगस्त ७२, पृष्ठ १।

"केवल आत्मा की उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। यदि वह शुद्ध है, तो उसका लक्षण हो सकता है, यदि अशुद्ध है तो नहीं।"

आत्मा की शुद्ध उपलब्धि का अर्थ है—'शुद्धोपयोग या शुद्ध ज्ञान-चेतना की क्रियाशीलता'। जब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति न हो, वहाँ तक सम्यग्दर्शन दूर है। जब इस बात की प्रतीति, उपलब्धि, निश्चय हो जाय कि 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं, मैं तो देह से भिन्न शुद्ध आत्मा हूँ, ये माया, मोह, ममत्व, राग-द्वेष आदि सब अपनी ही अज्ञानता एवं भूल के कारण अपनी आत्मा की विभाव परिणति के ही विविध रूप हैं ये आत्मा के स्वरूप नहीं। ये विविध विकल्प और विकार स्वप्न के संसार के समान हैं। आत्मा की विभाव परिणति के ये विविध रूप आत्मा की मोह-निद्रा दूर होते ही क्षण भर में सहसा विलीन हो जाते हैं।'

कामदेव श्रावक को शुद्ध आत्मा की प्रतीति हो गई थी। यही कारण है कि उसके सम्यग्दर्शनरूप धर्म की कठोर परीक्षा लेने के लिए एक देव उसे विचलित करने आया। किन्तु भयंकर उपसर्गों के बीच भी वह आत्म-भाव में लीन रहा। शरीरादि पर-भावों में उसकी आसक्ति नहीं थी। फलतः वह अपने सम्यग्दर्शनरूप धर्म पर सुदृढ़ रहा।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में कहा गया है—निज निरंजन, शुद्ध, बुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।[1] आशय यह है कि जिस साधक को शरीर से पृथक् आत्मा के अजर-अमर-अविनाशित्व की दृढ़प्रतीति हो जाए, उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मृत्यु तो शरीर की होती है, आत्मा तो कभी मरती नहीं। वह मृत्यु से घबराता नहीं। जो मरता है, बूढ़ा होता है, वह तो शरीर है, आत्मा नहीं। वह शरीर आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो सच्चिदानन्दस्वरूप है।

जैन इतिहास की एक प्रेरक कथा लीजिए—

जैनधर्म के एक प्रसिद्ध आचार्य के पास एक बूढ़ा व्यक्ति शिष्य बनने के लिए आया, बोला—"मैं आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। मैं शिष्य बनने के लिए कई गुरुओं के पास गया, किन्तु सभी ने एक ही उत्तर दिया—तुम बूढ़े हो, अब तुम्हें कौन शिष्य बनाए?"

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ३६ की टीका।

तथा मन और मन के राग-द्वेषादि विकल्पों, कलुषित ध्यानों या विच
पर रुचि और श्रद्धा की। कुछ आगे बढ़ा तो परिजन और परिवार
श्रद्धा की, उससे भी आगे बढ़ा तो प्रान्त, राष्ट्र, समाज, विश्व, व्यक्ति
व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय और मन पर तो श्रद्धा एवं रुचि की, किन्तु
सबके मूल केन्द्र—आत्मा पर अभी तक श्रद्धा, रुचि एवं प्रतीति नहीं
आत्मा से सम्बन्धित गुणों पर भी श्रद्धा नहीं जमाई। अतः यहाँ कहा
कि जब अन्य सब पर-पदार्थों एवं विकल्पों को छोड़कर शुद्ध आत्मा
परम श्रद्धा होगी, तभी समझा जायेगा कि सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हुआ
जिसकी स्वात्मरुचि सुदृढ़ हो जाती है, वह पर-पदार्थों पर रागादि
करता, इन्द्रियों के भौतिक विषय-सुखों में लुब्ध नहीं होता। अतीन्द्रि
आत्मिक सुख में ही उसकी रुचि होती है। किन्तु जब तक पर-पदार्थ
रुचि रहती है, तब तक निज स्वभावभूत शान्ति उपलब्ध नहीं होती।
पर-पदार्थों की रुचि का त्याग करके स्वात्म-रुचि का होना ही निश्
सम्यग्दर्शन है।

जैसा कि प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति में कहा गया है—

रागादि से भिन्न अपनी आत्मा से उत्पन्न आत्मिक-अतीन्द्रिय सुख
स्वभाव है, वही परमात्मतत्त्व है। वही परमात्म (शुद्धात्म) तत्त्व
प्रकार से उपादेय है, ऐसी रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है।[1]

इसीलिए जिनसूत्र में कहा गया—

'अप्पा अप्पम्मि रओ समाइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।'[2]

"आत्मा का आत्मा में रत—लीन होना, वही जीव का स्
सम्यग्दृष्टि हो जाना है।"

शुद्ध-आत्मा की उपलब्धि : सम्यग्दर्शन

इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है—शुद्ध आत्मा की
लब्धि। जैसा कि पंचाध्यायी (उ०) में कहा गया है—

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं, न चेदशुद्धा न सा सुदृग ॥[3]

---

१ प्रवचनसार ता० वृ० ५।६।१९।
२ जिनसूत्र, भा० २, गा० ६६।
३ पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) २१५।

"केवल आत्मा की उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। यदि वह शुद्ध है, तो उसका लक्षण हो सकती है, यदि अशुद्ध है तो नहीं।"

आत्मा की शुद्ध उपलब्धि का अर्थ है—'शुद्धोपयोग या शुद्ध ज्ञान-चेतना की क्रियाशीलता'। जब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति न हो, वहाँ तक सम्यग्दर्शन दूर है। जब इस बात की प्रतीति, उपलब्धि, निश्चय हो जाय कि 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं, मैं तो देह से भिन्न शुद्ध आत्मा हूँ, ये माया, मोह, ममत्व, राग-द्वेष आदि सब अपनी ही अज्ञानता एवं भूल के कारण अपनी आत्मा की विभाव परिणति के ही विविध रूप है, ये आत्मा के स्वरूप नहीं। ये विविध विकल्प और विकार स्वप्न के संसार के समान है। आत्मा की विभाव परिणति के ये विविध रूप आत्मा की मोह-निद्रा दूर होते ही क्षण भर में सहसा विलीन हो जाते है।'

कामदेव श्रावक को शुद्ध आत्मा की प्रतीति हो गई थी। यही कारण है कि उसके सम्यग्दर्शनरूप धर्म की कठोर परीक्षा लेने के लिए एक देव उसे विचलित करने आया। किन्तु भयंकर उपसर्गों के बीच भी वह आत्म-भाव में लीन रहा। शरीरादि पर-भावों मे उसकी आसक्ति नहीं थी। फलत वह अपने सम्यग्दर्शनरूप धर्म पर सुदृढ़ रहा।

वृहद्द्रव्यसग्रह मे कहा गया है—निज निरंजन, शुद्ध, बुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।[1] आशय यह है कि जिस साधक को शरीर से पृथक आत्मा के अजर-अमर-अविनाशित्व की दृढ़प्रतीति हो जाए, उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मृत्यु तो शरीर की होती है, आत्मा तो कभी मरती नहीं। वह मृत्यु से घबराता नहीं। जो मरता है, बूढ़ा होता है, वह तो शरीर है, आत्मा नहीं। वह शरीर आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो सच्चिदानन्दस्वरूप है।

जैन इतिहास की एक प्रेरक कथा लीजिए—

जैनधर्म के एक प्रसिद्ध आचार्य के पास एक बूढ़ा व्यक्ति शिष्य बनने के लिए आया, बोला—"मैं आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। मैं शिष्य बनने के लिए कई गुरुओं के पास गया, किन्तु सभी ने एक ही उत्तर दिया—तुम बूढ़े हो, अब तुम्हें कौन शिष्य बनाए ?"

---

१ वृहद्द्रव्यसग्रह, गा० ३६ की टीका।

हजारों गुरु अपने को भी शरीर के रूप में देखते हैं और शिष्यों को भी। परन्तु सच्चा गुरु अपने को भी आत्मा के रूप में देखता है और शिष्य को भी। वे आत्मदर्शी आचार्य थे, उन्होंने उस बूढ़े को शिष्य बना लिया। वह शिष्य अध्ययन में जुट गया। एक श्लोक आचार्य ने उसे याद करने को दिया, उसे वह रटता रहा। रटते-रटते शाम हो गई, पर श्लोक याद न हुआ। उसी श्लोक को ऊँची आवाज में रटते-चिल्लाते एक सप्ताह बीत गया, फिर भी कण्ठस्थ न हुआ। उपाश्रय के सामने एक नामी विद्वान् रहता था। वह अपने मकान के छज्जे से उस बूढ़े साधु को प्रतिदिन एक ही श्लोक रटते देख हँसा और बोला—"क्या बूढ़ा तोता कभी पढ़ सकता है?"

एक दिन वह पण्डित उस बूढ़े साधु के सामने एक मूसल को खड़ा करके जल से सींचने लगा। बूढ़ा साधु यह देख साश्चर्य बोला—"पण्डितजी! यह क्या कर रहे हैं?"

पण्डित—"मैं मूसल को इसलिए सींच रहा हूँ ताकि वह हरा-भरा हो जाए, और इसमें पत्ते, फूल, फल निकल आएँ।"

बूढ़ा साधु सुनकर पूछ बैठा—"जो मूसल सूखा काठ है, उसमें हरा होने के लिए कोई प्राणतत्त्व नहीं रहा, वह भला कैसे हरा-भरा होगा? आपका दिमाग तो ठीक है न?"

पण्डित—"मेरा दिमाग तो ठिकाने है, परन्तु आप जो बुढ़ापे में पढ़ने बैठे हैं, विद्वान् होने का स्वप्न देखते हैं, यह क्या है? यदि आपका बुढ़ापे में विद्वान् होना सम्भव है, तो मेरे इस सूखे काठ में भी पत्र-पुष्प क्यों नहीं लग सकते?"

पण्डित की इस बात से बूढ़ा शिष्य हताश-निराश होकर गुरु के पास आया और कहने लगा—"बस, मैं अब नहीं पढ़ सकता। भला, बुढ़ापे में कहीं पढ़ा जाता है?"

गुरु के पूछने पर उसने पण्डितजी के साथ हुई सारी चर्चा सुना दी। गुरुजी ने उस शिष्य से कहा—"वाह! तुम्हारी और उस मूसल की क्या समानता? मूसल जड़ है, तुम चेतन हो, आत्मा हो। आत्मा न कभी बूढ़ा होता है, न कभी मरता है। वह अनन्तज्ञानादि शक्तियों का पुंज है। जब आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, तब अज्ञान का आवरण प्रयत्न करने पर रहेगा ही कैसे? तू शरीर नहीं, आत्मा है, अन्धकार नहीं, प्रकाश है, तू अज्ञान नहीं,

है। तब भला कैसे कहता है, मुझे कुछ नहीं आ सकता ? तू बूढ़ा नहीं, शरीर बूढ़ा है। शरीर के बुढ़ापे का तुझ से क्या वास्ता ?"

गुरु की आत्मबोधक प्रभावशाली वाणी सुनकर बूढ़ा साधु बहुत प्रभावित हुआ और आत्म-विश्वासपूर्वक पुनः अध्ययन में जुट गया। अब उसे अपने स्वरूप की प्रतीति हो चुकी थी, अपनी आत्मशक्ति को पहचान चुका था। अतः लगन से अध्ययन के फलस्वरूप एक दिन महाविद्वान बन गया।

यह है, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति—उपलब्धि का चमत्कार !

इसीलिए अनगार धर्मामृत में कहा गया है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या-विपरीत-प्रमाण-बाधित अर्थ के आग्रह (अभिनिवेश) से रहित आत्मस्वरूप के निश्चय को निश्चय-सम्यग्दर्शन कहते हैं।[1]

निश्चय-सम्यग्दर्शन तभी प्रकट होता है, जब इस पौद्गलिक देह को ही आत्मा समझने की प्राथमिक अन्धकारपूर्ण भूमिका से व्यक्ति निकलता है, और आत्मा के अखण्ड प्रकाश को इसमें चमकता देखता है, तत्पश्चात् उस शुद्ध आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन करने लगता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मस्वरूप का विचार ही निश्चय-सम्यग्दर्शन की भूमिका है। इस प्रकार आत्मा की निर्मलता, तीव्रकषाय एवं आसक्ति की समाप्ति एवं जागरूक आत्मबोध की अवस्था निश्चय-सम्यग्दर्शन की अवस्था है। शरीर, इन्द्रिय और मन से परे जो आत्मा है, जिसकी ज्योति से शरीर, इन्द्रियाँ मन आदि जगमगा रहे है, उसको पहचान ही आत्मदर्शन है, वही सम्यग्दर्शन है।

भौतिकदृष्टिसम्पन्न लोग कहते हैं—"मुझे किसी सम्प्रदाय विशेष और उससे सम्बन्धित देव-गुरु में श्रद्धा हो गई है।" परन्तु उसमें आत्मदृष्टि का अभाव होता है। उसे न तो तत्त्वार्थ का बोध होता है, और न ही आत्मबोध। इसलिए देव, गुरु, धर्म या तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा से पहले आत्मस्वरूप की प्रतीति आवश्यक है। जिसे आत्मदर्शन हो जाता है, वह शरीर को एक साधन समझता है, सर्वत्र आत्मा को शुद्ध-स्वच्छ रखता है। वह शरीर को लिफाफा और आत्मा को चैक समझता है। जब वह देखता कि चैक और लिफाफा दोनों ही फट रहे हैं, तब वह चैक (आत्मा) को बचाता है, लिफाफे (शरीर) को समाधिपूर्वक छोड़ देता है।

---

१ मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवन् ।

—अनगार धर्मामृत, अध्याय १, श्लोक ६१ ।

आत्मदृष्टिपरायण व्यक्ति के सामने जब शरीर और
में से किसी एक की सुरक्षा का प्रश्न हो, वहाँ आत्मा को बचा
और शरीर से सम्बन्धित पदार्थ को नष्ट होने देता है। अ
अभ्यस्त व्यक्ति चाहे समूह में हो, चाहे एकान्त में, बड़े-से
प्रलोभन के समक्ष फिसलता नहीं, वह आत्मा की सुरक्षा कर
कोई भी ताकत उसे भय या प्रलोभन दिखाकर आत्मदृष्टि
नहीं कर सकती।

कामविजेता स्थूलभद्र मुनि आत्मदृष्टिपरायण थे। वे
में कोशा वेश्या की रंगशाला में चार महीने तक रहे। वहाँ
से परिपूर्ण मादक वातावरण था, कामोत्तेजक वायुमण्ड
भी वे शान्त एवं स्वस्थ रह सके। उन्हें उस समय शान्त
रखने वाला तत्त्व आत्मदर्शन ही था।

सचमुच जागृत और आत्मदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति को कोई
काल या व्यक्ति विचलित अथवा पतित नहीं कर सकता। जिस
आत्मदर्शन नहीं है, जिसे आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं है, वह च
महान्, उच्च साधक कहलाता हो, वह चाहे जैसे वैराग्य के स्व
उसे पतन की ओर फिसलने से कोई रोक नहीं सकता। आ
अभाव में वह जगत् के पदार्थों पर समभाव नहीं रख सकेगा, देव
पर कोरी श्रद्धा आत्मदृष्टिविहीन को पतन से बचा नहीं सकेगी
दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति न तो समाज, राष्ट्र, पुत्र, परिवार या किसी भ
को कोसता है, और न ही क्रोधादि कषायों में या संसार की मो
अपने को लिपटाता है। वह अपना उपादान—आत्मा—देखता है।
आत्मदृष्टि प्रकट होने पर वह सर्वत्र-सर्वदा उसी शुद्धोपयोग की
में बहता है। वह दूसरों के सुधार या उद्धार की अपेक्षा पहले अप
या उद्धार करता है।

शुद्ध आत्मानुभव : निश्चय-सम्यग्दर्शन

यह भी निश्चय-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है। आत्मा के
का अर्थ है—वीतरागता के—शुद्ध आत्मा के सुख का रसास्वादन
शान्तिरूप स्वभाव का अनुभव करना। बृहद्द्रव्यसंग्रह की टी
निश्चय-सम्यक्त्व का यही लक्षण दिया गया है—

रागादि विकल्पोपाधिरहित-चिच्चमत्कार-भावोत्पन्न-मधुर-रसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनम् ।[1]

"मै रागादि विकल्पों से रहित चित्-चमत्कार भावों मे उत्पन्न मधुर रस के आस्वाद सुख का धारक हूँ, इस प्रकार निश्चय रूप सम्यग्दर्शन है ।"

सुख-दु.ख का प्रत्यक्ष तो प्रत्येक को सम्भव है। अन्धे को सुई का ज्ञान होना सम्भव नही, पर इसके चुभने का प्रत्यक्ष वेदन होना सम्भव है। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

सक्षेप में सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो मे लक्षण प्रस्तुत किये गये है । □

---

१ बृहद्द्रव्यसग्रह टीका ४०।१६३।१० ।

इसके उत्तर में कहा गया है कि दोनों एक नहीं हैं। जि
अग्नि का ताप और प्रकाश दोनों युगपत होते हुए भी अपने-अपने
भिन्न होते है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हु
अपने-अपने लक्षणों से भिन्न हैं। सम्यग्ज्ञान का लक्षण तत्वों क
निर्णय करना है, जबकि सम्यग्दर्शन का लक्षण उनका श्रद्धान कर

सम्यग्दर्शन स्व-पर-गम्य है या नहीं ?

पंचाध्यायी में एक प्रश्न उठाया गया है कि सम्यग्दर्शन
इतना सूक्ष्म है कि वह केवलज्ञान या अवधिज्ञान एवं मनःपर्या
गोचर है, तथा निर्विकल्प भी है। इसलिए वचनों से भी अगोचर
इसे कैसे जाना-पहचाना जा सकता है ?[1]

इसका समाधान दर्शनपाहुड की भाषा वचनिका में दिय
कि यों एकान्तरूप कहना मिथ्या है। यों कहने से तो अपने अ
(साधु-श्रावकों) के सम्यग्दर्शन का कोई निश्चय नहीं होने से व्य
लोप हो जाएगा। सभी अपने को मिथ्यादृष्टि मानने लगेंगे। अत
गुणों से, सम्यग्दर्शन के अंगों एवं सम्यक्त्वी के व्यवहारों से परी
सम्यग्दर्शन का उनमें अस्तित्व जाना-पहचाना जा सकता है।

निम्नलिखित गुणों एवं व्यवहारों से सम्यग्दृष्टि में सम्य
अस्तित्व जाना जा सकता है—

१ निःशंकित, निष्कांक्षित आदि सम्यक्त्व के ८ गुणों या अंगों से
२ संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और
इन ८ गुणों से।
३ प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, इन ५ लक्षणों से
४ संवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढ़ता, अगर्व, (मदरहितता) अ
और अनुकम्पा, सम्यग्दृष्टि की इन ७ भावनाओं से।
५ उत्तम गुणों को ग्रहण करने की तत्परता से, उत्तम साध
जिनभक्ति से, तथा सार्धमीजनों के प्रति अनुराग (वात्सल्य)
६ आत्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन के प्रधान चिह्न से।
७ देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि के प्रति भक्ति एवं तत्त्वों के प्र
सम्यक्त्व के इन दो लक्षणों से।

१ पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) श्लोक ३९५, ४००।

८. अपने दोषों की निन्दना, गर्हणा करते देखकर।

९. सम्यक्त्व के साथ ज्ञान, वैराग्य एवं चारित्र अवश्यम्भावी होने से, तथारूप प्रतीति से।[1]

सम्यग्दर्शन के साथ ही चारित्र का अंगीकार होता है या नहीं ?

एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि सम्यग्दर्शन होते ही व्यक्ति *समस्त पर-द्रव्यों को—संसार को—हेय जानता है, ऐसी स्थिति में क्या* वह उन्हें छोड़कर मुनि बनकर सम्यक्चारित्र का अंगीकार एवं पालन करने लगता है।[2]

इस प्रश्न का समाधान यह है कि सम्यक्त्व होने ही सम्यग्दृष्टि समस्त पर-द्रव्यों को हेय एवं निज स्वरूप को उपादेय जान लेता है, तथारूप श्रद्धान भी कर लेता है, मिथ्याभाव को मिथ्या भी समझता है, परन्तु चारित्रमोहनीयकर्म का उदय प्रबल होने से उसमें पर-द्रव्यों को छोड़कर चारित्र अंगीकार करने की शक्ति नहीं होती। इसलिए जितनी शक्ति होती है, उतना तो आचरण करता है, बाकी के विषय में श्रद्धान करता है।[3]

धर्मसंग्रह में इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया गया है—

> जं सक्कइ तं कीरइ, जं न सक्कइ तयमि सद्दहणं।
> सद्दहमाणो जीवो वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥[4]

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र २८।३१, मूलाचार २०१।
(ख) समयसार, चारित्रसार, अमितगति श्रावकाचार।
(ग) तत्त्वार्थसूत्र।
(घ) महापुराण ९।१२३।
(ङ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३१५।
(च) ज्ञानसार।

२ दर्शनपाहुड पं० जयचन्दजी की वचनिका २२।

३. दर्शनपाहुड पं० जयचन्दजी की वचनिका २२।

४ (क) धर्मसंग्रह अधिकार २।२१।
(ख) इसी से मिलती जुलती गाथा दर्शनप्राभृत में मिलती है—
जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

"जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए, जिस
आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा रखता हु
जीव भी जरा एवं मरण से रहित स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है।"

सम्यग्दर्शन सर्वांश यथार्थदर्शन—एक चर्चा

वस्तुतः सम्यग्दर्शन का भाषाशास्त्रीय विवेचन पर आधा
'रागादि दोषों से रहित यथार्थदर्शन', अर्थ ही उसका मौलिक एवं प्र
अर्थ होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सर्वांशत. राग
दोषरहित यथार्थ दर्शन तो केवल वीतराग पुरुष का ही हो सकता है, च
गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक के धारक, जो कि रागादि दो
से पूर्णतः मुक्त नहीं है, छद्मस्थ हैं, उनमें यह अर्थ घटित नहीं होग
क्योंकि साधक-अवस्था में तो रागादि दोषों से पूर्णतया मुक्ति नहीं मिल
साधना की अवस्था सराग-अवस्था है; साधक तो साधना ही इसलि
करता है कि वह इन रागादि दोषों से मुक्त हो। इस प्रकार का सर्वांश
निर्दोष सम्यग्दर्शन तो बारहवें गुणस्थान में जाकर होता है, किन्तु
दोषरहित सम्यग्दर्शन की आवश्यकता तो छद्मस्थ दशा वाले साधकों
है, वीतरागदशा वाले महापुरुषों को तो पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दर्शन ही न
यथाख्यातचारित्र तक भी प्राप्त है. केवलज्ञान एवं वीतरागत्व भी उनक
है। ऐसी स्थिति में पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दर्शन के अभाव में अपूर्ण सम्यग्द
—यथार्थदृष्टि से व्यक्ति का ज्ञान और चारित्र, व्यवहार एवं साधना उ
निर्दोष एवं सम्यक् कैसे हो सकेगी ? अथवा यों कहें कि अपूर्ण सम्यग्द
उसके ज्ञान और चारित्र, व्यवहार एवं साधना को पूर्णतः निर्दोष
सम्यक् कैसे बना सकेगा ?

यह समस्या हमें शंकाकुल कर देती है कि साधनात्मक जीवन
पूर्ण निर्दोष दर्शन होता नहीं और पूर्णतः निर्दोष दर्शन के अभाव में साध
सम्यक् हो नहीं सकती। यह समस्या हमें यह मानने को बाध्य कर दे
है, कि फिर तो पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो जाए, तब तक साध
की ही सम्भावना नहीं है और पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन साधनाकाल में प्रा
हो नहीं सकता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका समाधान यह है कि यह मान्यता यथा
नहीं है कि पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दृष्टि के होने पर ही ज्ञान, चारित्र औ
की साधना निर्दोष व सम्यक् हो सकती है, उससे पूर्व अपूर्ण सम्यग्दृ

तो अथवा छद्मस्थ साधक को पूर्ण निर्दोप सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता ।

साधनाकाल मे रत्नत्रय की साधना के लिए सम्यग्दृष्टि का पूर्णत निर्दोप होना, या रागादि दोपो से सर्वथा रहित दृष्टि का होना आवश्यक या पूर्ण अपेक्षित नही है; सिर्फ इतना आवश्यक या अपेक्षित है कि व्यक्ति पूर्ण निर्दोप सम्यग्दर्शन के स्वरूप को भली-भांति जाने-माने तथा यथार्थ तत्त्वो पर उसकी आत्मलक्ष्यी दृढ श्रद्धा हो, साथ ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के कारणों को जानता हुआ मिथ्यादर्शन के कारणो मे वचे और सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखे। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ साधक हो, या छद्मस्थ साधक, वह पूर्णत रागादि दोपो से विमुक्त सम्यग्दर्शन-प्राप्त न भी हो तब भी सम्यग्दृष्टि है, क्योकि वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानता है, मानता है, उनके कारणो को भी जानता है। इसलिए वह भ्रान्त या सम्यग्दर्शन से च्युत नही है, वह असत्य के कारणो को जानता है, इसलिए असत्य को प्रविष्ट होते देख तुरन्त उसका निराकरण करके सत्य को सुरक्षित रख सकता है ।

अगर सम्यग्दर्शन के लिए रागादि दोपमुक्त पूर्ण यथार्थदृष्टि ही अपेक्षित होती, तो जैन सिद्धान्त चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक विभिन्न भूमिका की आत्माओ को सम्यग्दृष्टि न वताता, वह यही कहता कि पूर्ण वीतराग अवस्था (तेरहवें गुणस्थान) मे ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, उसे ही सम्यग्दृष्टि कहा जाएगा; परन्तु ऐसा कथन तो जैनसिद्धान्त मे कही भी नही मिलता। यदि ऐसा कथन होता तो रत्नत्रय की साधना को कही अवकाश न रहता, क्योंकि तव सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में प्राप्त नही होता, और सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् नही होते, ऐसी स्थिति मे मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय की साधना, छद्मस्थ दशा में हो ही नहीं सकती थी। परन्तु ऐसा सिद्धान्त नही है।

यद्यपि साधनाकाल मे वारहवां गुणस्थान प्राप्त न करले, तव तक व्यक्ति पूर्ण निर्दोप (रागद्वेषादिरहित) सम्यग्दर्शन नही प्राप्त कर पाता, तथापि उसकी रागद्वेषात्मक वृत्तियों में उत्तरोत्तर स्वाभाविक रूप से कमी होती जाती है। ऐसी परिवर्तित स्थिति में साधक पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति का अन्तर स्वत. जान जाता है। इस प्रकार दर्शनविशुद्धि हो जाने से व्यक्ति से कदाचित् असावधानी से या भ्रान्ति से कोई चल, मल, अगाढ दोप, अथवा शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि अतिचार (दोप) प्रविष्ट

"जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए, जि
आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा रखता
जीव भी जरा एवं मरण से रहित स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है।"

सम्यग्दर्शन सर्वांशतः यथार्थदर्शन—एक चर्चा

वस्तुतः सम्यग्दर्शन का भाषाशास्त्रीय विवेचन पर आध
'रागादि दोषों से रहित यथार्थदर्शन', अर्थ ही उसका मौलिक एवं
अर्थ होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सर्वांशतः रा
दोषरहित यथार्थ दर्शन तो केवल वीतराग पुरुष का ही हो सकता है,
गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक के धारक, जो कि रागादि
से पूर्णतः मुक्त नहीं है, छद्मस्थ है, उनमें यह अर्थ घटित नहीं है
क्योंकि साधक-अवस्था में तो रागादि दोषों से पूर्णतया मुक्ति नहीं मि
साधना की अवस्था सराग-अवस्था है, साधक तो साधना ही इ
करता है कि वह इन रागादि दोषों से मुक्त हो। इस प्रकार का सर्व
निर्दोष सम्यग्दर्शन तो बारहवें गुणस्थान में जाकर होता है, किन्
दोषरहित सम्यग्दर्शन की आवश्यकता तो छद्मस्थ दशा वाले साध
है, वीतरागदशा वाले महापुरुषों को तो पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दर्शन ही
यथाख्यातचारित्र तक भी प्राप्त है, केवलज्ञान एवं वीतरागत्व भी उ
है। ऐसी स्थिति में पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दर्शन के अभाव में अपूर्ण सम्य
—यथार्थदृष्टि से व्यक्ति का ज्ञान और चारित्र, व्यवहार एवं साधना
निर्दोष एवं सम्यक् कैसे हो सकेगी ? अथवा यों कहें कि अपूर्ण सम्य
उसके ज्ञान और चारित्र, व्यवहार एवं साधना को पूर्णतः निर्दो
सम्यक् कैसे बना सकेगा ?

यह समस्या हमें शंकाकुल कर देती है कि साधनात्मक जी
पूर्ण निर्दोष दर्शन होता नहीं और पूर्णतः निर्दोष दर्शन के अभाव में स
सम्यक् हो नहीं सकती। यह समस्या हमें यह मानने को बाध्य कर
है, कि फिर तो पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो जाए, तब तक स
की ही सम्भावना नहीं है और पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन साधनाकाल में
हो नहीं सकता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका समाधान यह है कि यह मान्यता
नहीं है कि पूर्णतः निर्दोष सम्यग्दृष्टि के होने पर ही ज्ञान, चारित्र
की साधना निर्दोष व सम्यक् हो सकती है, उससे पूर्व अपूर्ण सम्य

को अथवा छद्मस्थ साधक को पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता ।

साधनाकाल मे रत्नत्रय की साधना के लिए सम्यग्दृष्टि का पूर्णत निर्दोष होना, या रागादि दोषो से सर्वथा रहित दृष्टि का होना आवश्यक या पूर्ण अपेक्षित नही है; सिर्फ इतना आवश्यक या अपेक्षित है कि व्यक्ति पूर्ण निर्दोष सम्यग्दर्शन के स्वरूप को भली-भाँति जाने-माने तथा यथार्थ तत्त्वो पर उसकी आत्मलक्ष्यी दृढ श्रद्धा हो, साथ ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के कारणो को जानता हुआ मिथ्यादर्शन के कारणो से बचे और सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखे। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ साधक हो, या छद्मस्थ साधक, वह पूर्णत रागादि दोषो से विमुक्त सम्यग्दर्शन-प्राप्त न भी हो तब भी सम्यग्दृष्टि है, क्योकि वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानता है, मानता है, उनके कारणो को भी जानता है। इसलिए वह भ्रान्त या सम्यग्दर्शन से च्युत नही है, वह असत्य के कारणो को जानता है, इसलिए असत्य को प्रविष्ट होते देख तुरन्त उसका निराकरण करके सत्य को सुरक्षित रख सकता है।

अगर सम्यग्दर्शन के लिए रागादि दोषमुक्त पूर्ण यथार्थदृष्टि ही अपेक्षित होती, तो जैन सिद्धान्त चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक विभिन्न भूमिका की आत्माओ को सम्यग्दृष्टि न बताता, वह यही कहता कि पूर्ण वीतराग अवस्था (तेरहवे गुणस्थान) मे ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, उसे ही सम्यग्दृष्टि कहा जाएगा; परन्तु ऐसा कथन तो जैनसिद्धान्त मे कही भी नही मिलता। यदि ऐसा कथन होता तो रत्नत्रय को साधना को कही अवकाश न रहता, क्योकि तब सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान मे प्राप्त नही होता, और सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् नही होते, ऐसी स्थिति में मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय की साधना, छद्मस्थ दशा मे हो ही नही सकती थी। परन्तु ऐसा सिद्धान्त नही है।

यद्यपि साधनाकाल में बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त न करले, तब तक व्यक्ति पूर्ण निर्दोष (रागद्वेषादिरहित) सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त कर पाता, तथापि उसकी रागद्वेषात्मक वृत्तियों में उत्तरोत्तर स्वाभाविक रूप से कमी होती जाती है। ऐसी परिवर्तित स्थिति में साधक पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति का अन्तर स्वत. जान जाता है। इस प्रकार दर्शनविशुद्धि हो जाने से व्यक्ति मे कदाचित् असावधानी से या भ्रान्ति से कोई चल, मल, अगाढ दोष, अथवा शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि अतिचार (दोष) प्रविष्ट

उस पर उन्हे पक्का विश्वास होता है, उसकी कल्याणकारिता मे उन्हे कोई सन्देह नही होता। वे हठाग्रही नही होते कि जो वस्तु उन्होने एक बार सम्यक् मानकर ग्रहण कर ली है, सत्य उससे विपरीत हो, उन्हे वह वस्तु असत्य समझ मे आ जाये, तो भी वे हठाग्रह-कदाग्रहपूर्वक उसे पकडे ही रहे। वे यथार्थत सत्यग्राही और तत्त्वग्राही होते है। इसीलिए वे अपने कदाग्रह को छोड़ देते हैं, सत्य तत्त्व को अपना लेते हैं।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव और अभाव मे ज्ञान की दशा

यह तो पहले कहा जा चुका है कि किसी प्राणी का लौकिक ज्ञान कितना ही विशाल और सच्चा क्यो न हो, अगर उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो तो उसके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नही कहा जा सकता। परन्तु यदि किसी को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाये तो उसका लौकिक दृष्टि से असत्य एव अल्प ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलायेगा। इससे हम निर्णय कर सकते है कि सम्यग्-दर्शन एक ऐसी दृष्टि है, जो थोडे से, तथा बाह्य दृष्टि से असत्यरूप ज्ञान का भी उपयोग सत्य (प्राणिहित) के या कल्याणपथ के निर्णय करने मे कराती है और उस ज्ञान को सत्य एवं सार्थक बना देती है।

बाह्य दृष्टि से असत्य और सत्य ज्ञान सम्यग्दर्शन के संयोग से किस प्रकार सत्य एव असत्य बन जाता है, इसके लिए हम इनके चार विकल्प प्रस्तुत करके समझाते हैं—(१) सत्य-सत्य, (२) असत्य-सत्य, (३) सत्य-असत्य, और (४) असत्य-असत्य।[1]

(१) सत्य-सत्य—वह ज्ञान सत्य-सत्य कहलाता है, जो वस्तुस्थिति की दृष्टि से भी सत्य है और प्राणिहितरूप निष्कर्ष की दृष्टि से भी सत्य है। जैसे—अमुक दूकानदार सत्यवादी है, इसलिए वह ग्राहको का हित चाहता है। यहाँ वस्तुस्थिति भी सत्य है और सत्यज्ञान से जो निष्कर्ष निकाला गया है, वह भी लोकहितकर-कल्याणकर होने से यह ज्ञान भी सत्य-सत्य है।

(२) असत्य-सत्य—वस्तुस्थिति की दृष्टि से जो ज्ञान असत्य है, किन्तु प्राणिहित रूप निष्कर्ष की दृष्टि से सत्य है वह असत्य-सत्य कहा जाता है जैसे—'अगर तुम किसी के भी बिना जाने एकान्त में पाप करोगे तो तुम्हे सर्वत्र देखने वाला ईश्वर इस पाप का समुचित दण्ड देगा।' इसमें वस्तु-स्थिति असत्य है, क्योकि ऐसा कोई सर्वदर्शी ईश्वर नही है, जो पाप-पुण्य

---

१. जैनधर्म मीमासा, भा० ३, पृष्ठ २१३।

सम्यग्ज्ञान नहीं रहता, वह अज्ञान बन जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि मिथ्यादृष्टि आत्मा अश्व को अश्व, हाथी को हाथी, जीव को जीव और अजीव को अजीव भी कह देता है,[1] फिर भी उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान या अज्ञान ही होता है।

इसके विपरीत यदि एक सम्यग्दृष्टि आत्मा कभी घोड़े को गधा और सीप को चाँदी, तथा बहुमूल्य पदार्थ को पत्थर कह देता है तो भी उसका वह ज्ञान अज्ञान न होकर ज्ञान ही होता है। मिथ्यादृष्टि की सही बात भी अज्ञान हो जाती है और सम्यग्दृष्टि की उलट-पुलट बात भी ज्ञान हो जाती है।

आखिर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में मौलिक अन्तर क्या है, जिससे एक की गलत बात भी सही मानी जाती है जबकि दूसरे की सही बात भी गलत कही जाती है।

इसका समाधान आचार्यों ने यह किया है कि मिथ्यादृष्टि आत्मा संसाराभिमुखी होता है, जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा मोक्षाभिमुखी होता है। सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक क्रिया विवेक, सर्वहित एवं कर्मक्षय (निर्जरा) या कर्मनिरोध (संवर) के अनुरूप होती है, जबकि मिथ्यादृष्टि की क्रिया में कोई विवेक नहीं होता, वह भौतिक सुख, स्वार्थ एवं प्रसिद्धि आदि सांसारिक दृष्टि से होती है, उसमें सर्वहित की भावना या संवर-निर्जरा की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को भेदविज्ञान होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि को भेदविज्ञान नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कदाचित् भ्रान्तिवश सही बात को भी गलत समझ लेता है, गलत को सही भी समझ लेता है, फिर भी उसकी दृष्टि अनाग्रही, सत्यग्राही, निष्पक्ष, सरल एवं उदार होती है, इसलिए अगर बाद में उसकी समझ में अपनी भूल आ जाय तो वह उसे सुधारने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता, वह झूठी बात को पकड़कर नहीं बैठता। उसकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है, इसलिए उसे मिथ्याभिनिवेश नहीं होता।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार 'ज्ञान का मिथ्याभिमान से पूर्ण तरह से मुक्त होना ही सम्यग्दर्शन है।'[2]

---

१. सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्' —तत्त्वार्थसूत्र अ० १।३२

२. 'मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिः ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्। —श्लोकवार्तिक १।२८

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्याभिमान तथा मिथ्या अर्थ के अ
से रहित होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान प्रायः मिथ्याभि
मिथ्यार्थाभिनिवेश से युक्त होता है। मिथ्यादृष्टि आत्मा में कुटि
दुराग्रह होने के कारण वह अपनी आध्यात्मिक तत्त्व सम्बन्धी
स्वीकार नहीं करता और न ही उस भूल को सुधारने का उसका ल
है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के दृष्टिकोण में यही मौलिक अ
है। इसी अन्तर के कारण ही उनके आचार-विचार में भी भेद हो
वस्तु सम्बन्धी विभ्रम ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम की कमी से
जबकि आध्यात्मिक विपरीत दृष्टि दर्शनमोह का परिणाम है। अ
दृष्टि को मतिभ्रम हो सकता है, अज्ञान नहीं।

श्रद्धा यदि अन्धविश्वास हो तो अनर्थ का कारण

वर्तमान युग के कई शिक्षित लोग कहा करते हैं—श्रद्
प्रकार का अन्धविश्वास है, विवेक, विज्ञान और हितैषिता
वास्ता भी नहीं होता। अगर ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन हो तो
धर्म की तरह यह भी कहर बरसाने वाली तथा मानव-मानव
और द्वेष बढ़ाने वाली है। अपने-अपने सम्प्रदाय, गुरु और देव
विश्वास करके लोग दूसरे सम्प्रदाय, गुरु और देव को मानने वाल
भिड़ा करेंगे। फिर ऐसा अन्धविश्वास तो मनुष्य को कई कुरी
बुराइयों में फँसा देगा।

लेकिन सत्य यह है कि अन्धविश्वास और श्रद्धा में जमी
का अन्तर है। जैसे हीरा और कोयला एक तत्त्व के बने होने प
में बहुत अन्तर है, वैसे ही मनोभूमि में दोनों का जन्म होने प
की वृत्ति में बड़ा फर्क है। दोनों में समानता इतनी-सी है कि दो
और स्थिरता होती है; किन्तु एक की स्थिरता दिव्य और
जबकि दूसरे की स्थिरता अनर्थकारी और नारकीय है।

विवेक, विज्ञान और हितैषिता से श्रद्धा का किंचित्
नहीं है, बल्कि श्रद्धा तभी सम्यक् और तेजस्वी बनती है, ज
साथ विवेक, तर्क, हितदृष्टि एवं आत्मविज्ञानलक्षी बुद्धि
श्रद्धा तो विवेक के बिना पैदा ही नहीं हो सकती। श्रद्धा का पू
है और उत्तरार्द्ध श्रद्धा है। अथवा मार्ग को हम विवेक कह स
श्रद्धा को प्राप्यस्थल—मंजिल। विवेक के द्वारा तत्त्वों का नि

जाता है, और श्रद्धा के द्वारा उस निश्चय पर दृढ़ या स्थिर रहा जाता है, अथवा उस निश्चय के अनुसार अपने जीवन को ढाला जाता है। अगर मनुष्य श्रद्धा को छोड़कर केवल विवेक से ही काम करता जाए तो उसकी दशा उस शुष्क पण्डित की-सी हो जाएगी, जो मस्तिष्क में अनेक प्रकार की जानकारी तो ठूँस लेता है, परन्तु उसका सदुपयोग या हितवर्द्धक उपयोग नहीं कर पाता। क्योंकि उसका ज्ञान चित्त को संशय और विभ्रम में डालने वाला है, स्थिर एवं श्रेयस्कर नहीं हो पाया। इसलिए श्रद्धा का विवेक, विज्ञान या हितैषिता से कोई विरोध नहीं है।

पंथवादी दर्शन कितना सच्चा, कितना कच्चा ?

सम्यग्दर्शन की व्याख्या विभिन्न ग्रन्थों एवं आगमों में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी आगम में या ग्रन्थ में जीवादि ६ पदार्थों या ७ तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है, किसी ग्रन्थ में आप्त, आगम, और तत्त्व या धर्म के श्रद्धान को, कहीं देव, गुरु और धर्म के श्रद्धान को सम्यक्त्व बताया गया है। किसी ग्रन्थ में स्वानुभूति को, किसी में स्व-परभेदविज्ञान को, किसी में आत्मा पर दृढ़ श्रद्धान या रुचि को और कहीं स्वरूप श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

लक्षण, परिभाषा, व्याख्या भिन्न-भिन्न होने पर भी इन सब में केवल शाब्दिक भेद है, इन सबका लक्ष्य एक ही है—आत्मा को अजीव से भिन्न समझकर उस पर दृढ़ श्रद्धा या प्रतीति करना, ताकि वह कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके।

क्योंकि सम्यग्दर्शन को मोक्ष का साधन, मार्ग या उपाय कहा गया है और मोक्ष आत्मा का ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन आत्मा का धर्म है, वह शरीरादि किसी जड़ का धर्म नहीं, और न ही वह किसी पंथ, सम्प्रदाय, मत या मजहब का धर्म है। किन्तु इतना होते हुए भी जब सम्यग्दर्शन को आत्मधर्मी न रहने देकर किसी सम्प्रदाय, पंथ या मजहब का धर्म बना दिया जाता है, तब वह आत्मलक्ष्यी न होकर पंथलक्ष्यी या रूढ़िलक्ष्यी हो जाता है। पंथवादी सम्यग्दर्शन अपने सम्प्रदाय अथवा पंथ के अतिरिक्त जो भी सत्य एवं आत्महितलक्ष्यी व्याख्या या भावना है, उसे स्वीकार नहीं करता।

साम्प्रदायिक कट्टरता से ओतप्रोत मनोवृत्ति ने सम्यक्त्व... को अपने-अपने पक्ष में खींचने का प्रयास किया है।

सम्प्रदाय में सम्यक्त्व की उपलब्धि मानने लगे। श्वेताम्बर और दि
अपने-अपने शास्त्रों और गुरुओं को सम्यग्दर्शन का मूलाधार मान
अपनी-अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों और मान्यताओं तथा धारणा
सम्यक्त्व की मुहर छाप लगाने लगे। दोनों ही अपने-अपने सम्प्र
अनुयायी बनने से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने का दावा करने
इस पंथवादी सम्यग्दर्शन की मनोवृत्ति ने शास्त्रों को बाँटा, महापु
अपने सम्प्रदाय में रखकर बाँटा, महान् आचार्यों को बाँटा और
मुक्ति तथा आत्मगुणों का भी बँटवारा करने लगे। अध्यात्म-मा
मूलाधार सम्यक्त्व को इन सम्प्रदायों और पंथों के साथ बाँध
इसीलिए एक जैनाचार्य को कहना पड़ा—

> सेयंबरो या आसंबरो या बुद्धो या तह य अण्णो वा।
> समभावभाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥

"श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, बौद्ध हो अथवा अन्य
धर्म का अनुयायी हो, जिसकी आत्मा समभाव से भावित है, वह
मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

इससे भी आगे बढ़कर एक आचार्य ने स्पष्ट कह दिया—

> संघो कोवि न तारइ, कट्ठो मूलो तहेव निप्पिच्छो।
> अप्पा तारइ अप्पा, तम्हा अप्पा वि झाएहि॥

"कोई भी संघ या सम्प्रदाय आत्मा को तार (मुक्त) नहीं
चाहे वह काष्ठा संघ हो, मूल संघ हो, निष्पिच्छ हो। आत्मा ही (स
आदि गुणों से) आत्मा को तारता (उद्धार करता) है, इसलिए
ही ध्यान करो।"

सम्यग्दर्शन के लक्षण के साथ समन्तभद्र आदि आचार्यों
प्रकार की मूढ़ताओं, आठ मदों का त्याग अनिवार्य बताया है।
ताओं में देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता तो मुख्य रूप से
हैं, धर्मसम्प्रदायमूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता आदि भी त्याज्य हैं। जाति,
रूप, वैभव, सत्ता, तप, ज्ञान आदि का मद, या मिथ्या आग्रह,
धर्मान्धता आदि भी सम्यग्दर्शन के दोष हैं। ये बुद्धि पर इतना
आवरण डाल देते हैं कि सत्य को यथार्थ रूप में ग्रहण करने और
समझने ही नहीं देते। इनसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का प्रका
और अवरुद्ध हो जाता है।

सम्यक्त्व कोई बाहर से आगत या परम्परा से या उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। वस्तुतः सम्यक्त्व लेने-देने जैसी वस्तु नहीं है। लेन-देन बाह्य वस्तु का होता है। अपना जैसा भी स्वरूप है, उसकी श्रद्धा, प्रतीति होना वस्तुतः आत्मजागृति है। भला इसे कोई व्यक्ति क्या देगा और कैसे लेगा ? भगवान् महावीर ने आत्मा-परमात्मा, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर आदि तत्त्वों का, सम्यक्त्व के स्वरूप का निरूपण अवश्य किया, लेकिन उन्होंने किसी को सम्यक्त्व या सामायिक आदि आध्यात्मिक विकास की वस्तु दी हो, या बदली हो, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता, बल्कि जहाँ कोई श्रमणोपासक निर्ग्रन्थ-प्रवचन सुनकर उसमें भाव-विभोर हो जाता है, वहाँ वह स्वयं ही अपने उद्गार व्यक्त करता है—

सद्दहामि णं भंते ! णिग्गथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! णिग्गथं पावयणं रोएमि णं भंते ! णिग्गथं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छिय पडिच्छियमेयं भंते ! ...[1]

"अर्थात्— भंते ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, जैसा आपने फरमाया वैसा ही यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन है, वैसा ही है, तथ्य-सत्य है, भंते ! यह अभीष्ट है, विशेष इष्ट है, अभीष्ट और इष्ट है।"

भगवान महावीर व्यवहार-दृष्टि से साधु-श्रावक के व्रतों के मार्ग रूप में दाता रहे हैं, परन्तु सम्यक्त्वदाता नहीं; क्योंकि यह तो आत्मस्पर्शी है, अन्तर् की निष्ठा एवं अनुभूति है। यह ज्योति गुरु के उपदेश से, निमित्त से जग तो सकती है, लेकिन जगती है स्वतः अन्दर से ही, बाहर से किसी के द्वारा दी नहीं जाती। सम्यग्दृष्टि एक दृष्टि है, वह दी नहीं जाती, स्वतः खुलती है, स्वयं स्फूर्त होती है, बन्द दृष्टि को खोलने या सम्यक्त्व का स्वरूप बोध देने में गुरु या उपदेष्टा निमित्त हो सकता है, इसके अधिक कुछ नहीं।

अगर सम्यग्दर्शन देने की चीज होती तो गोशालक या जामाली जैसे साधकों को भगवान महावीर ने क्यों नहीं दी ? उनके बाद के महान आचार्यों द्वारा भी सम्यक्त्व देने का उल्लेख उनके जीवनवृत्त में नहीं मिलता, हाँ व्रत-नियम तो दिये हैं।

---

1 उपासकदशांग, अ० १, पृ० १२।

अतः सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से समझकर स्वेच्छा से स्वतः प्रेरणा—स्फुरणा से ग्रहण करना चाहिए। साम्प्रदायिक कट्टरता की दृष्टिराग से दूषित व्यक्तियों के पंथवादी सम्यग्दर्शन को वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आत्मतत्त्व पर रखनी चाहिए, आत्महित की दृष्टि से जांचने-परखने पर दूसरे तत्त्वों की वास्तविकता भी समझ में आ जाएगी। भय, लोभ या स्वार्थ से प्रेरित हो या केवल पुस्तकें पढ़कर ग्रहण किया हुआ सम्यग्दर्शन भी कच्ची बुनियाद पर आधारित होता है, उसमें आगे चलकर आत्मतत्त्व साधक की दृष्टि से ओझल हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का व्यवहार

सम्यक्त्वी 'स्व' और 'पर' को भिन्न-भिन्न समझते हुए भी परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं देता। प्राणीमात्र को अपना कुटुम्बी समझता है, मैत्रीभाव रखता है, सारा जगत् उसके लिए स्वदेश है, स्व-जाति है। इसका मतलब यह नहीं है कि जो जीव उसके निकट सम्पर्क में आते है, उनके साथ भी वह जगत के प्रति जैसी दृष्टि रखता है, वैसी दृष्टि रखेगा। उनके साथ विशेष आत्मीयता का व्यवहार करेगा, परन्तु उसका व्यवहार अन्तर से राग-द्वेष-मोहयुक्त नहीं होगा। वह अपने परिवार आदि के प्रति अपने कर्त्तव्य से कदापि च्युत नहीं होगा। न ही उसके व्यवहार में परिवार, समाज आदि के प्रति उपेक्षा दृष्टि या नीरसता होगी। सम्यग्दृष्टि मोह, स्वार्थ और अविवेक को अपने जीवन में स्थान नहीं देता। वह इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग में दुःखी तथा अनिष्टवियोग और इष्टसंयोग में हर्षोन्मत्त नहीं होगा। वह आवश्यक सांसारिक विषय-भोगों का सेवन भी उदासीन भाव से करता है, दुःख या सुख में भी समभाव रखता है। वह नीति-न्याय का पक्षपाती होता है, अन्याय का पक्ष नहीं लेता। स्वयं न्याय पर चलता है, न्याय-दृष्टि से सोचता है। सम्यग्दृष्टि के जीवन का अन्तरंग बहिरंग से सम्बद्ध रहता है, और बहिरंग अन्तरंग से।

उसके व्यवहार में प्रदर्शन नहीं होता, सात्त्विकता ही स्पष्ट झलकती है। वह कपट-व्यवहार से दूर रहता है, उसका जीवन सरल और सादा होता है। उसका प्रत्येक कार्य प्रामाणिकता लिए होता है परिणामस्वरूप उसके व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिकता, त्याग, वैराग्य, न्याय-नीति-निष्ठता आदि का पुट होता है। □

१. सम्यग्दर्शन के दो रूप : व्यवहार और निश्चय

सम्यग्दर्शन के दो रूप क्यों ?

जीव की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप विशुद्धि को अनगार धर्मामृत में 'धर्म' कहा गया है।[1] परन्तु इस धर्म का आचरण केवल आत्मा में नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा से रहित केवल शरीर से भी नहीं हो सकता। इसीलिए जीवन के बाह्य और आभ्यन्तर इन दो रूपों की तरह सम्यग्दर्शन के भी बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं।

आभ्यन्तर रूप सम्यग्दर्शन की आत्मा है और बाह्य रूप है—सम्यग्दर्शन का अंगोपांगयुक्त शरीर। सम्यग्दर्शन के इन दोनों रूपों की साधक-जीवन में आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन के आभ्यन्तर रूप के बिना आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती और बाह्य रूप के बिना व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध नहीं हो सकता।

यों देखा जाए तो सम्यग्दर्शन आत्मशुद्धि, आचरण-शुद्धि तथा ज्ञान-शुद्धि के मार्ग पर चलने की पहली सीढ़ी है। इसी को सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यक्त्व का अर्थ है – ठीक मार्ग को प्राप्त करना। जो जीव इधर-उधर भटकना छोड़कर आत्मविकास के सही रास्ते को प्राप्त कर लेता है,

---

१. "धर्मं पुंसो विशुद्धिं सुदृगवगमचारित्ररूपा·······।"

—अनगार धर्मामृत, अ० १।९०

कषायों के संस्कारों के कारण आत्मा को बहिर्मुखी बनाये रखते हैं। उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होने देते।

आत्मा की अनन्त शक्तियों को आवृत कर देने वाला कर्मावरण इतना विचित्र और विकट है कि वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। सूर्य का प्रखर प्रकाश मेघाच्छन्न होने से जैसे अप्रकट रहता है, वैसे ही कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की अनन्त शक्ति भी प्रकट नहीं हो पाती। किन्तु जैसे सघन मेघावरण होने पर भी सूर्य की आभा अत्यन्त क्षीण रूप से प्रकट रहती ही है, उसी प्रकार कर्मावरण होते हुए भी आत्मा की शक्ति का सूक्ष्म अंश तो प्रगट रहता ही है। उसी के कारण जीव की पहचान होती है।

वास्तव में बात यह है कि अनादिकालीन कर्म-बन्धन और अपनी संसाराभिमुखी प्रवृत्ति के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल बैठा है। उसे अपने पर विश्वास नहीं रहा, कर्म की शक्ति के समक्ष अपने को विवश समझ बैठा है। इसीलिए वह अपने जीवन में दीनता-हीनता का अनुभव करता है।

आत्मा अपने स्वरूप और शक्ति को कैसे भूल गया, इस तथ्य को समझने के लिए एक रूपक लीजिए। मान लो, एक वेश्या है या कोई रूपवती स्त्री है। उसके मनोमोहक रूप से आकृष्ट एवं विमुग्ध होकर एक पुरुष उसके वशीभूत हो जाता है, वह इतना परवश हो जाता है कि अपनी शक्ति को भूलकर उस नारी को ही सर्वस्व समझता है, उसी के चंगुल में फँसा रहता है। लेकिन एक दिन उसे अपने और उस नारी के असली स्वरूप का भान हुआ, अपनी शक्ति पर विश्वास हुआ, और वह उस नारी के मोह-पाश से छूट गया।

यही स्थिति जीव और कर्म-पुद्गल की है। जीव पर मोह, ममत्व-बुद्धि, अहंत्व-बुद्धि का आवरण इतना जबर्दस्त है कि इसके कारण वह कर्म-पुद्गलों के अधीन हो जाता है अपनी शक्ति और स्वरूप को भूल जाता है। परन्तु जिस क्षण वह अपने स्वरूप और अनन्त शक्ति को पहचान लेता है, उसे स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है, उसी क्षण वह कर्मपुद्गलों के चंगुल से छूट जाता है, फिर वह बन्धनबद्ध नहीं रहता।

निश्चय-सम्यग्दर्शन : कब, क्या, कैसे ?

निश्चय-सम्यक्त्व तब होता है, जब अनन्तानुबन्धी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ, तथा (५) मिथ्यात्वमोहनीय (६)

सम्यक्त्वमोहनीय और (७) मिश्रमोहनीय, मोहकर्म की इन ७ प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम हो जाना है।

शुद्धजीव (आत्मा) का अनुभव—निश्चय हो जाना निश्चय-सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्मा (जीव) के अनुभव को रोकने वाला मोहनीय कर्म प्रागमोर मे दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय) औ अनन्तानुबन्धी (कषाय) कर्म है। इसलिए दर्शनमोहनीय (त्रिक) कर्म औ अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने से शुद्ध आत्म का अनुभव, साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण होता है। इस आत्मानुभव को स्वरूपाचरण चारित्र कहा गया है। यह स्वरूपाचरण चारित्र या आत्मानुभ ही निश्चय-सम्यग्दर्शन का हार्द है।

निश्चय-सम्यग्दर्शन को पहिचानने के लक्षण ये हैं—'आत्मा को अ आत्मतत्त्व का भान हो जाता है, अर्थात्—आत्मा—अनात्मा (चेतन-ज या जीव-अजीव) का भेदविज्ञान हो जाता है। आत्मा जब अनादि सुषु अवस्था से जागृत होकर अपना वास्तविक स्वरूप पहचान जाता है, त पर-पदार्थों से मोह छूटने लगता है, स्व-स्वरूप में रमण होने लगता है धीरे-धीरे देह में रहते हुए भी देहाध्यास छूट जाता है।'

निश्चय-सम्यग्दर्शन की स्थिति को समझने के लिए एक रूप लीजिए—एक बार एक गडरिया भेड़-बकरियाँ चराने के लिए जंगल गया। सन्ध्या के झुटपुटे में जब वह भेड़ों को गाँव की ओर वापस लौ रहा था, तभी उसने एक झाड़ी के पास एक सिंह-शिशु को बैठे देखा। उसकी माँ (शेरनी) उस समय वहाँ नहीं थी। उसने करुणावश ब को उठा लिया और भेड़-बकरियों के साथ उसे भी रख लिया। उसको दू पिला-पिलाकर बड़ा किया। सिंह का बच्चा भी अपने वास्तविक स्व और शक्ति को न जानने के कारण भेड़ बकरियों की तरह ही सब चेष्टा करने लगा, उन्हीं की तरह खाता-पीता, सोता और चलता था।

एक बार जिस जंगल में भेड़-बकरियाँ और वह सिंह-शिशु विचर कर रहे थे, उसी जंगल में एक बब्बर शेर आ गया। उसने जोर से गर्जन की, जिसे सुनकर सभी भेड़-बकरियाँ भयभीत होकर भाग खड़ी हुईं, उन साथ वह सिंह-शिशु भी भाग गया।

एक दिन वह सिंह-शिशु उन भेड़-बकरियों के साथ नदी के कि पानी पी रहा था, तभी अचानक अपनी परछाईं पानी में देखकर सो

लगा—'मेरा आकार और रंगरूप तो मेरे इन साथियों से मिलता ही नही, दूसरी तरह का है, जैसा कि गर्जना करने वाले उस शेर का था। क्या मैं भी उसकी तरह गर्जना कर सकता हूँ ?' यह सोचकर उसने अपनी पूरी ताकत लगाकर जोर से गर्जना की। उसकी गर्जना सुनते ही भेड-बकरियाँ इधर-उधर भाग गई। वह सिंह-शिशु अकेला ही रह गया। अब उसकी समझ मे आया कि 'मैं तो प्रचण्ड शक्ति का धनी वनराज हूँ, ये सब मेरे से डरते है।' अतः वह अब अकेला ही निर्भय होकर वन मे रहने लगा।

आत्मा भी सिंह-शिशु के समान है, वह भी पुद्गल-पर्यायो के साथ रहते-रहते पुद्गलमय बन गया, अपने शरीर को ही आत्मा तथा अपना स्वरूप समझने लगा। शरीर के उत्पन्न होने को अपना जन्म और शरीर छूटने को ही अपनी मृत्यु मानने लगा। वह पौद्गलिक पर्यायो मे अपनापन मानने लगा। किन्तु जब उसकी मोह-मूर्च्छा दूर हुई, अपने शुद्धस्वरूप और बल का भान हुआ, तब पुन सिंह-शिशु की तरह अपने असली स्वरूप को पहचान गया तथा स्वतन्त्र विचरण करने लगा।

शुद्ध आत्मा का यह अनुभव बिना किसी उपाधि या उपचार के होता है, इसलिए निश्चय-सम्यग्दर्शन भेदरहित, एक ही प्रकार का है। निश्चय-सम्यग्दर्शन वाला अपना आदर्श स्वय होता है, अपनी ही विशुद्ध आत्मा को वह देव, उसी को गुरु और उसी को स्वाभाविक परिणति को धर्म मानता है। अथवा अरिहत और सिद्ध मे जो ज्ञानस्वरूप निश्चल आत्मद्रव्य है, उसी को वह शुद्धदेव मानता है, तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु मे जो उनका शुद्ध आत्मा है, उसे ही शुद्धगुरु जानना है, तथा रत्नत्रय मे एक—अभेद रत्नत्रयमयी स्वात्मानुभूति को ही शुद्धधर्म मानता है। उसे ऐसा दृढ विश्वास हो जाता है कि मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञान-दर्शन-सुखमय है। पर-भाव मे राग-द्वेषादि ही बन्धन का तथा स्व-स्वभाव मे रमण ही मोक्ष का हेतु है। इस प्रकार आत्मकेन्द्रित हो जाना ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

वास्तव मे जिसे निश्चय-सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, वही सच्चे देव, गुरु और धर्म को पहचानता है, वही अपनी आत्मा को जानता है, उसकी रुचि एकमात्र स्वात्मानुभूति मे होती है, वही उसे देव, गुरु और धर्म में भी प्रतिभासित होती है।

इसीलिए प्रश्नव्याकरणसूत्र में निश्चय-सम्यक्त्व का लक्षण बताया है—

मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमादिसमुत्थे विशुद्धजीवपरिणामे सम्यक्त्वम्।

"मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न जीव के विशु
परिणामों को (निश्चय) सम्यक्त्व कहते है।"

शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प परिणति ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

यथार्थ निश्चय-सम्यग्दर्शन जिसके होता है, वह शुद्ध आत्मा
शक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसको आत्मा के निर्दोष एवं स्वाभाविक सु
का स्वाद अनुभव मिल जाता है। उसे आत्मिक आनन्द अमृततुल्य अ
विषय-सुख विषवत् प्रतीत होता है।

ऐसा सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है, सत्य स्वरूप है, और आत्मप्रदेशों
परिणमन करने वाला है। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार अँधेरे का न
हो जाता है, सब दिशाएँ निर्मल लगने लगती है, उसी प्रकार निश्च
सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होते ही आत्मा प्रकाश से भर जाता है। निश्च
सम्यग्दृष्टि पर-पदार्थावलम्बी नहीं, किन्तु स्व-भावावलम्बी होता है, प्रि
धर्मी और दृढ़धर्मी होता है। उसका व्यवहार निर्दोष होता है। कोई
देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि उसे सम्यग्दर्शन
विचलित नहीं कर सकता। जैसे अर्हन्नक और कामदेव श्रमणोपासक अ
सम्यक्त्व पर दृढ़ रहे, सम्यक्त्व की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, देवों को
उनके समक्ष हार माननी पड़ी।

व्यवहार-सम्यक्त्व के बिना निश्चय-सम्यक्त्व सम्भव नहीं

किन्तु एक बात निश्चित है कि आत्मस्वरूप का विशिष्ट प्रका
दृढ़ निश्चय तब तक नहीं हो सकता, जब तक आत्मा और कर्मों के सम्ब
से जिन तत्त्वों की सृष्टि हुई है, उनके प्रति तथा उनके उपदेष्टा देव, शा
और गुरुओं के प्रति दृढ़ श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी आ
श्रद्धान के कारण है। इन पर श्रद्धान हुए बिना, इनके द्वारा बताए हुए त
पर श्रद्धान नहीं हो सकता। और इनके बताये हुए तत्त्वों पर श्रद्धान-नि
हुए बिना आत्मा की ओर उन्मुखता, उसकी पहिचान, और विनिश्च
सम्भव ही नहीं है। इसीलिए पंचास्तिकाय में व्यवहार-सम्यक्त्व को सम्य
क्त्व के विनिश्चय का बीज बताते हुए कहा है—

"ऐसा मिथ्यादर्शनोदयापादिताशेषश्रद्धानाभावस्वभाव भावान्तर श्रद्धान सम्यग्
दर्शनं व्यवहारसम्यक्त्वं निश्चय बीजम्।"

"उन भावों (नौ पदार्थों) का, मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होने वाला जो अश्रद्धान, उसके अभाव-स्वभाव वाला जो भावान्तर यानी (नौ पदार्थों पर) श्रद्धान है, यह (व्यवहार) सम्यग्दर्शन है जो कि शुद्धचैतन्य-रूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय (निश्चय-सम्यग्दर्शन) का बीज है।"

सम्यग्दर्शन के दोनों रूपों का सन्तुलन आवश्यक

इसीलिए यह निश्चित है कि निश्चय-सम्यग्दर्शन साध्य (लक्ष्य) है, और व्यवहार-सम्यग्दर्शन उस निश्चय-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए साधन है। अतः जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को प्राप्त करना चाहता है वह विवेकमूढ़ बीज, खेत, पानी आदि के बिना ही अन्न उत्पन्न करना चाहता है। जैसे केवल निश्चय ठीक नहीं है, वैसे केवल व्यवहार भी अच्छा नहीं, दोनों का समन्वय और सन्तुलन अभीष्ट है।

यद्यपि व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, तथापि इसे सर्वथा निषिद्ध नहीं माना गया। धर्म के पहले सोपान पर पैर रखने के लिए व्यक्ति को व्यवहार-सम्यग्दर्शन का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। जैसे नट एक रस्सी पर स्वच्छन्दतापूर्वक चलने के लिए पहले-पहल बाँस का सहारा लेता है, किन्तु जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है, तब बाँस का सहारा छोड़ देता है, इसी प्रकार धीर मुमुक्षु को निश्चय की सिद्धि के लिए पहले व्यवहार का अवलम्बन लेना पड़ता है। जब निश्चय में निरालम्बनपूर्वक रहने में समर्थ हो जाता है तब व्यवहार स्वयमेव छूट जाता है। व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि सम्भव ही नहीं है। फिर भी व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्ष्य निश्चय-सम्यग्दर्शन होना चाहिए। जैसे किसी ऊपर की मंजिल तक जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ना आवश्यक होता है, मंजिल तक पहुँचने पर सीढ़ियाँ अपने आप पीछे छूट जाती हैं वैसे ही व्यवहार-सम्यक्त्व सीढ़ी है और निश्चय-सम्यक्त्व मंजिल है।

नदी के उस पार जाने के लिए जैसे नाव का सहारा आवश्यक है, यात्री नाव का आश्रय तब तक लेता है जब तक किनारा नहीं आ जाता। इसी प्रकार व्यवहार-सम्यक्त्व नाव है और निश्चय-सम्यक्त्व किनारा। किनारा आने पर नाव सहज रूप में छूट जाती है। यही स्थिति व्यवहार-सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व में आने की है।

मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमादिसमुत्थे विशुद्धजीवपरिणामे सम्यक्त्वम्।

"मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न जीव के विशुद्ध परिणामों को (निश्चय) सम्यक्त्व कहते हैं।"

शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प परिणति ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

यथार्थ निश्चय-सम्यग्दर्शन जिसके होता है, वह शुद्ध आत्मा की शक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसको आत्मा के निर्दोष एवं स्वाभाविक सुख का स्वाद अनुभव मिल जाता है। उसे आत्मिक आनन्द अमृततुल्य और विषय-सुख विषवत् प्रतीत होता है।

ऐसा सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है, सत्य स्वरूप है, और आत्मप्रदेशों में परिणमन करने वाला है। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार अँधेरे का नाश हो जाता है, सब दिशाएँ निर्मल लगने लगती हैं, उसी प्रकार निश्चय-सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होते ही आत्मा प्रकाश से भर जाता है। निश्चय-सम्यग्दृष्टि पर-पदार्थावलम्बी नहीं, किन्तु स्व-भावावलम्बी होता है, प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी होता है। उसका व्यवहार निर्दोष होता है। कोई भी देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि उसे सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं कर सकता। जैसे अर्हन्नक और कामदेव श्रमणोपासक अपने सम्यक्त्व पर दृढ़ रहे, सम्यक्त्व की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, देवों को भी उनके समक्ष हार माननी पड़ी।

व्यवहार-सम्यक्त्व के बिना निश्चय-सम्यक्त्व सम्भव नहीं

किन्तु एक बात निश्चित है कि आत्मस्वरूप का विशिष्ट प्रकार से दृढ़ निश्चय तब तक नहीं हो सकता, जब तक आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से जिन तत्त्वों की सृष्टि हुई है, उनके प्रति तथा उनके उपदेष्टा देव, शास्त्र और गुरुओं के प्रति दृढ़ श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी आत्म-श्रद्धान के कारण हैं। इन पर श्रद्धान हुए बिना, इनके द्वारा बताए हुए तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं हो सकता। और इनके बताये हुए तत्त्वों पर श्रद्धान-निश्चय हुए बिना आत्मा की ओर उन्मुखता, उसकी पहिचान, और विनिश्चय सम्भव ही नहीं है। इसीलिए पंचास्तिकाय में व्यवहार-सम्यक्त्व को आत्म-तत्त्व के विनिश्चय का बीज बताते हुए कहा है—

"तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम्।"

"उन भावों (नौ पदार्थों) का, मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होने वाला जो अश्रद्धान, उसके अभाव-स्वभाव वाला जो भावान्तर यानी (नौ पदार्थों पर) श्रद्धान है, वह (व्यवहार) सम्यग्दर्शन है, जो कि शुद्धचैतन्य-रूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय (निश्चय-सम्यग्दर्शन) का बीज है।"

सम्यग्दर्शन के दोनों रूपों का संतुलन आवश्यक

इसीलिए यह निश्चित है कि निश्चय-सम्यग्दर्शन साध्य (लक्ष्य) है, और व्यवहार-सम्यग्दर्शन उस निश्चय-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए साधन है। अत जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को प्राप्त करना चाहता है वह विवेकमूढ बीज, खेत, पानी आदि के बिना ही अन्न उत्पन्न करना चाहता है। जैसे केवल निश्चय ठीक नही है, वैसे केवल व्यवहार भी अच्छा नही, दोनों का समन्वय और सन्तुलन अभीष्ट है।

यद्यपि व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, तथापि इसे सर्वथा निषिद्ध नही माना गया। धर्म के पहले सोपान पर पैर रखने के लिए व्यक्ति को व्यवहार-सम्यग्दर्शन का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। जैसे नट एक रस्सी पर स्वच्छन्दतापूर्वक चलने के लिए पहले-पहल बांस का सहारा लेता है, किन्तु जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है, तब बांस का सहारा छोड देता है, इसी प्रकार धीर मुमुक्षु को निश्चय की सिद्धि के लिए पहले व्यवहार का अवलम्बन लेना पड़ता है। जब निश्चय मे निरालम्बनपूर्वक रहने मे समर्थ हो जाता है तब व्यवहार स्वयमेव छूट जाता है। व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि सम्भव ही नहीं है। फिर भी व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्ष्य निश्चय-सम्यग्दर्शन होना चहिए। जैसे किसी ऊपर की मंजिल तक जाने के लिए सीढियाँ चढना आवश्यक होता है, मंजिल तक पहुँचने पर सीढ़ियाँ अपने आप पीछे छूट जाती है वैसे ही व्यवहार-सम्यक्त्व सीढी है और निश्चय-सम्यक्त्व मंजिल है।

नदी के उस पार जाने के लिए जैसे नाव का सहारा आवश्यक है, यात्री नाव का आश्रय तब तक लेता है जब तक किनारा नहीं आ जाता। इसी प्रकार व्यवहार-सम्यक्त्व नाव है और निश्चय-सम्यक्त्व किनारा। किनारा आने पर नाव सहज रूप में छूट जाती है। यही स्थिति व्यवहार-सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व मे आने की है।

मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमादिसमुत्थे विशुद्धजीवपरिणामे सम्यक्त्वम्।

"मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न जीव के विशुद्ध परिणामों को (निश्चय) सम्यक्त्व कहते हैं।"

शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प परिणति ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

यथार्थ निश्चय-सम्यग्दर्शन जिसके होता है, वह शुद्ध आत्मा की शक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसको आत्मा के निर्दोष एवं स्वाभाविक सुख का स्वाद अनुभव मिल जाता है। उसे आत्मिक आनन्द अमृततुल्य और विषय-सुख विषवत् प्रतीत होता है।

ऐसा सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है, सत्य स्वरूप है, और आत्मप्रदेशों में परिणमन करने वाला है। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार अँधेरे का नाश हो जाता है, सब दिशाएँ निर्मल लगने लगती हैं, उसी प्रकार निश्चय-सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होते ही आत्मा प्रकाश से भर जाता है। निश्चय-सम्यग्दृष्टि पर-पदार्थावलम्बी नहीं, किन्तु स्व-भावावलम्बी होता है, प्रियधर्मी और दृढधर्मी होता है। उसका व्यवहार निर्दोष होता है। कोई भी देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि उसे सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं कर सकता। जैसे अर्हन्नक और कामदेव श्रमणोपासक अपने सम्यक्त्व पर दृढ़ रहे, सम्यक्त्व की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, देवों को भी उनके समक्ष हार माननी पड़ी।

व्यवहार-सम्यक्त्व के बिना निश्चय-सम्यक्त्व सम्भव नहीं

किन्तु एक बात निश्चित है कि आत्मस्वरूप का विशिष्ट प्रकार से दृढ़ निश्चय तब तक नहीं हो सकता, जब तक आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध में जिन तत्त्वों की सृष्टि हुई है, उनके प्रति तथा उनके उपदेष्टा देव, शास्त्र और गुरुओं के प्रति दृढ़ श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी आत्म-श्रद्धान के कारण हैं। इन पर श्रद्धान हुए बिना, इनके द्वारा बताए हुए तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं हो सकता। और इनके बताये हुए तत्त्वों पर श्रद्धान-विश्वास हुए बिना आत्मा की ओर उन्मुखता, उसकी पहिचान, और विनिश्चय सम्भव ही नहीं है। इसीलिए पंचास्तिकाय में व्यवहार-सम्यक्त्व को आत्म-तत्त्व के विनिश्चय का बीज बताते हुए कहा है—

"[illegible]

[illegible]।"

आचार्य पूज्यपाद ने वीतराग सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है—

'आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्'[1]

"वीतराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है—आत्मविशुद्धि मात्र।"

राजवार्तिक में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

"सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते"[2]

"दर्शनमोहनीय की सातों प्रकृतियों का आत्यन्तिक (सर्वथा) क्षय हो जाने पर जो आत्मविशुद्धि मात्र प्रकट होती है, वह वीतराग-सम्यक्त्व कहलाता है।"

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन में अन्तर

प्रश्न हो सकता है—सम्यग्दर्शन के होने पर देव, गुरु और धर्म (या शास्त्र) में शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है, अतः सम्यग्दर्शन को शुभराग का कारण क्यों नहीं माना जाए?

इसका उत्तर यह है कि ऐसा कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से पहले भी उस जीव में राग पाया जाता था, सम्यग्दर्शन के प्रकट होने से एक तो उसमें राग की कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया। पहले जहाँ वह स्त्री-पुत्रादि के मोह में पड़ा रहता था, वहाँ अब वह आत्म-विकास एवं आत्महित के कारणों के प्रति राग (प्रशस्त राग) करने लगा। जैसा कि भगवती आराधना में दोनों सम्यग्दर्शनों का अन्तर बताते हुए कहा है—

तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनम्।
रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनम्॥[3]

"प्रशस्त रागसहित जीवों का श्रद्धान सराग-सम्यग्दर्शन है, जबकि प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के रागों का जिनमें सर्वथा अभाव है, और जिनके मोहावरण क्षीण हो चुके हैं, उनके सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं।"

---

१. सर्वार्थसिद्धि १।२।१०।२

२. राजवार्तिक १।२।३१।२२।११.

३. भगवती आराधना, वि० १५

भेदों में सरागता और वीतरागता का कारण होने की दृष्टि से भेद करना होगा। इन तीनों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थान तक ही रहता है और उसमें सम्यक्त्वप्रकृति का उदय भी रहता है, किन्तु शेष दो सम्यक्त्व दसवें गुणस्थान तक सराग अवस्था में भी पाये जाते हैं, और उससे ऊपर वीतराग-अवस्था में भी पाये जाते हैं। अतः प्रश्न होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनों को सरागता का कारण माना जाए या वीतरागता का या दोनों का ?

दोनों को सरागता का कारण तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन को सरागता का कारण माना जाएगा तो वीतरागी क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान वालों तथा सयोगिकेवलियों, अयोगिकेवलियों और यहाँ तक कि सिद्धों को भी सराग मानना पड़ेगा। क्योंकि उनके भी क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अब रहा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, इसमें दर्शनमोहनीय का उपशम रहता है, इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होने से इसे राग का कारण माना जाएगा तो ११वें गुणस्थान को वीतराग छद्मस्थान मानकर सराग छद्मस्थ मानना पड़ेगा। कदाचित् यह कहें कि ११वें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय की सहायता न मिलने से उपशमसम्यक्त्व राग का कारण नहीं है, तब चारित्रमोहनीय को ही राग का कारण क्यों नहीं मान लेते ? सम्यग्दर्शन को, जिसे प्रति समय असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण बतलाया है, राग का कारण कैसे माना जा सकता है। अतः क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व को भी सरागता का कारण नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष यह कि सम्यग्दर्शन राग का कारण है ही नहीं।

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन के लक्षण

आचार्य अमितगति ने सराग-सम्यग्दर्शन और वीतराग-सम्यग्दर्शन का लक्षण इस प्रकार किया है—

संवेग-प्रशमास्तिक्यकारुण्य व्यक्तलक्षणम्।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षा लक्षणं परम् ॥[1]

"प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और कारुण्य, इन प्रकट लक्षणों वाला सम्यग्दर्शन सराग और इससे विपरीत उपेक्षा अर्थात् वीतरागता लक्षण वाला वीतराग-सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।"

---

१ अमितगति श्रावकाचार २।६६

आचार्य पूज्यपाद ने वीतराग सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है—

'आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्'[1]

"वीतराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है—आत्मविशुद्धि मात्र।"

राजवार्तिक में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

"सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते"[2]

"दर्शनमोहनीय की सातो प्रकृतियो का आत्यन्तिक (सर्वथा) क्षय हो जाने पर जो आत्मविशुद्धि मात्र प्रकट होती है, वह वीतराग-सम्यक्त्व कहलाता है।"

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन मे अन्तर

प्रश्न हो सकता है—सम्यग्दर्शन के होने पर देव, गुरु और धर्म (या शास्त्र) में शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है, अतः सम्यग्दर्शन को शुभराग का कारण क्यो नही माना जाए?

इसका उत्तर यह है कि ऐसा कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से पहले भी उस जीव में राग पाया जाता था, सम्यग्दर्शन के प्रकट होने से एक तो उसमे राग की कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया। पहले जहाँ वह स्त्री-पुत्रादि के मोह में पडा रहता था, वहाँ अब वह आत्म-विकास एव आत्महित के कारणों के प्रति राग (प्रशस्त राग) करने लगा। जैसा कि भगवती आराधना में दोनो सम्यग्दर्शनों का अन्तर बताते हुए कहा है—

तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनम्।
रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनम्॥[3]

"प्रशस्त रागसहित जीवो का श्रद्धान सराग-सम्यग्दर्शन है, जबकि प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के रागो का जिनमें सर्वथा अभाव है, और जिनके मोहावरण क्षीण हो चुके है, उनके सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्-दर्शन कहते हैं।"

---

१. सर्वार्थसिद्धि १।२।१०।२
२ राजवार्तिक १।२।३१।२२।११
३ भगवती आराधना, वि० ५१

इसके अतिरिक्त सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन में अन्तर बताते हुए समयसार तात्पर्यवृत्ति में कहा है —

'सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्म कर्तृत्वं मुञ्चति, निश्चयचारित्राविनाभावि-वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति।'[1]

'अर्थात्—सराग सम्यग्दृष्टि होकर केवल अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है (शुभ कर्म के कर्तृत्व को नहीं), जबकि निश्चय-चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर वह शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के कर्तृत्व को छोड़ देता है।"

इन दोनों सम्यग्दर्शनों में अन्य प्रकार से अन्तर स्थानांग और प्रज्ञापनासूत्र में सराग-सम्यग्दर्शन के लक्षण और उसके १० प्रकार बताते हुए प्रतिपादित किया गया है, जो इस प्रकार है—"जिस जीव के मोहनीय कर्म उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है, उसकी तत्त्वार्थ श्रद्धा को सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके निसर्गरुचि से लेकर धर्मरुचि तक दस भेद हैं।'[2]

अमितगति श्रावकाचार में इन दोनों के अन्तर को प्रकट करते हुए कहा है—

'विराग क्षायिकं तत्र सरागमपरद्वयम्।'[3]

"इन दोनों में वीतराग सम्यग्दर्शन क्षायिक है और शेष दो औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सराग है।"

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण समान

तात्पर्य यह है कि विशिष्ट आत्मस्वरूप श्रद्धान जैसा सरागी जीवों में होता है, वैसा ही वीतरागी जीवों में होता है। दोनों के श्रद्धान में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है - अभिव्यक्ति में। सरागी जीवों में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव से होती है और वीतरागी जीवों में आत्मविशुद्धि मात्र से।

ये प्रशमादि एक-एक या सब अपने में स्वसंवेदन के द्वारा और दूसरों

---

१ समयसार—तात्पर्यवृत्ति १७।१२५।१३।

२ (क) स्थानांग सूत्र, स्था० १०, सू० १०४।

(ख) प्रज्ञापना सूत्र, पद १।

(ग) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भा० ३, पृष्ठ ३६६।

में शरीर और वचन के व्यवहाररूप विशेष लिंग के द्वारा अनुमित होकर सराग-सम्यग्दर्शन को सूचित करते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यादृष्टियों में ये नहीं पाये जाते ।

व्यवहार एवं निश्चय के साथ इन दोनों की एकार्थता

द्रव्यसंग्रह की टीका में इन दोनों सम्यग्दर्शनों की व्यवहार एवं निश्चय के साथ एकार्थता बताते हुए कहा है—

शुद्धजीवादि तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। .... वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यम्।[1]

"शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप सराग-सम्यक्त्व को व्यवहार-सम्यग्दर्शन जानना चाहिए और वीतरागचारित्र के बिना न होने वाले वीतराग-सम्यग्दर्शन को निश्चय-सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।"

इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों में मतभेद है, उनका कहना है कि वीतराग-सम्यग्दर्शन के साथ वीतरागचारित्र का होना अवश्यम्भावी मानते हैं, तब तो अनेक आपत्तियाँ आएँगी। गृहस्थ-अवस्था में तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, राम, पाण्डव, श्रेणिक राजा आदि के 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है', इस प्रकार की रुचिरूप निश्चय-सम्यक्त्व तो था, किन्तु उनके वीतराग चारित्र (यथाख्यात-चारित्र) नहीं था, वे उस समय संयमी साधु भी नहीं बने थे, अतः यह पूर्वापर-विरोध आता है। इसलिए वीतराग-चारित्र के साथ निश्चय-सम्यग्दर्शन की व्याप्ति इस प्रकार तो हो सकती है कि जहाँ-जहाँ वीतरागचारित्र है, वहाँ-वहाँ निश्चय-सम्यग्दर्शन है ही, किन्तु जहाँ-जहाँ निश्चय-सम्यग्दर्शन है, वहाँ-वहाँ वीतरागचारित्र ही है, ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती।

वास्तव में सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबन्धी कषाय की ४, इन सात कर्मप्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होता है। यह आत्मा के श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। यह चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है, इसलिए चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रारम्भ हो जाता है, इसमें पूर्वोक्त रूप से आंशिक वीतरागत्व प्रकट हो जाने के कारण इसे इस अपेक्षा से वीतराग-सम्यग्दर्शन कहा गया है।

---

१ द्रव्यसंग्रह टीका ४१।१७७।१२

सराग और वीतराग सम्यक्त्व मे कथंचित् एकत्व

तात्त्विक दृष्टि से सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन में कोई
अन्तर नही है, बल्कि दोनों मे कथचित् एकत्व है। सराग और वी
दोनों ही सम्यग्दर्शनो के स्वामी दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से रहि
है। अतः दर्शनमोहनीयरहित आत्मा के द्वारा तत्त्व के रूप में निर्णी
(तत्त्वार्थ) का श्रद्धान होता है, वह एक-सा ही होता है। 'तत्त्वार्थ
सम्यग्दर्शनम्' यह लक्षण सराग और वीतराग दोनो ही सम्यग्दर्शनों में
होता है। दोनो में चारित्रपर्यायो की न्यूनाधिकता हो सकती है,
पर्यायो की नही। अतः इस दृष्टि से इन दोनों सम्यग्दर्शनो में
एकत्व है।

दोनों में ज्ञानचेतना होती है

कई दार्शनिक कहते है कि ज्ञानचेतना केवल वीतराग-निर्वि
सम्यग्दृष्टि के ही होती है, सविकल्पक सराग-सम्यग्दृष्टि के नही,
यह कथन युक्तिसगत नही है। जैसे अग्नि और उष्णता दोनो एक है
को पृथक् नही किया जा सकता, वैसे ही आत्मा और ज्ञान दोनो
ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, गुण है, उसे गुणी आत्मा से पृ
करेंगे ? इसलिए स्वसंवेदन द्वारा वीतरागत्व प्रत्यक्ष होने के बा
विकल्प के सद्भाव के कारण छठे गुणस्थान तक ज्ञानचेतना नही
यह भी ठीक नही। वहाँ सराग-सम्यग्दृष्टि के चारित्र सम्बन्धी
दोष है, उसे सम्यग्दर्शन मे लगा देना युक्तियुक्त नहीं। इसलिए इ
सम्यग्दर्शनो में ज्ञानचेतना होती ही है, इनमें तात्त्विक भेद मानना
नही।

दोनों सम्यग्दर्शनों के लिए क्या आवश्यक है ?

आशय यह है कि वस्तुतः क्षायिक सम्यग्दृष्टि वीतराग-सम
ही है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का बाधक तत्त्व जो दर्शनमोहनीय कर्म है
क्षय से वह निष्पन्न होता है, चारित्रमोहनीय का क्षय होना
सम्यग्दृष्टि के लिए आवश्यक नहीं है। अन्यथा, चतुर्थ गुणस्थान में
सम्यग्दर्शन किसी को होगा ही नहीं, किन्तु होता अवश्य है। प
गुरु, धर्म आदि के प्रति भक्ति शुभराग मे परिणत होने के कारण
सम्यग्दृष्टि माना जाता है, वहाँ वह औपशमिक या क्षायोपशमिक
सम्यग्दृष्टि भी होता है।

३. सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेद : विविध अपेक्षाओं से

रुचियों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दस भेद

मनुष्य स्वतन्त्रताप्रिय है। जीवन की स्वतन्त्र इच्छा का ना
या तन्मयता है। धवला में दृष्टि, श्रद्धा, प्रत्यय (निश्चय) आदि शब्द
पर्यायवाची बताये गये हैं। हिन्दी में रुचि को 'दिलचस्पी' या 'पसन्द
कहते हैं। जो चीज जिसे पसन्द होती है, अच्छी लगती है, उसमें
व्यक्ति की रुचि या दिलचस्पी होती है। उसी रुचि के अनुरूप
कार्य करता है। जीवों की रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की मुख्यतः दस प्रक
रुचियाँ श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में वर्णित हैं। दिगम्बर पर
भी कुछ नामों में अन्तर के साथ दस प्रकार का सम्यक्त्व बताया ग
इन मुख्य रुचियों के भेद के आधार पर सम्यग्दर्शन भी दस प्र
बताया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न क्रम से सम्यग्दृष्टि
रुचियों का वर्णन है—

> निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुइमेव।
> अभिगम वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥[1]

सम्यग्दर्शन के दस प्रकार हैं—(१) निसर्गरुचि, (२) उपदे

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २८।१६।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ६३।
(ग) स्थानांग सूत्र, स्थान १०, उ० ३, सूत्र ७५१।

(३) आज्ञारुचि, (४) सूत्ररुचि, (५) बीजरुचि, (६) अभिगमरुचि, (७) विस्ताररुचि, (८) क्रियारुचि, (९) संक्षेपरुचि और (१०) धर्मरुचि।

इनका स्वरूप आगम के अनुसार क्रमश इस प्रकार है—

(१) निसर्गरुचि—निसर्ग यानी स्वाभाविक रूप से तत्त्वाभिलाषारूप रुचि को 'निसर्गरुचि' कहते हैं। आशय यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर गुरु आदि किसी भी दूसरे के उपदेश के बिना जातिस्मरण, प्रातिभ (स्वप्रतिभाजनित) आदि ज्ञान द्वारा, अपनी बुद्धि या सहसम्मति—अपने ही यथार्थबोध से तत्त्वभूत पदार्थों के रूप में अवगत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की जो रुचि (श्रद्धा) होती है, वह निसर्गरुचि (सम्यग्दर्शन) है।

अथवा जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट या दृष्ट भावों (तत्त्वभूत पदार्थों) पर, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (इन चार निक्षेपों) से विशिष्ट पदार्थों के विषय में—'यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं' इस प्रकार की स्वत स्फूर्त श्रद्धा को निसर्गरुचि समझना चाहिए।[1]

निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के हृदय में स्वाभाविक रूप से सत्यतत्त्व के प्रति उत्पन्न होने वाली स्वत सहज श्रद्धा निसर्गरुचि है।

(२) उपदेशरुचि—वीतराग तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित अथवा छद्मस्थ वीतराग-शिष्यों—गुरुओं आदि के उपदेश से जीवादि भावों (तत्त्वों) पर श्रद्धान करना 'उपदेशरुचि' कहलाता है।

(३) आज्ञारुचि—जिनके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गये हैं, उनकी आज्ञा (सर्वज्ञवचनरूप) में रुचि रखना 'आज्ञारुचि' है।

जिनके राग-द्वेष एवं कषायों की मन्दता हो जाती है, मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है, उन आचार्य आदि की आज्ञा मात्र से हठाग्रह के अभाव में 'जीवादि पदार्थ वैसे ही हैं' इस प्रकार की *श्रद्धा या तन्मयता (माषतुषादि* की तरह) हो जाती है, उस रुचि को भी 'आज्ञारुचि' कहते हैं।

(४) सूत्ररुचि—जो अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट श्रुत (सूत्र-शास्त्र) का अध्ययन (अवगाहन) करता हुआ, उसी शास्त्र में तन्मयता से सम्यक्त्व प्राप्त

१ (क) उत्तराध्ययन, अ० २८ गा० १७-१८।
(ख) अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ७, पृष्ठ ४८४, ५०७।

कर लेता है, या जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान कर लेता है, उसे 'सूत्ररुचि' कहते हैं।

(५) बीजरुचि—जैसे जल की सतह पर तेल की बूँद फैल जाती है, एक बीज बोने से सैकड़ों बीजों की प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही क्षयोपशम के बल से जहाँ जीव आदि एक ही पद, पदार्थ या दृष्टान्त से स्वत: अनेक पद, हेतु, पदार्थों या दृष्टान्तों का प्रतिबोधक होकर उनमें रुचि, श्रद्धा हो जाती है, अथवा एक पद (तत्त्व) का बोध अनेक पदों (के बोध) में फैल जाता है, वहाँ 'बीजरुचि' सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।

(६) अभिगम (अधिगम) रुचि—अधिगम का अर्थ है—विशिष्ट परिज्ञान, उसके निमित्त से रुचि या श्रद्धा होना 'अधिगमरुचि' है।

अथवा जिसमें अभिगम—आचारांग आदि श्रुतज्ञान अर्थतः अधिगत हो जाता है, उस रुचि को 'अभिगमरुचि' कहते हैं। अथवा ग्यारह अंग, दृष्टिवाद तथा दूसरे प्रकीर्णक आदि श्रुतज्ञान सिद्धान्त अर्थसहित पढ़कर रुचि—श्रद्धा करना या तन्मय हो जाना 'अभिगमरुचि' है।

(७) विस्ताररुचि—द्रव्यों के सभी भावों को समस्त प्रमाणों और नयों से विस्तारपूर्वक जानकर उन पर श्रद्धा (रुचि) करना 'विस्तार रुचि' है।

(८) क्रियारुचि—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, पंच समिति, तीन गुप्ति आदि के आचारों (अनुष्ठानों या क्रियाओं) में भाव से रुचि होना—लीन हो जाना 'क्रियारुचि' है।

(९) संक्षेपरुचि—जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में अकुशल है, साथ ही मिथ्या प्रवचनों (अन्य मत-मतान्तरों या शास्त्रों—सिद्धान्तों) से भी अनभिज्ञ है किन्तु कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण अल्पबोध से ही जो तत्त्व-श्रद्धा (जीवादि पदार्थों) पर श्रद्धा रखता है,[1] वह 'संक्षेपरुचि' है। अथवा अधिक पढ़ा-लिखा न होने पर भी संक्षिप्त बोध से ही जो समतापूर्वक दृढ़ श्रद्धा रखता है, वह 'संक्षेपरुचि' है।

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र २८।१६-२६।
(ख) स्थानांग स्थान १०, सूत्र ७५१।
(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ६३।

(१०) धर्मरुचि—वीतरागप्ररूपित अस्तिकाय धर्म (धर्मास्तिकाय आदि अस्तिकायों के गुण-स्वभावादि धर्म) में तथा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में जो श्रद्धा रखता है, उन्हें यथार्थ मानता है, उसे 'धर्मरुचि' वाला समझना चाहिए।

ये दसों प्रकार की रुचियाँ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में निमित्त हैं। इसलिए इन दस रुचियों द्वारा सम्यग्दर्शन का वर्गीकरण कर दिया गया है तथा प्रत्येक रुचि सम्यक्त्व का कारण होने से उसे सम्यक्त्व कह दिया गया है।[1]

दशरुचिरूप सम्यग्दर्शन सराग-सम्यग्दर्शन है

स्थानांगसूत्र में इन दस रुचिरूप सम्यग्दर्शन को सराग-सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि रुचि एक प्रकार की इच्छा है, और इच्छा बिना राग के नहीं हो सकती। वीतराग पुरुषों में रुचि या इच्छा नहीं होती, इसलिए उनके सम्यग्दर्शन (वीतराग-सम्यग्दर्शन) को रुचिरूप नहीं बताया गया है। परन्तु जिन जीवों का मोहनीयकर्म उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है, उनकी तत्त्वार्थश्रद्धा रुचिरूप होती है। अतः सराग-सम्यग्दर्शन में ही इन दस रुचिरूप सम्यग्दर्शनों को परिगणित किया है। वहाँ का पाठ इस बात का साक्षी है—

> दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—
> निसग्गुवएसरुई आणरुई, सुत्तबीयरुइमेव।
> अभिगम—वित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई॥

"जिसका मोहनीय कर्म उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है, ऐसे सराग का सम्यग्दर्शन—तत्त्वार्थश्रद्धान, दस प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि सम्यग्दर्शन।[2]

दिगम्बर परम्परानुसार दशविध सम्यग्दर्शन

दिगम्बर परम्परा में इन दश भेदों के कुछ नामों में तो साम्य है, परन्तु वहाँ इन दस सम्यग्दर्शनों को रुचिरूप नहीं माना गया है तथा इनकी व्याख्या में भी कुछ अन्तर है।

देखिये 'सुदृष्टितरंगिणी' में इन दस सम्यग्दर्शनों के क्रमशः नाम—

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २८।१६-२७

२. स्थानांगसूत्र, स्थान १०, उ० ३, सूत्र ७५१।

> आणा मग्ग उवएसो, सुत्त बीज-संखेव वित्थारो।
> अत्थावगाढ परमावगाढं सम्मत्तं जिणभणियं दहभेयं ॥[1]

अर्थात्—जिनभाषित सम्यक्त्व दस प्रकार का है— (१) आज्ञा-सम्यक्त्व, (२) मार्ग-सम्यक्त्व, (३) उपदेश-सम्यक्त्व, (४) सूत्र-सम्यक्त्व (५) बीज-सम्यक्त्व, (६) संक्षेप-सम्यक्त्व, (७) विस्तार-सम्यक्त्व, (८) अर्थ-सम्यक्त्व, (९) अवगाढ़-सम्यक्त्व और (१०) महागाढ़ या परमावगाढ़-सम्यक्त्व।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इन दस सम्यग्दर्शनों को इच्छित माना गया है।

अब क्रमश इनके लक्षण[2] लीजिए—

(१) आज्ञा-सम्यक्त्व—दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थ-श्रवण या उपदेश-श्रवण के बिना अर्हन्त भगवान् सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा मात्र को मानकर उससे ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे आज्ञा-सम्यक्त्व आज्ञारुचि अथवा आज्ञोद्भव सम्यक्त्व कहते हैं।

कई अल्पबोध-प्राप्त सरल परिणामी जीव इस प्रकार की श्रद्धा करते हैं कि हम अल्पज्ञानी हैं, विशेष तत्त्वज्ञान का विश्लेषण करने की शक्ति नहीं है, परन्तु वीतराग सर्वज्ञदेव ने पदार्थों का जैसा स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह वैसा ही है अन्यथा नहीं। वही हमारे लिए प्रमाण है। इस प्रकार दृढ़श्रद्धापूर्वक वीतराग-प्रतिपादित पदार्थों पर शंकादि दोषरहित यथार्थ श्रद्धान करना आज्ञा-सम्यक्त्व है।

---

१. (क) सुदृष्टितरंगिणी, गा० ५।
(ख) अनगार धर्मामृत, अ० २।६२।
(ग) उपासकाध्ययन, कल्प० २१।२३४।
(घ) आत्मानुशासन, १२-१४।
(ङ) राजवार्तिक, ३।३६।२।२०१।१३।

२ (क) उपासकाध्ययन, कल्प० २१ श्लोक, २३४।
(ख) अनगार धर्मामृत अ० २।६२।
(ग) राजवार्तिक ३।३६।२।२०१।१३।
(घ) आत्मानुशासन, १२-१४।
(ङ) गुणभूषण श्रावकाचार, गा० १, पृष्ठ १४६।
(च) सुदृष्टितरंगिणी, गा० ५, पृ० १८।

आज्ञा-सम्यक्त्व का धारक भव्य जीव जिनोपदिष्ट आगम या उसकी आज्ञा को प्रमाण मानकर अपने विचार आगमानुरूप ही रखता है। जिनागम के अर्थ में कहीं शंका उत्पन्न होने पर वह तर्क करता है, परन्तु करता है—आगम के अनुकूल ही। उसे इस बात का दृढ़ निश्चय होता है कि सारे पदार्थ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होते, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कहा है, वह सर्वथा सत्य है। प्रबल युक्ति और और बौद्धिक चमत्कार से या भय, प्रलोभन या विस्मय से जिनागमविरुद्ध अर्थ को सत्य नहीं मानता, न ही अन्यथा श्रद्धान करता है।

(२) मार्ग-सम्यक्त्व—दर्शनमोह के उपशम होने से शास्त्राध्ययन या ग्रन्थ-श्रवण के बिना रत्नत्रयरूप कल्याणकारी मोक्षमार्ग पर रुचि या श्रद्धान होने को मार्ग-सम्यग्दर्शन या मार्गोद्भव सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्ष-मार्ग है, रत्नत्रय के बिना मोक्ष-मार्ग सम्भव नहीं है, ऐसा मोक्षमार्ग-कथन सुनकर दृढ़ श्रद्धा होती है, उसे मार्ग-सम्यग्दर्शन कहते हैं। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा आचरित रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को ही सत्यमार्ग समझकर, इससे भिन्न कोई भी मार्ग सत्य नहीं है, ऐसी दृढ़श्रद्धापूर्वक रत्नत्रय मार्ग में विश्वास करना भी मार्ग सम्यग्दर्शन है।

(३) उपदेश-सम्यक्त्व—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुषों के चरित (वृत्तान्त) के उपदेश को सुनने से जो तत्त्व-श्रद्धान होता है, उसे उपदेश-सम्यक्त्व कहते हैं। पुण्यपुरुषों के चरित्र सुनने से आत्मा के परिणाम विशुद्ध होते हैं, तीर्थंकरों के पंच-कल्याणकों की महिमा, चक्रवर्ती के वैभव आदि को सुनकर जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, उसे उपदेशोद्भव सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

(४) सूत्र-सम्यग्दर्शन—मुनियों के आचार का, दीक्षा आदि का निरूपण करने वाले आचारांग आदि शास्त्रों के श्रवण करने जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, उसे सूत्र-सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ श्रावकों के आचार का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों को सुनकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे भी सूत्र-सम्यक्त्व कहते हैं।

आचारशास्त्र में कथित मुनियों एवं श्रावकों के आचार, विचार, चर्या, मुनियों का घोर परीषहविजय, निःस्पृह चारित्र आदि तथा अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का वर्णन सुनने से व्यक्ति के हृदय में

श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह सम्यक्त्व ग्रहण करता है, उसे भी सूत्र-सम्यक्त्व कहते है। मुनियों की समता, नि:स्पृहता, क्षमा, परीषहविजय, पवित्र आचरण आदि देखकर जो अनेक व्यक्ति सम्यग्दर्शनी होते हैं, वे सूत्र-सम्यक्त्वी कहलाते है।

(५) बीज सम्यक्त्व—जीवादि पदार्थों का तथा गणितानुयोग का विषय-ज्ञान बहुत दुर्लभ है, किन्ही बीजपदो के द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव को जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उन बीज-सम्यक्त्व कहते हैं।

अथवा कार्मण वर्गणा और आत्मा के परिणामों की स्थिति आदि के बीजगणित से पदार्थों का निश्चय करके श्रद्धान करना बीज-सम्यक्त्व है।

अथवा कर्म और आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् सुनकर कर्म से आत्मा भिन्न है, इस प्रकार बीजपदो के ग्रहणपूर्वक सूक्ष्म तत्त्वार्थश्रद्धान को बीज-सम्यक्त्व कहते है।

जो भव्यजीव देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और तत्त्वों के स्वरूप पर दृढ श्रद्धा करता है, वह समस्त आगमों का रहस्य जान लेता है, इस प्रकार का फल सुनकर जो सम्यग्दर्शन धारण करता है, वह भी बीज-सम्यक्त्व-धारी है।

(६) संक्षेप-सम्यक्त्व—जो भव्य जीव देव (आप्त), आगम (श्रुत), धर्म और पदार्थ आदि का स्वरूप संक्षेप मे जानकर, या संक्षेप कथन से ही तत्त्वार्थश्रद्धान कर लेता है, उसके उस सम्यग्दर्शन को संक्षेप-सम्यग्दर्शन कहते है।

अथवा शास्त्र के पद, गाथा, श्लोक, काव्य, छन्द आदि का संक्षेप मे सामान्य अर्थ जानकर स्वपर-भेदविज्ञान प्राप्त करके दृढ श्रद्धान करना भी संक्षेप सम्यक्त्व है। इसे संक्षेपार्थोद्भव सम्यग्दर्शन भी कहा गया है।

(७) विस्तार-सम्यक्त्व—बारह अंगशास्त्रों, चौदह पूर्वों तथा अंगबाह्य शास्त्रों को विस्तार से सुनकर तत्त्वार्थों का निश्चय करके श्रद्धान करना विस्तार-सम्यक्त्व है।

अथवा द्वादशाग वाणी को प्रमाण, नय, निक्षेपादिपूर्वक विस्तृत रूप से सुनने से जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसे भी विस्तार-सम्यक्त्व कहते है।

(८) अर्थ-सम्यक्त्व—अंगबाह्य आगमो के पढ़े बिना भी उनमें प्रति-

पादित किसी पदार्थ[1] के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है, वह अर्थ-सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के वचनों की सहायता के बिना किसी अन्य प्रकार से अर्थबोध होकर जो श्रद्धान होता है, उसे अर्थ-सम्यक्त्व कहते हैं।

अथवा गुरु एवं शास्त्र का उपदेश सुने बिना ही अकस्मात् किसी उल्कापात आदि किसी अर्थ (घटना) को देखकर या किसी अर्थ के द्वारा संसार की क्षणभंगुर दशा से उदासीन होकर दृढ श्रद्धान करना अर्थ-सम्यक्त्व है।

अथवा विस्तार के बिना केवल किसी अर्थग्रहण से जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है, उसका वह सम्यक्त्व अर्थरुचि-सम्यक्त्व है।

अर्थ-सम्यक्त्व स्वतः ही पदार्थों के निश्चयरूप श्रद्धान से होता है, इसलिए यह स्वप्रत्यय होता है।

(९) **अवगाढ-सम्यक्त्व**—अंगबाह्य, प्रकीर्णकरूप आगमों को पूर्णतः जानने या सुनने से श्रद्धान में जो अवगाढपन (दृढता) आता है, उसे अवगाढ-सम्यक्त्व कहते हैं।

अथवा अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करने पर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे अवगाढ-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अथवा आचारांग आदि द्वादशांगी पर जिनका श्रद्धान अतिदृढ है, वे अवगाढरुचि-सम्यक्त्वी हैं।

अथवा अंग और अंगबाह्य आदि समस्त शास्त्रों के जानने-सुनने से आत्मा में अत्यन्त दृढ और अविचल श्रद्धान—सम्यग्दर्शन का होना अवगाढ-सम्यग्दर्शन है।

अथवा अंग, पूर्व और प्रकीर्णक आगमों के किसी एक देश का पूरी तरह से अवगाहन करने पर जो सम्यक्त्व होता है, उसे भी अवगाढ-सम्यक्त्व कहते हैं।

(१०) **परमावगाढ सम्यग्दर्शन**—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवल-

---

१ देखिए—वे ही पूर्वोक्त ग्रन्थ उपासकाध्ययन, सुदृष्टितरंगिणी, अनगार धर्मामृत, आत्मानुशासन, राजवार्तिक, गुणभूषण श्रावकाचार आदि।

ज्ञान द्वारा (जीवादि) पदार्थों को साक्षात् जानकर जो प्रगाढ़ श्रद्धान होता है, या श्रद्धा में परमावगाढ़पन होता है, उसे परमावगाढ़-सम्यक्त्व कहते हैं।

अथवा परमावधिज्ञान या केवलज्ञान-दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ-विषयक प्रकाश से जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वह परमावगाढ़-रुचि है।

अथवा केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है, वह परमावगाढ सम्यग्दर्शन होता है।

अथवा केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी मुनिवर से अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनकर अथवा केवलज्ञानी का सातिशय प्रभाव देखकर अपनी शुद्ध आत्मा के प्रति स्वयं विश्वास हो जाय, पदार्थों के प्रति दृढ़ श्रद्धा हो जाए, आत्मानुभूति हो जाए, वह परमावगाढ सम्यग्दर्शन है।

अथवा केवलज्ञान होने पर समस्त लोक-अलोक प्रत्यक्ष हो जाते हैं, ऐसा श्रद्धान परमावगाढ-सम्यक्त्व कहलाता है।[1]

सम्यक्त्व के ये भेद प्रायः तत्त्वज्ञान के बाह्य निमित्तों की प्रधानता को लेकर कहे गये हैं। सम्यक्त्व की उत्पत्ति तो दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि पूर्वक ही होती है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दस प्रकार के दर्शनार्य के सन्दर्भ में सम्यक्त्व के ये १० भेद बताये गये हैं—

'दर्शनार्या दशधा—आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढ रुचिभेदात्।'

"आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, अर्थरुचि, अवगाढरुचि और परमावगाढरुचि के भेद से दर्शनार्य १० प्रकार के हैं।"

गोम्मटसार जीवकाण्ड में आज्ञा-सम्यग्दर्शन की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अर्हन्त आदि द्वारा उपदिष्ट प्रवचन के प्रति या आप्त, आगम और पदार्थ के प्रति श्रद्धा रखता है, तथा विशेष ज्ञान

---

१. वे ही पूर्वोक्त ग्रन्थ अनगार धर्मामृत, आत्मानुशासन, उपासकाध्ययन, गुणभूषण श्रावकाचार, सुदृष्टितरंगिणी, राजवार्तिक आदि देखिए।

न होने से केवल गुरुनियोग से या अर्हन्त की आज्ञा से कदाचित अनत्त्वों का भी श्रद्धान कर लेता है, तो भी वह सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि उसने उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है।

तात्पर्य यह है कि आज्ञारुचि आदि रुचिभेद से जो सम्यग्दर्शन हैं, वह प्रारम्भिक भूमिका के सम्यग्दर्शन हैं। श्वेताम्बर परम्परा में तो इन्हें सराग-सम्यग्दर्शन बताया ही गया है।

पात्र की भूमिका की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का त्रिविध वर्गीकरण

मनुष्य अपने जीवन में अनेक बातों में विश्वास करता है किन्तु सभी के विश्वास एक कोटि के नहीं होते। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे जिस पर विश्वास कर लेते हैं, उसे जीवन में उतारकर छोड़ते है, केवल बातें बनाना उनके जीवन का लक्ष्य नहीं होता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, वे श्रद्धा तो कर लेते हैं, किन्तु जीवन में उतारने का साहस नहीं करते। और कुछ लोगों की निष्ठा तो इतनी कच्ची होती है कि वे दूसरों को समझा सकते है, विवेचन कर सकते है, उन्हें श्रद्धालु बना सकते हैं, पर स्वयं उस विश्वास को जीवन में स्थान नहीं देते। अतः पात्रों की भूमिका की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को भी जैनाचार्यों ने तीन भागों में विभाजित कर दिया है। देखिये विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते है—

'कारग-रोयग-दीवगमहवा ... . . ।'[1]

"अर्थात्—सम्यक्त्व तीन प्रकार के हैं—(१) कारक, (२) रोचक, (३) दीपक।

(१) **कारक सम्यक्त्व**—जिस सम्यग्दर्शन के होने पर व्यक्ति सदनुष्ठान, सदाचरण या सम्यक्चारित्र पर यथार्थ श्रद्धान करता है, और तदनुसार अच्छी तरह साधना करने में अग्रसर होता है, वह कारक सम्यक्त्व है।

कारक सम्यक्त्व व्यक्ति को केवल श्रद्धान कराकर ही नहीं रह जाता, उसका आचरण भी कराता है। यह सम्यग्दर्शन विश्वास के अनुसार चलने के लिए भी प्रेरित करता है। कारक सम्यक्त्व ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण है, जिसके प्राप्त होने पर व्यक्ति अपने आदर्श की उपलब्धि हेतु

१. विशेषावश्यकभाष्य टीका, गाथा २६७५।

ज्ञान द्वारा (जीवादि) पदार्थों को साक्षात् जानकर जो प्रगाढ़ श्रद्धा होता है, या श्रद्धा में परमावगाढ़पन होता है, उसे परमावगाढ़-सम्यक्त्व कहते हैं।

अथवा परमावधिज्ञान या केवलज्ञान-दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ-विषयक प्रकाश से जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वह परमावगाढ़ रुचि है।

अथवा केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है, वह परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है।

अथवा केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी मुनिवर से अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनकर अथवा केवलज्ञानी का सातिशय प्रभाव देखकर अपनी शुद्ध आत्मा के प्रति स्वयं विश्वास हो जाय, पदार्थों के प्रति दृढ़ श्रद्धा हो जाए, आत्मानुभूति हो जाए, वह परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन है।

अथवा केवलज्ञान होने पर समस्त लोक-अलोक प्रत्यक्ष हो जाते हैं, ऐसा श्रद्धान परमावगाढ़-सम्यक्त्व कहलाता है।[1]

सम्यक्त्व के ये भेद प्रायः तत्त्वज्ञान के बाह्य निमित्तों की प्रधानता को लेकर कहे गये हैं। सम्यक्त्व की उत्पत्ति तो दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि पूर्वक ही होती है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दश प्रकार के दर्शनार्य के सन्दर्भ में सम्यक्त्व के ये १० भेद बताये गये हैं—

'दर्शनार्या दशधा—आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात्।'

'आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, अर्थरुचि, अवगाढ़रुचि और परमावगाढ़रुचि के भेद से दर्शनार्य १० प्रकार के हैं।'

गोम्मटसार जीवकाण्ड में आज्ञा-सम्यग्दर्शन की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अर्हन्त आदि द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का, आप्त, आगम और पदार्थ के प्रति श्रद्धा रखता है, तथा विशेष [illegible]

---

[1] [illegible] आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ [illegible]।

इस अवस्था की तुलना महाभारत के उस वाक्य के साथ की जा सकती है, जिसमें कहा गया है कि 'मैं धर्म को जानता हूँ, लेकिन उसमें प्रवृत्ति नहीं कर पाता, मैं अधर्म को भी जानता हूँ, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं कर पाता।'[1]

(३) **दीपक सम्यक्त्व**—यह सम्यक्त्व इन दोनों से भी निम्न कोटि का है। जैसे दीपक अन्धकार को दूर करता है, और वस्तुओं को प्रकाशित करता है, किन्तु स्वयं के नीचे अंधेरा ही रहता है, दीपक स्वयं उससे कोई लाभ नहीं उठा पाता; उसी प्रकार दीपक सम्यक्त्व वाला स्वयं तो अंगारमर्दक आचार्य की तरह तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि रहता है, अपने तत्त्वज्ञान से स्वयं (आत्मा) को प्रकाशित नहीं कर पाता—श्रद्धाशील नहीं बना पाता परन्तु दूसरों को तत्त्वज्ञान समझाकर, धर्मोपदेश देकर उनमें तत्त्वश्रद्धान पैदा करता है। इस प्रकार तत्त्वों का विवेचन करना, दूसरों को समझाना, किन्तु स्वयं कुछ न करना या तत्त्वश्रद्धान से वंचित रहना दीपक सम्यक्त्व है।

दीपक सम्यक्त्व वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरों में तत्त्वजिज्ञासा एवं तत्त्वश्रद्धा पैदा कर देता है, और उसके फलस्वरूप होने वाले यथार्थबोध का कारण बनता है।

दीपक सम्यक्त्वी वह है, जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण तो बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का पथिक ही बना रहता है, अथवा स्वयं तत्त्वश्रद्धान नहीं कर पाता। जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तत्त्वश्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न करता है, वह दीपक सम्यक्त्वी है। जैसे कोई नदी के तीर पर खड़ा हुआ व्यक्ति उस नदी के मध्य में पानी के प्रबल प्रवाह के कारण थके हुए तैराक का उत्साहवर्धन करके उसके पार लगने का कारण बन जाता है, किन्तु वह न तो स्वयं तैरना जानता है, न ही पार हो सकता है।

इस प्रकार दीपक सम्यक्त्व मनुष्य के वचन विलास तक ही सीमित रहता है, आत्मा की गहराई तक नहीं पहुँच पाता।

---

१. *महाभारत में दुर्योधन का वाक्य—*
'जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।''

ा अवस्था की तुलना महाभारत के उस वाक्य के साथ की जा सकती जिसमें कहा गया है कि "मैं धर्म को जानता हूँ, लेकिन उसमें प्रवृत्ति नहीं र पाता, मैं अधर्म को भी जानता हूँ, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं कर ाता।"[1]

(३) दीपक सम्यक्त्व—यह सम्यक्त्व इन दोनों से भी निम्न कोटि का । जैसे दीपक अन्धकार को दूर करता है, और वस्तुओं को प्रकाशित रता है, किन्तु स्वयं के नीचे अंधेरा ही रहता है, दीपक स्वयं उससे कोई ाभ नहीं उठा पाता; इसी प्रकार दीपक सम्यक्त्व वाला स्वयं तो अंगार-र्दक आचार्य की तरह तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि रहता है, अपने तत्त्व-ान से स्वयं (आत्मा) को प्रकाशित नहीं कर पाता—श्रद्धाशील नहीं बना ाता परन्तु दूसरों को तत्त्वज्ञान समझाकर, धर्मोपदेश देकर उनमें तत्त्व-द्धान पैदा करता है। इस प्रकार तत्त्वों का विवेचन करना, दूसरों को समझाना, किन्तु स्वयं कुछ न करना या तत्त्वश्रद्धान से वंचित रहना दीपक म्यक्त्व है।

दीपक सम्यक्त्व वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से सरों में तत्त्वजिज्ञासा एवं तत्त्वश्रद्धा पैदा कर देता है, और उनके फल-वरूप होने वाले यथार्थबोध का कारण बनता है।

दीपक सम्यक्त्वी वह है, जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का ारण तो बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का पथिक ही बना रहता है, ायवा स्वयं तत्त्वश्रद्धान नहीं कर पाता। जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तत्त्वश्रद्धान ा शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न करता है, वह ीपक सम्यक्त्वी है। जैसे कोई नदी के तीर पर खड़ा हुआ व्यक्ति उस नदी ा मध्य में पानी के प्रबल प्रवाह के कारण थके हुए तैराक का उत्साह-र्धन करके उसके पार लगने का कारण बन जाता है, किन्तु वह न तो वयं तैरना जानता है, न ही पार हो सकता है।

इस प्रकार दीपक सम्यक्त्व मनुष्य के वचन विलास तक ही सीमित हता है, आत्मा की गहराई तक नहीं पहुँच पाता।

---

१. महाभारत में दुर्योधन का वाक्य—
"जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति।"

यहाँ यह शंका हो सकती है कि मिथ्यात्वमोहनीय में मिथ्यादर्शन है, वह तो मोहरूप हो सकता है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का मोहक होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन(सम्यक्त्व)मोहनीय को किस कारण से मोह कहा गया, वह तो किसी का मोहक नहीं है, फिर सम्यक्त्व के साथ मोहनीय शब्द क्यों लगाया गया ?

वृहत्कल्पसूत्र में इसका समाधान यों किया गया है कि भूतपूर्व प्रज्ञापना की अपेक्षा से सम्यक्त्व के साथ मोहनीय या मोह शब्द लगाया गया है।

इसका आशय इस प्रकार समझाया गया है—जैसे मादक कोदो का ओदन निर्मादक किये जाने पर भी वह 'मादकोदन' कहलाता है, क्योंकि वे ओदन पहले मादकतायुक्त थे। इसी प्रकार जो सम्यक्त्व के पुद्गल हैं, वे पहले मिथ्यात्व के पुद्गल थे। वे दर्शनमोहक थे, इसलिए भूतपूर्व भाव-प्रज्ञापना को लेकर वे भी दर्शनमोह कहलाते हैं।[1]

तीनों सम्यग्दर्शनों के लक्षण और उनकी विशेषताएँ

कर्मप्रकृतियों की तीन अवस्थाएँ है—(१) क्षय, (२) उपशम, और (३) क्षयोपशम। इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है। इसमें सम्यक्त्व तीन प्रकार का होता है—(१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायिक सम्यक्त्व, और (३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। इन तीनों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं .—

(१) औपशमिक सम्यग्दर्शन—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों और अनन्तानुबन्धी कषाय की चारों (सप्त) प्रकृतियों के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम औपशमिक सम्यक्त्व है।

अनन्त का अर्थ है, जिसका अन्त न हो। यहाँ अनन्त से अभिप्राय मिथ्यात्व से है। उसका आश्रय पाकर जो प्रकृतियाँ बँधती है, वे अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप होती है। परिणाम-विशुद्धि की तरतमता के कारण मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकडे हो जाते है।

गोम्मटसार में एक दृष्टान्त देकर इसे समझाया गया है—जैसे कोदो नामक धान्य के कणो को चक्की मे पीसने पर उसके तीन भाग हो जाते हैं—चावल अलग हो जाते है, भूसा अलग हो जाता है, और कण अलग हो जाते है, उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शनरूपी चक्की द्वारा पीसे जाने पर

---

१ बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक १।

मिथ्यात्व कर्म भी तीन भागों में बँट जाता है। पहले
कर्म पहले ... जो सबसे अधिक बलवान और अधिक
उससे सम्यग्मिथ्यात्व (कर्म) है, जो उससे कम बलवान
द्रव्यसंख्या भी पहले से कम होती है, और तीसरा सम्यक्
है जो दूसरे से भी कम बलवान् और द्रव्य में भी कम होना

इस प्रकार अनादिकाल से चले आते हुए मिथ्यात्व क
हो जाते हैं मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्
ये ३ और ४ अनन्तानुबन्धी कषाय मिलकर सात भेद दर्श
भी कहलाता है। ये सातों प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन का घात करने
किन्तु इन सातों प्रकृतियों के उपशमित होने से—दबाई हुई होने
तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व गुण का प्रकटन होता है, वह औप
उपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व में ये सात
तियाँ सत्ता में तो होती है फिर भी उपशान्त रहती है। अर्थात्—उ
का अर्थ है—उदय को दबा देना और मिथ्यात्व स्वभाव को हटा
यह सम्यक्त्व मिथ्यात्व पुंज और मिश्र पुंज को लेकर उदय दब जात
तथा शुद्ध पुंज को लेकर मिथ्यात्व स्वभाव को हटा देता है।

उपशम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए पंचसंग्रह (प्रा०) में क
है—उपशम सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर जीव को सत्यार्थ (सच्चे) देव
अनन्य (भक्ति) भाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान और विवि
मिथ्या (विपरीत) दृष्टियों (मतों) में असम्मोह प्रकट हो जाता है। इसे
क्षायिक सम्यग्दर्शन से कम नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार पंक आदि
से जनित कालुष्य (मैल) के प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी
प्रकार दर्शनमोह के उदय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न
होता है, उसे उपशम सम्यग्दर्शन कहते है। यह भी क्षायिक जैसा ही
निर्मल व सन्देहरहित होता है।

जैसे मिट्टी या कीचड मिले हुए पानी में निर्मली (कतक या फिटकरी)
डालने से स्फटिकपात्र में रखे हुए जल में मिट्टी नीचे बैठ जाती है,
शान्त होकर नीचे चला जाता है, और ऊपर का जल एकदम स्वच्छ हो
है, उसी तरह मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वमोह
अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार कषायों का उपशम होने से जीव में औपशमि
सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है।

कषाय पाहुड मे उपशम सम्यग्दर्शनसम्पन्न जीव की विशेषता बताते हुए कहा है—

उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो तहाणिरासाओ ।

"दर्शनमोह का उपशम करने वाला जीव उपद्रव या उपसर्ग आने पर भी उसका उपशम किये बिना नही रहता ।"

औपशमिक सम्यग्दर्शन स्वामी की अपेक्षा से दो प्रकार

यह नियम है कि प्रथम अवस्था में यानी अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा मे सबसे पहले—प्रथम सम्यक्त्व—औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है और यह चौथे (असंयतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान (उपशान्त-कषाय) तक रह सकता है । इसीलिए दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे उपशम सम्यक्त्व के स्वामी की अपेक्षा से दो भेद किये गये है—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व ।

मिथ्यात्व गुणस्थान मे छूटकर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम प्रथम-उपशम(प्रथमोपशम) सम्यक्त्व है और उपशम श्रेणी के अभिमुख हुए जीव के क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक जो उपशम सम्यक्त्व होता है, उसका नाम द्वितीय उपशम सम्यक्त्व है ।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जो सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसको सम्यक्त्व की सर्वप्रथम प्राप्ति तीन करणों के द्वारा दर्शनमोहनीय का सर्वोपशमन करने से होती है । इसी प्रकार जिसने पहले कभी सम्यक्त्व प्राप्त किया था, किन्तु बाद में मिथ्यात्व को प्राप्त होकर वहाँ सम्यक्त्वमोह और सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहकर्म की उद्वेलना करके बहुत काल तक मिथ्यात्व दशा में रहकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त किया है, उस अनादितुल्य सादि सम्यक्त्वी को प्रथम उपशम सम्यक्त्व का लाभ भी दर्शनमोह के सर्वोपशमन से ही होता है । दर्शनमोह की पूर्वोक्त तीनो प्रकृतियों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं तथा सम्यक्त्व (मोह) की प्रकृति सम्बन्धी देशघाती स्पर्द्धकों के उदय को तथा शेष दोनो प्रकृतियों के उदयाभाव को देशोपशम कहते है । जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर जल्दी ही पुनः-पुनः सम्यक्त्व को ग्रहण करता है, उस प्रकार से सादि मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व का लाभ सर्वोपशम और देशोपशम दोनो से होता है ।

दर्शनमोह की उपशान्त अवस्था में उसकी तीनो प्रकृतियों के कर्मांश सर्वस्थितिविशेषों के साथ उपशान्त रहते है, अर्थात् उन तीनों में से किसी एक की भी स्थिति या उदय नही रहता ।

किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व में स्थायित्व अधिक नहीं है। मा
मान्यता के अनुसार यह सम्यक्त्व एक अन्तर्मुहूर्त (४८मिनट) से अधिक
टिक पाता। इसकी सात्विक स्थिरता व निर्मलता अन्तर्मुहूर्त मात्र
टिकती है तदनन्तर उपशमित कर्मप्रकृतियाँ (वासनाएँ) पुन जा
होकर इसे विनष्ट कर डालती हैं। इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव
दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशम से उपशान्त रहता है
उसके पश्चात नियम से उसके मिथ्यात्वमोह, सम्यक्मिथ्यात्व और
सम्यक्त्वमोह इन तीनों कर्मप्रकृतियों में से किसी एक का उदय हो जाता है।

यद्यपि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव क्षायिकवत् निर्मल होता है, तथापि
परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर कभी मिथ्यात्व गुण-
स्थान में जाता है, कभी सास्वादन(सम्यक्त्व) गुणस्थान को भी प्राप्त करता
है, और कभी सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान में भी पहुँच जाता है, और
कभी वेदक सम्यक्त्व से भी मेल कर लेता है। लेकिन सास्वादन गुणस्थान
का स्पर्श वह सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व गुणस्थान में जाते समय
ही करता है, क्योंकि सास्वादन गुणस्थान गिरने का गुणस्थान ही है,
वह नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही पहुँच जाता है। द्वितीय उप
(द्वितीयोपशम) सम्यक्त्व के काल के अन्दर जीव असंयम को भी प्राप्त
सकता है, संयमासंयम को भी तथा ६ आवलिकाओं के शेष रहने प
सास्वादन को भी प्राप्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय, ये दोनों उपशम सम्यक्त्व सभी
समय में उत्पन्न हो सकते हैं। दोनों में सातों प्रकृतियों का उपशम होना
जरूरी है। उपशम सम्यक्त्व की विशेषता यह है कि जो सातों प्रकृतियों
के सर्वोपशम से होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व की तरह निर्मल होता है,
क्योंकि इसमें आप्त (देव), आगम (शास्त्र) और पदार्थ-विषयक श्रद्धान के
विकल्पों में कहीं भी स्खलन नहीं होता, अपितु आप्त आदि में तीव्ररुचि हो
से गाढ़ होता है। चल, मल और अगाढ़ इन तीनों मलों के इस (औपशमिक)
सम्यक्त्व में न होने का कारण सम्यक्त्वमोहकर्म की प्रकृति के उदय का
अभाव है।

(२) क्षायिक सम्यग्दर्शन—अनन्तानुबन्धी चार कषायों
मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो
विशेष या निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान (यथार्थबोध) रूप सम्यग्दर्शन प्र
से क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार प्रकट होने पर कभी विनष्ट नहीं होता यह नित्य है, सदा स्थायी रहता है, यह अप्रतिपाती है तथा कर्मों के क्षय का कारण है। द्रव्यसंग्रह टीका में कहा गया है कि शुद्ध आत्मा आदि पदार्थों के विषय में विपरीत अभिनिवेश रहित परिणाम क्षायिक सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अन्य सम्यग्दर्शन तो एक बार प्राप्त होने पर छूट भी जाते हैं, लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार प्राप्त होने पर कभी छूटता नहीं। यह सम्यग्दर्शन मुमेरुपर्वत की तरह अचल और निष्प्रकम्प, निर्मल, अक्षय व अनन्त होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व के प्रारम्भ होने, प्राप्त या निष्ठापन होने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव में ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढ़ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, कि वह अनेक विचित्र और विस्मयजनक (अनहोनी या असम्भव) घटनाएँ देखकर भी विस्मित या क्षुब्ध नहीं होता, न किसी प्रकार का संदेह ही वह करता है, तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर कभी आश्चर्यान्वित भी नहीं होता।

पंचसंग्रह में इस सम्यग्दर्शन की विशेषता बताते हुए कहा है—

> वचनैर्वा हेतुभिर्वा दृष्टान्तैरपि ।
> जातु क्षायिकसम्यक्त्वी न क्षुभ्यति विनिश्चल ॥

"क्षायिक सम्यग्दर्शन इन्द्रियों को भयभीत करने वाले भयंकर रूपों से, हेतु और दृष्टान्तपूर्वक श्रद्धानभंग करने वाले वचन विन्यास से भयंकर शब्दों या वाक्यों से, बीभत्स या जुगुप्सित पदार्थों से कभी चलायमान नहीं होता, डगमगाता नहीं है। क्योंकि किसी भी कारण से उसमें क्षोभ पैदा नहीं होता है। वह निश्चल रहता है। अधिक क्या कहा जाए वह त्रैलोक्य के किसी बलशाली देव-दानव अथवा भयंकरतम घटना द्वारा भी विचलित नहीं होता। इसमें चल, मल और अगाढ़ दोष बिल्कुल पैदा नहीं होते। यह सम्यक्त्व बिल्कुल निर्मल होता है, क्योंकि इसमें शंकादि मल का लेश भी उत्पन्न नहीं होता, तथा निश्चल होता है, भयंकर रूप और कुयुक्ति—कुतर्क के वाग्जाल भी श्रद्धा को चलायमान करने में समर्थ नहीं होते। आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान में कहीं भी स्खलन नहीं होता।"

यह सम्यग्दर्शन गाढ़ होता है, क्योंकि इसके धारक मनु
आत्म आदि तत्त्वों में तीव्र रुचि और दृढ़ श्रद्धा होती है।

तीनों मलों के अत्यन्ताभाव का कारण है—दर्शनम
तीना प्रकृतियों का सर्वथा अभाव। यह दर्शनमोहनीय के नि
से प्राप्त होता है। अर्थात्—अनन्तानुबन्धी कपायचतुष्क के क्षय के
मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व पुंज रूप तीनों प्रकार के दर्शनमोहनी
सर्वथा क्षीण हो जाने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है।
सम्यक्त्व एक बार प्रकट होने पर पुन लुप्त नहीं होता, सदैव र
शास्त्रीय भाषा में इसे सादि एवं अनन्त कहते हैं। क्योंकि इसके प्र
मिथ्यात्व आदि कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है। यही कारण है कि
दोष न होने से वह अतिशुद्ध होता है।

जैसे स्वच्छ जल को दूसरे बर्तन में निथार लेने से फिर किसी
की मिट्टी नहीं रहती, तथा जैसे पंक (मैल) के दूर हो जाने पर शुद्ध स
के बर्तन में जल अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल दिखाई देता है, वैसे ही मिथ्य
मोहनीय आदि सातों कर्मप्रकृतियों का अत्यन्त क्षय होने से शुद्ध आ
में अतिशुद्ध 'अविनाशी' क्षायिक सम्यक्त्व सदा सुशोभित रहता है। य
सम्यग्दर्शन सारभूत है, और निश्चित ही मोक्ष प्राप्त कराने वाला है
जिस महान् आत्मा पुरुष के मुक्ति अत्यन्त आसन्न (निकट) होती है, उ
क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जिसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हो
जाता है, वह उसी भव में, या दूसरे, तीसरे या चौथे भव में अवश्य
मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उसके पाँचवाँ भव तो कभी होता ही नहीं, क्यों
चौथे भव से आगे वह भव धारण ही नहीं करता। जैसा कि पंचसं
में कहा है—

> तइय चउत्थे तम्मि व भवम्मि सिज्झन्ति खइयसम्मत्ते।
> जे देव निरयसमा उ चरमदेहेसु ते हुन्ति॥

क्षायिक सम्यक्त्व मुक्ति प्राप्त सिद्ध जीवों में भी होता है। कि
परम्परा के धवला, लब्धि संहिता आदि कई ग्रन्थों में क्षायिक सम्य
के प्रकट होने के लिए लिखा है—

> खाइयं सम्मत्तं जिण पुण जिणा केवल तम्मि।

अर्थात्—क्षायिक सम्यक्त्व जिन भगवान् या केवली या श्रुत
के सान्निध्य में प्राप्त होता है।'

जिस क्षेत्र और काल में केवलज्ञानी या तीर्थकर होते है, वही, उनके चरण-कमलो में, उनके सान्निध्य मे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे कि भरत चक्रवर्ती ने तीर्थकर ऋषभदेव के चरणो में शुद्ध (क्षायिक) सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

क्षायिक सम्यग्दर्शन किसी भी मनुष्य को उपलब्ध हो सकता है, शर्त सिर्फ यही है कि यह सम्यग्दर्शन केवली, श्रुतकेवली अथवा अरिहत वीतराग जिन तीर्थंकर के चरण-कमलो मे ही होता है। इस सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के साथ ही वह मनुष्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हो जाता है।

केवली के पादमूल मे यह सम्यग्दर्शन पाँचवे संयतासंयत और छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानधारी उस साधक को भी हो सकता जो पहले औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी हो।

लेकिन क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य प्रमत्तसंयत गुणस्थान मे अन्य दोनो प्रकार के सम्यक्त्वियो की अपेक्षा बहुत कम होते है। इसका कारण यह है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के उपरान्त श्रमण (यदि उसकी आयु पहले न बँध चुकी हो) क्षपक श्रेणी का आरोहण करके घाती कर्मों को नष्ट करने मे सक्षम हो जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन ही सर्वश्रेष्ठ है, यद्यपि इसकी प्राप्ति कठिन है।

(३) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—पूर्वोक्त सात प्रकृतियो में से जो उदय प्राप्त हो, उनका क्षय तथा अनुदित प्रकृति का उपशम होने से सम्यक्त्व मोहनीय के रसोदयवान को जो तत्त्वश्रद्धान हो, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है। अर्थात्—उदयगत (उदीर्ण—क्रियमाण) मिथ्यात्वजनक मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय तथा अनुदयगत (सत्ता में स्थित या सचित) कर्म प्रकृतियो के उपशम (उदय को दबा देने) से जो सम्यक्त्वरूपता प्राप्त होती है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

आशय यह है कि जो मिथ्यात्व उदीर्ण है—उदय-प्राप्त है, उसको विपाकोदय मे वेदन (भोग) करने मे वह क्षीण-निर्जीर्ण हो जाता है और जो शेष मिथ्यात्वकर्म सत्ता मे है, अनुदय-प्राप्त है—उदय-प्राप्त नही है, वह उपशान्त है। इस प्रकार उदीर्ण (उदय-प्राप्त) मिथ्यात्व के क्षय से तथा अनुदीर्ण के उपशम से निष्पन्न होने से त्रुटितरस शुद्ध पुंजलक्षण मिथ्यात्व को भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। शोधित मिथ्यात्वपुद्गल

के उदयाभावी क्षय और इन्ही के सदवस्थारूप उपशम से, तथा देशघाती स्पर्द्धक वाली सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

तीनों सम्यक्त्वों मे कथंचित् एकत्व

प्रश्न होता है—तीनो ही प्रकार के सम्यक्त्वों—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भिन्न-भिन्न स्वरूप होने पर भी क्या इनमें परस्पर कोई सदृशता है ?

इसका समाधान धवला मे किया गया है कि 'क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त यथार्थ श्रद्धानो मे विशेषणों को लेकर भेद भले ही हो, परन्तु इन तीनो के यथार्थश्रद्धानरूप विशेष्य मे भेद नही रहता। यथार्थ श्रद्धान में तीनो सम्यग्दर्शनों की समानता है।'

वेदक सम्यक्त्व और सास्वादन सम्यक्त्व

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित दो प्रकार के सम्यक्त्व और हैं, वे भी क्षायोपशमिक की तरह चल, मल और अगाढ आदि दोषों से युक्त होते हैं। उनके नाम इस प्रकार है—(१) वेदक सम्यक्त्व, (२) सास्वादन सम्यक्त्व।

(१) वेदक सम्यक्त्व (दिगम्बर मान्यता)—वेदक सम्यक्त्व को ही दिगम्बर परम्परा मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा गया है। जो लक्षण प्रश्नोत्तर श्रावकाचार एवं सर्वार्थसिद्धि मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का किया गया है, वही वेदक सम्यक्त्व का लक्षण है। सम्यग्दर्शन के एकदेश का घात करने वाली देशघाती सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से तथा उदय-प्राप्त मिथ्यात्व आदि ६ प्रकृतियों के उदय की निवृत्ति (क्षय) होने पर और आगामीकाल में उदय में आने वाली उन्ही प्रकृतियो को सदवस्थारूप उपशम होने पर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, जो चल, मलिन और अगाढ होता है।

कर्मग्रन्थीय परम्परा मे प्राय वेदक नाम मिलता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रशस्त उपशम अथवा विसंयोजन होने पर और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होने पर अथवा उनके क्षय के अभिमुख होने पर देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

स्वरूप [illegible] शुद्धि [illegible] सम्यक्त्व के आवृत करने वाले नहीं होते, अतः इस अपेक्षा से वे (शोधित) शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व पुद्गल भी उपचार से सम्यक्त्व कहे जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वजनक उदयगत (विद्यमान) कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और अनुदित (अनुदीयमान—सत्ता में स्थित) कर्म-प्रकृतियों के उपशम हो जाने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

कर्मग्रन्थ में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि उदय-प्राप्त मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम-विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। उदय में आये मिथ्यात्वपुद्गलों का क्षय तथा जो उदय प्राप्त नहीं हुए, उनका उपशम इस प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय का क्षयोपशम होता है।

यहाँ जो मिथ्यात्व का उदय कहा गया है, वह प्रदेशोदय की अपेक्षा से समझना चाहिए, रसोदय की अपेक्षा से नहीं।

कुछ आचार्यों ने संक्षेप में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का यह लक्षण भी दिया है—दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का क्षयोपशम होने से जो सम्यक्त्व होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस बताया गया है—

> षट्प्रकृतिशमेनैव सम्यक्त्वोदयकर्मणा ।
> क्षायोपशमिकं विद्धि मार्द्धस्वच्छोदकोपमम् ॥

"पहले ६ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय तथा उपशम होने से और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे मिट्टी मिले जल में से मिट्टी का अधिक भाग निकल गया हो और थोड़ा-सा बचा हो, उसी प्रकार चल, मल और अगाढ आदि दोष जिसमें हों, वही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।"

इसी का स्पष्टीकरण सर्वार्थसिद्धि में यों मिलता है—'चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों

विघ्न आदि के विनाश करने मे समर्थ तो पार्श्वनाथ है। इस प्रकार रुचि मे शिथिलता आने से तीव्र रुचि नहीं रहती। यही अगाढ दोष है।

जैसे वृद्ध के हाथ में पकडी हुई लाठी हाथ मे ही रहती है, छूटती नही है, न वह अपने स्थान को छोडती है। फिर भी कुछ काँपती रहती है, वैसे ही वेदक सम्यक्त्वी का श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु वह थोडा कम्पित शिथिल होता रहता है, स्थिर नही रहता, इसे आगढ दोष कहते हैं।

वेदक सम्यक्त्व चल और मलिन होने से अगाढ और अनवस्थित होने के साथ ही किसी अपेक्षा से स्थिर भी है, क्योकि वह अन्तर्मुहूर्त से लेकर ६६ सागरोपम तक रहता है।

(श्वेताम्बर मान्यता) श्वेताम्बर परम्परा में प्रवचनसारोद्धार, कर्मग्रन्थ आदि मे इसका स्वरूप कुछ और ही है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे विद्यमान जीव जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका मे क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढता है, और इस विकासक्रम मे वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के कर्मदलिकों—अन्तिम कर्मपुद्गलो के रस का अनुभव कर रहा होता है, उस समय के उसके परिणाम या सम्यक्त्व की उक्त अवस्था को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। जो सम्यक्त्व के कर्म-पुद्गलो का (अनुभव) करता है, इस कारण उसे वेदक कहते है, सम्यक्त्व का समानार्थक होने से इसे वेदक सम्यक्त्व कहा है।

वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसे वेदक सम्यक्त्व कहने का कारण यह है कि अधिकांश क्षपित सम्यक्त्व पुज के चरम पुद्गलो के वेदनकाल मे—ग्रास समय में यह होता है। तात्पर्य यह है कि क्षपक श्रेणी को स्वीकार करने वाला साधक अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क को भी क्षय करके तथा मिथ्यात्व और मिश्रपुज का भी सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्व-पुज को बार-बार उदीरणा करके अनुभव (भोग) कर निर्जरा करता हुआ उदीरणीय कर्म भी अन्तिम ग्रास की स्थिति में रहते हुए अब भी कितने ही सम्यक्त्वपुज पुद्गलो को वेदन करना शेष है, ऐसी स्थिति में वेदक सम्यक्त्व पैदा होता है।

प्रश्न होता है—क्षायोपशमिक और वेदक सम्यक्त्व मे क्या अन्तर है, क्योंकि सम्यक्त्व-पुज के पुद्गलों का वेदन—अनुभव तो दोनों जगह एक सा है?

जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय में आने योग्य तो न हो, किन्तु उसका स्थिति या अनुभाग घटाया-बढ़ाया जा सके अथवा उसका संक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय में आने योग्य हो, न उसका स्थिति-अनुभाग घटाया-बढ़ाया जा सके और न ही अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण किया जा सके, उसे प्रशस्त उपशम कहते है।

वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्व को नष्ट कर देने की शक्ति तो नही है, लेकिन वह सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ दोष पैदा करती है।

जो कुछ काल तक ठहरकर चलायमान होता है, उसे चल दोष कहते हैं। जो शंका आदि दोषों से दूषित हो, उसे मलिन दोष कहते हैं। जो श्रद्धान स्थिर नही रहता, कांपता रहता है, उसे अगाढ दोष कहते हैं।

जैसे उठती हुई लहरों में जल एकरूप ही रहता है, लहरों के कारण उसमें कोई अन्तर नही पड़ता; वैसे ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत नाना विषयों में—अर्थात्—आप्त, आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धान के विकल्पों में स्थिर रहते हुए भी चंचलता के कारण विकल्पों में चलित होने के कारण वेदक सम्यक्त्व चल होता है। सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने से वेदक सम्यक्त्व में श्रद्धान में कुछ चंचलता आ जाती है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से भ्रम में पड़कर वह अपने और दूसरों के बनवाए हुए उपाश्रय वगैरह में यह मेरे हैं, यह दूसरे के हैं, इस प्रकार अपने-पराये का भेद-व्यवहार करता है। इसे ही चल दोष कहा है। जैसे सुवर्ण पहले अपने कारणों से शुद्ध उत्पन्न होकर भी चाँदी आदि के मेल से मलिन हो जाता है, वैसे ही क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व उत्पत्ति के समय निर्मल होने पर भी सम्यक्त्वमोहनीयकर्मप्रकृति के उदय से अपने माहात्म्य को न पाकर कर्मांशय के द्वारा होने वाले अतिशय से अछूता रहते हुए शंका आदि दोषों (मलों) के संसर्ग से मलिन हो जाता है।

इसी प्रकार वेदक सम्यक्त्व अपने अपने विषय—देव आदि में स्थिर रहते हुए यानी स्थान (आप्त, आगम और पदार्थ) की श्रद्धानरूप अवस्था में रहते हुए भी थोड़ा सकम्प होता है, स्थिर नहीं रहता। जैसे—सभी तीर्थंकरों में अनन्त शक्ति के समान होने पर भी सम्यग्दृष्टि भी ऐसा सोच लेता है कि शान्ति क्रिया में समर्थ तो शान्तिनाथ भगवान् है परन्तु उपसर्ग, संक-

विघ्न आदि के विनाश करने में समर्थ तो पार्श्वनाथ है। इस प्रकार रुचि में शिथिलता आने से तीव्र रुचि नहीं रहती। यही अगाढ दोष है।

जैसे वृद्ध के हाथ में पकड़ी हुई लाठी हाथ में ही रहती है, छूटती नहीं है, न वह अपने स्थान को छोड़ती है। फिर भी कुछ काँपती रहती है, वैसे ही वेदक सम्यक्त्वी का श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु वह थोड़ा कम्पित शिथिल होता रहता है, स्थिर नहीं रहता, इसे आगढ दोष कहते हैं।

वेदक सम्यक्त्व चल और मलिन होने से अगाढ और अनवस्थित होने के साथ ही किसी अपेक्षा से स्थिर भी है, क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्त से लेकर ६६ सागरोपम तक रहता है।

(श्वेताम्बर मान्यता) श्वेताम्बर परम्परा में प्रवचनसारोद्धार, कर्मग्रन्थ आदि में इसका स्वरूप कुछ और ही है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व-की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढ़ता है, और इस विकासक्रम में वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के कर्मदलिका—अन्तिम कर्मपुद्गलों के रस का अनुभव कर रहा होता है, उस समय के उसके परिणाम या सम्यक्त्व को उक्त अवस्था को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। जो सम्यक्त्व के कर्म-पुद्गलों का (अनुभव) करता है, इस कारण उसे वेदक कहते हैं, सम्यक्त्व का समानार्थक होने से इसे वेदक सम्यक्त्व कहा है।

वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसे वेदक सम्यक्त्व कहने का कारण यह है कि अधिकांश क्षपित सम्यक्त्व पुञ्ज के चरम पुद्गलों के वेदनकाल में—ग्रास समय में यह होता है। तात्पर्य यह है कि क्षपक श्रेणी को स्वीकार करने वाला साधक अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क को भी क्षय करके तथा मिथ्यात्व और मिश्रपुञ्ज का भी सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्व-पुञ्ज को बार-बार उदीरणा करके अनुभव (भोग) कर निर्जरा करता हुआ उदीरणीय कर्म भी अन्तिम ग्रास की स्थिति में रहते हुए अब भी जितने ही सम्यक्त्वपुञ्ज पुद्गलों को वेदन करना शेष है, ऐसी स्थिति में वेदक सम्यक्त्व पैदा होता है।

प्रश्न होता है—क्षायोपशमिक और वेदक सम्यक्त्व में क्या अन्तर है, क्योंकि सम्यक्त्व-पुञ्ज के पुद्गलों का वेदन—अनुभव तो दोनों जगह एक सा है?

वस्तुतः इनमें कोई अन्तर नहीं है, तथापि एक की समझ और (उपशम का) कर्म-पुद्गलों का अनुभव (वेदन) नहीं होता रहता है जबकि दूसरे का उदित और अनुदित सभी पुद्गलों का अनुभव (वेदन) होता रहता है, इतना ही अन्तर है। वास्तव में देखा जाए तो यह क्षायोपशमिक ही है। अन्तिम ग्रास में अवशिष्ट पुद्गलों के साथ ग और अन्तिम ग्रास में पुद्गल (जो कि मिथ्यात्वभाव के निवारण रूप हैं) के उपशम का इसमें सद्भाव है।

(२) सास्वादन सम्यक्त्व- औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भूमिका में सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक उक्त सम्यक्त्व से च्युत होकर पुनः मिथ्यात्व की ओर लौटता—अभिमुख होता है, तो लौटने की इस क्षणिक समयावधि में वान्त सम्यक्त्व का किंचित् संस्कार अवशिष्ट रहता है। वह जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक जीव के परिणामविशेष को सास्वादन या सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। वमन करते समय वमित पदार्थों का कुछ स्वाद रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व को वान्त करते समय सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद रहता है। जीव की ऐसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व कहलाती है।

वास्तव में सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व सम्यक्त्व की मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं। पहली क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर बढ़ते समय होती है, जबकि दूसरी होती है—सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरते समय। इसलिए ये दोनों क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की ही अवस्थाएँ कहलाती हैं।

सम्यक्त्व के दो प्रकार : साध्य और साधन

अमितगति श्रावकाचार में साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का बतलाते हुए कहा गया है—

> साध्य-साधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते ।
> कथ्यते क्षायिकं साध्यं, साधनं द्वितयं परम् ॥'

"साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है—क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है, जबकि उपशम सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व ये दोनों साधन हैं।"

प्रवचनसारोद्धार में पूर्वोक्त तीनों सम्यक्त्वों का दो भागों में वर्गीकरण किया गया है—(१) पौद्गलिक और (२) अपौद्गलिक।

पौद्गलिक अपौद्गलिक सम्यक्त्व

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहते हैं, क्योंकि इसमें सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गलों का वेदन होता है और क्षायिक एवं औपशमिक सम्यक्त्व को अपौद्गलिक कहते हैं, क्योंकि इसमें सम्यक्त्वमोहनीय का सर्वथा क्षय या उपशम हो जाता है, वेदन नहीं होता।

द्रव्यसम्यक्त्व-भावसम्यक्त्व

सम्यक्त्व को आचार्यों ने दो भागों में विभाजित किया है—द्रव्य-सम्यक्त्व और भावसम्यक्त्व। द्रव्यसम्यक्त्व विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के कर्मपुद्गलों को कहते हैं, जबकि भावसम्यक्त्व आत्मा के परिणाम है। भाव सम्यक्त्व का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे उपनेत्र (चश्मे) द्वारा आँखें पदार्थों को स्पष्ट रूप से देख लेती है, उसी तरह विशुद्ध किये हुए पुद्गलों के द्वारा आत्मा को केवलीप्ररूपित तत्त्वों में जो रुचि (श्रद्धा) होती है, वह भाव-सम्यक्त्व है।

द्रव्यसम्यक्त्व तो भावरहित केवल नाममात्र का सम्यक्त्व है। विशुद्ध किये हुए कर्मपुद्गल भावसम्यक्त्व के कारण है, इस कारण उसे द्रव्य-सम्यक्त्व कहा है।

सम्यग्दर्शन के द्रव्यसम्यक्त्व-भावसम्यक्त्व, निश्चय-सम्यक्त्व-व्यवहार-सम्यक्त्व, नैसर्गिक सम्यक्त्व-अधिगमिक सम्यक्त्व, पौद्गलिक सम्यक्त्व-अपौद्गलिक सम्यक्त्व यों चार प्रकार से सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण किया गया है। यह सब प्रतिपादन सम्यग्दर्शन को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाने के लिए है। सम्यग्दर्शन का वास्तविक सारभूत तत्त्व तो तत्त्वार्थश्रद्धान ही है। □

वस्तुतः इनमें कोई अन्तर नहीं है, तथापि एक को समस्त उदित (उदयप्राप्त) कर्म-पुद्गलों का अनुभव (वेदन) करने वाला कहा है जबकि दूसरे को उदित और अनुदित सभी पुद्गलों का अनुभव (वेदन) कर्ता कहा है, इतना ही अन्तर है। वास्तव में देखा जाए तो यह क्षायोपशमिक ही है। अन्तिम ग्रास से अवशिष्ट पुद्गलों के क्षय से और अन्तिम ग्रासवर्ती पुद्गलों (जो कि मिथ्या-स्वभाव के निवारण रूप है) के उपशम का इसमें सद्भाव है।

(२) सास्वादन सम्यक्त्व--औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक् भूमिका में सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक उपश सम्यक्त्व से च्युत होकर पुनः मिथ्यात्व की ओर लौटता—अभिमुख होत है, तो लौटने की इस क्षणिक समयावधि में वान्त सम्यक्त्व का किंचि संस्कार अवशिष्ट रहता है। वह जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करत तब तक जीव के परिणामविशेष को सास्वादन या सासादन सम्यक् कहते हैं। वमन करते समय वमित पदार्थों का कुछ स्वाद रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व को वान्त करते समय सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद रहता है। जी की ऐसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व कहलाती है।

वास्तव में सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व सम्यक्त्व क मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं। पहली क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक् की ओर बढ़ते समय होती है, जबकि दूसरी होती है—सम्यक्त्व से मिथ्या की ओर गिरते समय। इसलिए ये दोनों क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्थाएँ कहलाती हैं।

सम्यक्त्व के दो प्रकार साध्य और साधन

अमितगति श्रावकाचार में साध्य और साधन के भेद से सम्यक् दो प्रकार का बतलाते हुए कहा गया है—

> साध्य-साधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
> कथ्यते क्षायिकं साध्यं, साधनं द्वितयं परम्॥[1]

"साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा ग है—क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है, जबकि उपशम सम्यक्त्व और वेद सम्यक्त्व ये दोनों साधन हैं।"

प्रवचनसारोद्धार में पूर्वोक्त तीनों सम्यक्त्वों का दो भागों में वर्ग करण किया गया है—(१) पौद्गलिक और (२) अपौद्गलिक।

नही बनता। फलितार्थ यह है कि जहाँ बिना किसी बाहरी तैयारी के स्वयं आत्मा की अपनी अन्तरंग तैयारी से सहजभाव से—स्वभाव मे आत्मा को निर्मल ज्योति प्राप्त होती है, वही निसर्गज-सम्यग्दर्शन है। निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व का अन्तर बताते हुए अनगार धर्मामृत मे कहा गया है—

> विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे।
> तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोऽधिगमश्च स ॥

"सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने के समय गुरु आदि किसी भी पर के पदेश (वचनो की सहायता) के बिना जो तत्त्वबोध होता है, वह निसर्ग है, ौर जो परोपदेश से तत्त्वबोध होता है, वह अधिगम है।"

वास्तव मे देखा जाए तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या योपशम करने वाला बाहर का कोई अन्य पदार्थ नही होता, वह तो वय आत्मा ही होता है। आत्मा की उपादान शक्ति मे ही दर्शनमोहनीय र्म का क्षय या उपशम होना है। कर्मों का आवरण स्वत नहीं टूटता, उसे ात्मा के अन्तर का पुरुषार्थ ही तोडता है। आत्मा का वह पुरुषार्थ निसर्गज म्यग्दर्शन में सहज होता है। उस पुरुषार्थ के जागृत होने पर दर्शनमोहनीय ा आवरण टट जाता है। आत्मा सम्यग्दर्शन को उपलब्ध कर लेता है। सर्गिक सम्यग्दर्शन मे आत्मा को अन्तरपुरुषार्थ जगाने के लिए किसी ाह्य निमित्त की अपेक्षा नही रहती। जब आन्तरिक पुरुषार्थ का वेग तीव्र ाता है, तब आत्मा मिथ्यात्व कर्मों के बन्धनो को तोडकर अथवा ढीला रके उनसे विमुक्त हो जाता है। निसर्गज-सम्यग्दर्शन में आत्मा स्वयं ही ाधक है, स्वयं ही साध्य है और साधन भी स्वयं ही है। भूतार्थग्राही ाश्चयनय की दृष्टि मे यह आत्मा स्वय अपनी उपादान शक्ति से जब पने स्वरूप की उपलब्धि करता है, या अपने स्वरूप को प्रकट करता है, व निसर्गज-सम्यग्दर्शन होता है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन एक प्रश्न—उचित समाधान

निसर्गज-सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध मे यहाँ एक विकट प्रश्न उपस्थित ोता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन मे यदि कोई बाहरी निमित्त नही होता है ो क्या वह केवल इस जीवन (जन्म) मे, इस समय ही नही होता या पूर्व-न्मो मे अथवा इस समय से पहले भी नही होता।

यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और विचारणीय भी। इस सम्बन्ध में ाचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों का मत है कि निसर्गज-सम्यग्दर्शन के

नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि कभी बिना किसी बाहरी प्रेरणा के स्वतः आत्मा की अपनी अन्तरंग प्रेरणा से सहजभाव से—स्वभाव से आत्मा को निर्मल ज्योति प्राप्त होती है, वही निसर्गज-सम्यग्दर्शन है। निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व का अन्तर बताते हुए अनगार धर्मामृत में कहा गया है—

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे।
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोऽधिगमश्च सः॥

"सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने के समय हुआ जो किसी भी पर के उपदेश (दूसरों की सहायता) के बिना जो तत्त्वबोध होता है वह निसर्ग है और जो परोपदेश से तत्त्वबोध होता है वह अधिगम है।"

वास्तव में देखा जाए तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करने वाला आत्मा के सिवाय कोई अन्य पदार्थ नहीं होता, वह तो स्वयं आत्मा ही होता है। आत्मा की उपादान शक्ति से ही दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होता है। कर्मों का आवरण स्वतः नहीं टूटता, उसे आत्मा के अन्तर का पुरुषार्थ ही तोड़ता है। आत्मा का वह पुरुषार्थ निसर्गज सम्यग्दर्शन में सहज होता है। उस पुरुषार्थ के जागृत होने पर दर्शनमोहनीय का आवरण टूट जाता है। आत्मा सम्यग्दर्शन को उपलब्ध कर लेता है। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन में आत्मा को अन्तःपुरुषार्थ जगाने के लिए किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। जब आन्तरिक पुरुषार्थ का वेग तीव्र होता है, तब आत्मा मिथ्यात्व कर्मों के बन्धनों को तोड़कर अथवा क्षीण करके उनसे विमुक्त हो जाता है। निसर्गज-सम्यग्दर्शन में आत्मा स्वयं ही साधक है, स्वयं ही साध्य है और साधन भी स्वयं ही है। भूतार्थग्राही निश्चयनय की दृष्टि से यह आत्मा स्वयं अपनी उपादान शक्ति से जब अपने स्वरूप की उपलब्धि करता है, या अपने स्वरूप को प्रकट करता है, तब निसर्गज-सम्यग्दर्शन होता है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन : एक प्रश्न : उचित समाधान

निसर्गज-सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में यहाँ एक विकट प्रश्न उपस्थित होता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में यदि कोई बाहरी निमित्त नहीं होता है तो क्या वह केवल इस जीवन (जन्म) में, इस समय ही नहीं होता या पूर्व-जन्मों में अथवा इस समय से पहले भी नहीं होता।

यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और विचारणीय भी। इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों का मत है कि निसर्गज-सम्यग्दर्शन के

लिए इस जन्म में तो किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु पूर्व-जन्मों में कहीं न कहीं और कभी न कभी देशनालब्धि के रूप में उपदेश आदि निमित्त का होना अनिवार्य है। उनका मन्तव्य है कि जब सम्यग्दर्शन का वर्तमान जीवन में या वर्तमान जन्म में, तथा जीवन के उस क्षण में, जबकि सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होता है, उस समय न तो बाहर से हम किसी शास्त्र का स्वाध्याय देखते हैं, और न गुरु आदि किसी का उपदेश सुनता देखते हैं, किन्तु पूर्वजन्म या पूर्वजीवन में या वर्तमान सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व के क्षणों में बाह्य कारण तो नहीं रहता, किन्तु अन्तरंग कारण तो कोई न कोई रहता ही है, और अन्तरंग कारण दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम ही नहीं होता, इसके अतिरिक्त निकट भव्यता, ज्ञानावरणीयादि कर्मों की हानि, संज्ञित्व और शुद्ध परिणाम भी अन्तरंग कारणों में हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि कोई निकट भव्य है, सम्यग्दर्शन के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्ति जिसे प्राप्त हो गई है, उसमें किसी तरह की रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया और बातचीत को ग्रहण करने में निपुण पाँचों इन्द्रियों और मन से जो युक्त है—संज्ञी पंचेन्द्रिय है। नये बरतन की तरह, जिसमें दुर्वासना की गन्ध नहीं रही है, वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप बताने हेतु जो स्फटिक मणि के दर्पण की तरह स्वच्छ है। ऐसे जीव को पूर्वभव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्मश्रवण से, जिन भगवान् के ध्यान से, महा-महोत्सवों के देखने से, ऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से, मनुष्य तथा देवों से सम्यक्त्व के माहात्म्य से प्राप्त वैभव को देखने से या अन्य किसी कारण से (स्वयमेव ऊहापोह से) विचारों के बीहड़ में मन को भटकाकर जीवादि पदार्थों में ज्यों का त्यों जो श्रद्धान होता है, उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में देशनालब्धि नाम की एक लब्धि[1]

---

[1] सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं—(१) क्षयोपशम (२) विशुद्धि, (३) देशना, (४) प्रायोग्य (५) करण।
कर्मों की स्थिति जब घटकर अन्तःकोटाकोटिसागर प्रमाण रह जाती है, [illegible] के ग्रहण करने की योग्यता आती है, यह क्षयोपशम लब्धि है। [illegible] विशिष्ट [illegible] के भद्र परिणाम होना विशुद्धि लब्धि है। [illegible]
(क्रमश

बताई गई है, उसकी अपेक्षा से जिस जीव को वर्तमान पर्याय मे या पूर्व-पर्याय मे कभी भी जीवादि पदार्थ-विषयक उपदेश नही मिला है, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती। किन्तु जिस जीव को इस प्रकार के उपदेश का निमित्त (पूर्वजन्म में) मिल चुका है, उसे तत्काल या कालान्तर में (बिना किसी बाह्य निमित्त के) सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। जो सम्यग्दर्शन किसी उपदेश के (बाह्य) निमित्त से होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। इसलिए निसर्गज का फलितार्थ यही है कि वर्तमान में अथवा सम्यक्त्व-प्राप्ति के क्षण में परोपदेश के बिना होने वाला तत्त्वश्रद्धान।

इस सम्बन्ध मे कुछ आचार्यो का कथन है कि निसर्गज-सम्यग्दर्शन के लिए इस जन्म की तरह, पूर्व-जन्मो मे भी किसी प्रकार का निमित्त नही होता। उनका तात्पर्य इतना ही है कि यह आत्मा अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण करता आया है। किसी भव में कर्मावरण हलका होते-होते आत्मा में कुछ ऐसे अपूर्व अन्तरंग भाव उत्पन्न हो जाते हैं कि बिना किसी बाह्य निमित्त के ही अन्तरग में आत्मा की उपादान शक्ति से मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का आवरण क्षीण हो जाता है, टूट जाता है, और तब अन्तरंग के पुरुषार्थ से ही आत्मा को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाती है, जिसमें कोई बाह्य निमित्त नही होता।

उदाहरणार्थ—मरुदेवी माता के जीवन को हम पढते या सुनते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हे अपने वर्तमान जीवन में किसी भी प्रकार का बाह्य निमित्त नही मिला। न तो उन्होने कभी तीर्थंकर के उपदेश का श्रवण किया और न ही किसी शास्त्र का अध्ययन किया, और

शास्त्र-श्रवण आदि देशना लब्धि है। संज्ञी पर्याप्ति जागृति, आदि की योग्यता प्रायोग्य लब्धि है।

करण का अभिप्राय आत्मा के परिणाम है। वे तीन प्रकार के हैं—यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन परिणामो के कारण ही मिथ्यात्व-ग्रन्थि टूटती है और जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (इस पाँचवीं करण लब्धि के समय जीव को किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती।)

- देखिए—कर्मग्रन्थ भाग २, 'सम्यक्त्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का वर्णन', पृष्ठ १६-१८।

तथा तत्त्वार्थसूत्रभाष्य (१।२) का पाठ 'परिणाम विशेषादपूर्वकरण तादृग्भवति' उनमें भी यही संकेत ध्वनित होता है। —सम्पादक

न किसी प्रकार की साधना ही की। मरुदेवी माता के जीव के विषय में कहा तो यहाँ तक जाता है कि वह अनादिकाल से निगोद में ही रहती आई थी। अतः पूर्वजन्मों में भी उन्हें कभी उपदेश आदि का निमित्त नहीं मिला था।[1] इस जन्म में उन्हें हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और फिर मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है। इस दृष्टांत से तो ऐसा प्रतीत होता है कि निसर्गज-सम्यग्दर्शन में किसी बाह्य निमित्त को महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। निसर्गज-सम्यग्दर्शन में न तो इस जन्म का ही कोई बाह्य निमित्त मिलता है और न ही किसी पूर्वजन्म के किसी बाह्य निमित्त का आश्रय मिलता है। इसमें तो केवल आत्मा की उपादान शक्ति ही काम करती है, जो आत्मा की निजी शक्ति है, आत्मा का अपना ही अन्तर पुरुषार्थ एवं प्रयत्न है।

इन दोनों तथ्यों का समन्वय इस प्रकार हो सकता है। इस जीवन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के वर्तमान क्षण से पूर्व मरुदेवी माता ने हाथी होदे पर बैठे-बैठे दूर से ही भगवान् ऋषभदेव का समवसरण देखा, उनकी सेवा में इन्द्रों और देव-देवियों की उपस्थिति देखी, इनके विलोकन से सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, परन्तु हुआ वह अपनी उपादान शक्ति से ही। ये कारण भले ही रहे। इन पर ऊहापोह या तत्त्वबोध तो आत्मा अपने आत्म-परिणामात्मक अन्तरंग पुरुषार्थ से ही करता है।

निष्कर्ष यह है कि परोपदेश के बिना तत्त्वार्थ के परिज्ञान को निसर्ग कहते हैं, और परोपदेशपूर्वक होने वाले तत्त्वार्थ-परिज्ञान को अधिगम कहते हैं। इसलिए कुछ आचार्य निसर्ग का अर्थ स्वभाव न मानकर परोपदेश से निरपेक्ष ज्ञान मानते हैं। जैसे सिंह निसर्ग (स्वभाव) से शूर होता है। यद्यपि उसका शौर्य अपने विशेष कारणों से होता है, तथापि किसी के उपदेश की उसमें अपेक्षा नहीं होती। इसलिए लोक में उसे नैसर्गिक कहा जाता है। उसी तरह परोपदेश के बिना मति आदि ज्ञान से तत्त्वार्थ का निश्चय करके होने वाला तत्त्वार्थ श्रद्धान निसर्ग कहा जाता है। यद्यपि मति आदि ज्ञान की उत्पत्ति तो सम्यग्दर्शन के समकाल में होती है, सम्यग्दर्शन से पहले जो ज्ञान होता है, वह मति-अज्ञान आदि होता है।

---

1 कहीं-कहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि अपने पूर्वभव में, जब उनका जीव महाविदेह क्षेत्र में था, साठ हजार वर्ष तक ब्रह्मचर्य की साधना की थी और उसे धर्मतत्त्व का ज्ञान भी था।

अधिगमज-सम्यग्दर्शन : क्या, क्यों कैसे ?

निसर्गज-सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ लेने के बाद अधिगमज सम्यग्दर्शन को समझना इतना कठिन नहीं है। जो सम्यग्दर्शन किसी बाह्य निमित्त से होता है, फिर वह बाह्य निमित्त चाहे गुरु आदि के उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन का हो, चाहे शास्त्र-स्वाध्याय का हो, वह अधिगमज-सम्यग्दर्शन कहलाता है। वाचकवर्य श्री उमास्वाति तत्त्वार्थभाष्य में अधिगम के समानार्थक शब्दों का प्रतिपादन इस प्रकार करते है—

अधिगम, अभिगम, आगमो, निमित्त, श्रवण, शिक्षा, उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

"अधिगम, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा तथा उपदेश ये सब समानार्थक शब्द हैं।"

प्रश्न है—अधिगम का अर्थ ज्ञान होता है, इससे निसर्गज में बिना ज्ञान के पदार्थों का श्रद्धान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि दोनों के अन्तरंग कारण समान है। एक को बाह्य उपदेश के बिना ज्ञान व श्रद्धान होता है, दूसरे को होता है बाह्योपदेशपूर्वक ज्ञान। यही अन्तर है।

इस दृष्टि से परोपदेश आदि के द्वारा—एक शब्द में कहें तो परसंयोग या बाह्य निमित्त से जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह अधिगमज-सम्यग्दर्शन है। गुरु आदि के उपदेशरूप निमित्त से होने वाला सत्यबोध या तत्त्वश्रद्धान अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आशय यह है कि अधिगमज-सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में शास्त्र-स्वाध्याय, गुरु के उपदेश आदि किसी न किसी परसंयोग या परनिमित्त की अनिवार्यता है। यद्यपि अन्तरंग कारण तो जैसे निसर्गज-सम्यग्दर्शन में दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम भाव आवश्यक है, वैसे ही अधिगमज-सम्यग्दर्शन में भी आवश्यक है, तथापि अधिगमज-सम्यग्दर्शन के लिए बाह्य निमित्त भी अपेक्षित है।

निष्कर्ष यह है कि जो सम्यग्दर्शन बाह्य एवं अन्तरग दोनो कारणों की अपेक्षा रखता है, वह अधिगमज-सम्यग्दर्शन है। आत्मा की उपादान-शक्ति, स्वरूप-शुद्धि तो दोनों में अपेक्षित है ही।

लोक व्यवहार में हम देखते है कि कुछ व्यक्ति बिना किसी की शिक्षा, उपदेश या मार्गदर्शन के स्वयमेव अपने ही अभ्यास एव श्रम से अपनी कला एव अपने कार्य में कुशल हो जाते है, जबकि कुछ व्यक्ति किसी भी कला में या कार्य में निपुणता प्राप्त करने के लिए गुरुजनों के उपदेश एवं अभि-

भावकों के मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हैं। इसी प्रकार निसर्गज-सम्यग्दर्शन अध्यात्म-क्षेत्र की वह कला है, जो व्यक्ति के आन्तरिक पुरुषार्थ एवं आत्मा की शक्ति से प्राप्त की जाती है, जबकि अधिगमज-सम्यग्दर्शन भी अध्यात्म-जीवन की एक कला है, जिसे हस्तगत करने के लिए दूसरों के सहकार (उपदेश आदि) की अपेक्षा रहती है।

वास्तव में दूसरों के सहकार की तो एक सीमा होती है। वही सर्वस्व नहीं है। मूल वस्तु तो अपने अन्दर का जागरण है। आत्मा की उपादान शक्ति की तैयारी है। कोई व्यक्ति गुरु का उपदेश भी सुने किन्तु अपने हृदय में उसे धारण न करे, उस उपदेश का वास्तविक अर्थ न समझे तो उसे उस उपदेश से कैसे सम्यग्दर्शन हो जाएगा? अतः मूल वस्तु तो अपना उपादान है। □

५. सम्यग्दर्शन के अंग

सम्यग्दर्शन के अंग : क्यों, कैसे?

सम्यग्दर्शन के विविध रूपों को भली-भांति समझने के बाद इसके अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है, क्योंकि यदि उसके (सम्यग्दर्शन के) अंग सुरक्षित न हो तो उसकी (सम्यग्दर्शन की) सुरक्षा होना कठिन होता है। जैसे राजा शक्तिमान और वीर होने पर भी यदि सेना, कोष, मन्त्रिमण्डल आदि उसके अंग सुरक्षित और सशक्त न हों तो अकेला राजा शत्रु-राजाओं को हराने, अपनी और राज्य की सुरक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन चाहे कितने प्रभावशाली रूप में व्यक्ति के जीवन में रम गया हो, किन्तु यदि निःशंकता आदि आठों अंगों में से कोई अंग कट गया है, या सुरक्षित नहीं है, तो सम्यक्त्व सुरक्षित नहीं रह सकेगा, उसमें चल, मल एवं अगाढ़ आदि भयंकर दोष प्रविष्ट हो जाएँगे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट कहा है—

> नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
> न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥[1]

"जिस मन्त्र में एक, दो अक्षर कम हो, वह मन्त्र जैसे विष की वेदना नष्ट नहीं कर सकता, वैसे ही किसी भी अंग से हीन सम्यग्दर्शन भी संसार की जन्म-मरणरूप परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता।"

मनुष्य के शरीर में आँख, नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर आदि में से एक भी अंग न हो तो उसका शरीर-सौन्दर्य कम हो जाता है, शरीर सुडौल

---

१ (क) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २१।
(ख) चारित्रसार, ६।१

और मुकुट नहीं कहलाता, शरीर की शोभा भी कम हो जाती है वैसे ही सम्यग्दर्शन के साथ किसी भी अंग का अभाव हो या वह अंग निर्दोष न हो तो उसका सौन्दर्य और सौष्ठव कम हो जाता है, वह जीवन को मोक्ष-पथ के लिए सुपुष्ट नहीं कर पाता, सम्यग्दर्शन की शोभा भी अंगों के अभाव में नहीं रहती। इसलिए जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन के साथ उसके आठ अंग उसे सुपुष्ट और सुन्दर बनाने के लिए निश्चित किये हैं, साथ ही व्यवहार सम्यग्दर्शन की पहचान के लिए भी उन आठ अंगों का होना अनिवार्य बताया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मूर्धन्य ग्रन्थों एवं शास्त्रों में इन आठ अंगों के नाम, उनके स्वरूप और लक्षणों का वर्णन मिलता है।

लाटी संहिता में अंग, गुण और लक्षण (चिह्न) इन शब्दों को एकार्थक माना है। जैसे राजा में राजा के गुण न हों तो राजसी पोशाक होने पर भी कोई उसे राजा मानने को तैयार नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन से सम्बद्ध बाह्य गुण न हों तो केवल सम्यक्त्व ग्रहण कर लेने या ऊपर से देव, गुरु, धर्म, शास्त्र या तत्त्वों पर श्रद्धान मात्र से सहसा कोई भी उसे सम्यग्दृष्टि मानने या कहने अथवा समझने को तैयार नहीं होगा। इसी प्रकार राजा में राजत्व के लक्षण न हों तो कोई उसे राजा नहीं मानता, वैसे ही सम्यक्त्वी में भी सम्यक्त्व के लक्षण न हों तो उसका सम्यक्त्व व्यवहार में यथार्थ नहीं माना जाता। इसीलिए सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्दर्शन के अंग होने आवश्यक हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

उत्तराध्ययन सूत्र आदि में सम्यग्दर्शन के आठ अंग इस प्रकार बताए गए हैं :—

> निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय।
> उववूह-थिरीकरणे वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥[1]

"(१) निःशंकता, (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अंग हैं।"

---

१ (क) उत्तराध्ययन, २८।३१।
(ख) प्रज्ञापनासूत्र, पद १।
(ग) प्रवचनसारोद्धार—द्वार विचार, भा० २।

यों तो इहलोकभय के कई कारण हैं किन्तु दो कारण मुख्य हैं—इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग ।

चेतन (माता-पिता, परिवार आदि) या अचेतन (धन आदि) किसी भी प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने, नष्ट हो जाने पर सम्यग्दृष्टि के मन में व्याकुलता नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि जो भी, जितना भी, जैसा भी पर-पदार्थों का संयोग है उसका एक दिन अवश्य ही वियोग होगा। संयोग-वियोग होना तो संसार का नियम है। सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार को एक खेल समझता है और स्वयं को एक खिलाड़ी। संसार के इस खेल में कभी हार होती है, कभी जीत, कभी संयोग तो कभी वियोग। जो कुछ बाहर से आता है, वह 'पर' है, जो 'पर' है, वह एक दिन जाएगा ही। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी इष्टवियोग सहना पड़े तो समभाव से सहता है, वह डरता नहीं। इष्टवियोग उसके धर्मपालन में बाधक नहीं होता। क्योंकि वह इन सबको आत्मा से सर्वथा भिन्न समझता है। भोग्य धन-सम्पत्ति सुख-सुविधा या इष्ट पदार्थों के चले जाने का भी उसे भय नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि का दृढ़ विश्वास होता है—'मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूप है, वह निश्चयदृष्टि से नित्य है। यह जो बाहर दृश्यमान लोक है, संसार नाम से प्रसिद्ध है, वह मेरा लोक नहीं है। अतः इहलोक सम्बन्धी भय मुझे कैसे हो सकता है ?' अतः वह अन्तर् में तो शुद्ध आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को अनिष्टसंयोग का भी डर नहीं रहता। पुत्र कपूत या उद्धत निकल गया, पत्नी कर्कशा एवं झगड़ालू मिल गई, या कोई वस्तु चाहिए थी ठंडी, स्वादिष्ट मीठी, पर मिल गई, बेस्वाद और कड़वी; तो भी सम्यग्दृष्टि इन अनिष्टसंयोगों से भय एवं घबराहट के मारे अन्यत्र भागता नहीं, वह अपने स्वधर्म—समभाव, शान्ति (प्रशम) भाव में डटा रहता है। मिथ्यादृष्टि तो इष्टवियोग या अनिष्टसंयोग से सदा डरता रहता है, मगर सम्यग्दृष्टि नहीं डरता। यह धन मेरे पास टिका रहेगा या नहीं ? दैवयोग से मेरे घर में कभी दरिद्रता न आ जाये इस प्रकार की चिन्ताएँ, भय, शंकाएँ सम्यग्दृष्टि को नहीं घेरतीं।

(२) परलोकभय—इसका अर्थ है—अपने से विजातीय किसी पशु पक्षी, देव आदि से होने वाला भय। सम्यग्दृष्टि जीव विचार है—आत्मा तो नित्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य है, ...

गई है। यहाँ 'सम्यग्दृष्टि को भय नहीं होता' ऐसा कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि उसके जीवन में किसी भी प्रकार का किसी भी अंश में भय नहीं रहता। यहाँ तो सिर्फ इतना ही कहना अभीष्ट है कि सम्यग्दर्शन-विघातक ७ प्रकार के भयों में से किसी भी प्रकार का भय सम्यक्त्वी को नहीं रहता। यों अगर देखा जाय तो सम्यक्त्वी ही नहीं, देशविरत श्रावक और सर्वविरत साधु भी पापभीरु होते हैं, लेकिन यह पाप से भय उनका गुण ही है, दोष नहीं। अतः ऐसे धर्मवृद्धिकारक भय की यहाँ परिगणना नहीं की गई है। यहाँ तो सिर्फ मिथ्यात्व-मोहजनित भय की ही अपेक्षा की गई है।

अब इन सातों प्रकार के भयों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(१) इहलोकभय—यह सात भयों में सबसे पहला भय है। इहलोक का अर्थ है—मनुष्य के लिए अपना सजातीय समाज—मानव-समाज। परलोक का अर्थ है—विजातीय समाज। परलोक में पशु-पक्षी, सुर-असुर, नारक आदि सभी विजातीयों का समावेश हो जाता है। इहलोकभय से रहित का अर्थ यह हुआ कि सम्यग्दृष्टि को अपने परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय, जाति आदि से सम्बन्धित किसी प्रकार का भय नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि अपनी व्यक्तिगत (आत्मा की) उन्नति के लिए समाज और सम्प्रदाय की उन्नति के कार्य करता है, इसी को वह अपना व्यावहारिक धर्म—कर्तव्य समझता है। इस धर्म के पालन में कई व्यक्ति मोह, स्वार्थ, द्वेष, वैर-विरोध आदि के कारण रोड़ा अटकाते हैं, विघ्न-बाधाएँ डालते हैं, विरोध करते हैं अथवा मनुष्यगण कुप्रचलित धर्मविरुद्ध—कर्तव्यविरुद्ध कार्य करने के लिए उस पर दबाव डालते हैं, दुराग्रह और हठाग्रह करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि उस समय में निर्भय होकर अपने धर्म पर दृढ़ रहता है। [illegible] आने वाली हैं, उनसे घबराकर, डरकर भागता नहीं, कर्तव्यच्युत नहीं होता, धर्मभ्रष्ट नहीं होता। सम्यग्दृष्टि उन पर विजय प्राप्त कर [illegible] [illegible] विजेता होता है।

इहलोक-भय का अर्थ दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में 'इस जन्म का भय' किया गया है। इस जन्म में व्यक्ति को भय [illegible] है, [illegible] इस जन्म में किसी [illegible] का [illegible] पर-पदार्थ से [illegible] है वह [illegible] इस जन्म के दुःखों, [illegible] विघ्न-बाधाओं आदि को देखकर [illegible] [illegible] है।

रक्षा—त्राण के लिए न तो किन्ही देवी-देवों की मनौती करके उन पर पशु-बलि चढाते है, न ही निरीह मूक पशुओ का रक्त बहाते है, न अन्धविश्वास के शिकार होकर धर्म और नीति से विरुद्ध या अपने सम्यग्दर्शन के विरुद्ध कार्य करते है ।

बहुत से मिथ्यादृष्टि लोग किसी का संरक्षण या जीविका के रूप में अवलम्बन छूट जाने के भय से ऐसा सोचते है कि अगर मैं ऐसी बात कहूँगा तो अमुक सेठजी नाराज हो जाएँगे, इन्कम टैक्स (Income tax), सेलटैक्स (Sales tax) आदि करों की चोरी के लिए नकली बहीखाते नही तैयार करूँगा तो मेरी नौकरी छूट जाएगी, या अमुक की ओर से सहायता मिलनी बन्द हो जाएगी । मेरी रक्षा कौन करेगा ? इस प्रकार का अत्राण भय उन्हे खरीदे हुए गुलाम या चापलूस बना देता है । अत्राणभय के कारण सैकडो विद्वान् सत्यमार्ग से विमुख, पराधीन, अविचारक गतानुगतिक एव मिथ्या-दृष्टि बने रहते हैं । सम्यग्दृष्टि मे ऐसा अत्राणभय नही होता ।

केवल श्रीमानों या सत्ताधीशो की तरफ से ही ऐसा अत्राणभय नही होता, साधारण जनता की ओर से भी होता है—कही समाज ने बहिष्कृत कर दिया तो मेरे साथ कौन रहेगा ? अकेला हो जाने पर मेरी क्या दशा दशा होगी ? नौकरी छूटने पर मेरा क्या होगा ? इत्यादि विभीषिकाएँ अत्राणभय के फल है । यह कायरता की निशानी है, जो सम्यग्दृष्टि मे नही होती । वह संघ की सेवा करता है, विनयभक्ति करता है, परन्तु संघ के तथाकथित लोगो से डरकर वह झूठी एवं मिथ्या कुरूढि का समर्थन नही करेगा, वह झूठी खुशामद से दूर रहेगा । अपनी असहायावस्था के डर से वह असत्य के आगे झुकने को तैयार न होगा । अत्राणभय से मुक्त सम्यग्दृष्टि की यही विशेषता है ।

(४) अकस्मात्-भय—कर्तव्य-मार्ग मे आकस्मिक दुर्घटनाओ का भय अकस्मात् भय या आकस्मिक भय कहलाता है । आकस्मिक भय एक प्रकार का वहम होता है, और यह मिथ्यादृष्टि को पद-पद पर होता है, क्योंकि वह आत्मा की अमरता, नित्यता एव आत्मस्वरूप तथा आत्मशक्ति के प्रति अश्रद्धाशील होता है, पर-पदार्थो के प्रति ही उसे विश्वास होता है । इसलिए आकस्मिक दुर्घटना का भय उसके दिमाग मे प्रतिक्षण सवार रहता है—कही एक्सीडेंट हो गया तो ? कही रेलगाडी टकरा गई तो ? कही बिजली गिर पड़ी तो ? अगर मकान गिर पडा और मैं दब गया तो ? घर पर अचानक चोर-डाकुओ ने हमला कर दिया तो ? बम गिर गया, धरती

रक्षा—त्राण के लिए न तो किन्हीं देवी-देवों की मनौती करके उन पर पशु-बलि चढ़ाते हैं, न ही निरीह मूक पशुओं का रक्त बहाते हैं, न अन्धविश्वास के शिकार होकर धर्म और नीति से विरुद्ध या अपने सम्यग्दर्शन के विरुद्ध कार्य करते है।

बहुत से मिथ्यादृष्टि लोग किसी का संरक्षण या जीविका के रूप में अवलम्बन छूट जाने के भय से ऐसा सोचते हैं कि अगर मैं ऐसी बात कहूँगा तो अमुक सेठजी नाराज हो जाएँगे इन्कम टैक्स (Income tax), सेलटैक्स (Sales tax) आदि करों की चोरी के लिए नकली बहीखाते नहीं तैयार करूँगा तो मेरी नौकरी छूट जाएगी, या अमुक की ओर से सहायता मिलनी बन्द हो जाएगी। मेरी रक्षा कौन करेगा? इस प्रकार का अत्राण भय उन्हें खरीदे हुए गुलाम या चापलूस बना देता है। अत्राणभय के कारण सैकड़ों विद्वान सत्यमार्ग से विमुख, पराधीन, अविचारक गतानुगतिक एवं मिथ्या-दृष्टि बने रहते है। सम्यग्दृष्टि में ऐसा अत्राणभय नहीं होता।

केवल श्रीमानों या सत्ताधीशों की तरफ से ही ऐसा अत्राणभय नहीं होता, साधारण जनता की ओर से भी होता है—कहीं समाज ने बहिष्कृत कर दिया तो मेरे साथ कौन रहेगा? अकेला हो जाने पर मेरी क्या दशा दशा होगी? नौकरी छूटने पर मेरा क्या होगा? इत्यादि विभीषिकाएँ अत्राणभय के फल हैं। यह कायरता की निशानी है, जो सम्यग्दृष्टि में नहीं होती। वह संघ की सेवा करता है, विनयभक्ति करता है, परन्तु संघ के तथाकथित लोगों से डरकर वह झूठी एवं मिथ्या बुद्धि का समर्थन नहीं करेगा, वह झूठी खुशामद से दूर रहेगा। अपनी असहायावस्था के डर से वह असत्य के आगे झुकने को तैयार न होगा। अत्राणभय से मुक्त सम्यग्दृष्टि की यही विशेषता है।

(४) अकस्मात्-भय—कर्तव्य-मार्ग में आकस्मिक दुर्घटनाओं का भय अकस्मात् भय या आकस्मिक भय कहलाता है। आकस्मिक भय एक प्रकार का वहम होता है, और यह मिथ्यादृष्टि को पद-पद पर होता है, क्योंकि वह आत्मा की अमरता, निर्भयता एवं आत्मस्वरूप तथा आत्मशक्ति के प्रति अश्रद्धाशील होता है, पर-पदार्थों के प्रति ही उसे विश्वास होता है। इसलिए आकस्मिक दुर्घटना का भय उसके दिमाग में प्रतिक्षण सवार रहता है—कहीं एक्सीडेंट हो गया तो? कहीं रेलगाड़ी टकरा गई तो? कहीं बिजली गिर पड़ी तो? अगर मकान गिर पड़ा और मैं दब गया तो? घर पर अचानक चोर-डाकुओं ने हमला कर दिया तो? बस!

अमूर्त, निरामय आत्मा में वे कभी नहीं हो सकते। रोगादि होने से इन्द्रिय-सुखों में बाधा पहुँचती है, इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रियसुखों में तल्लीन है, उसे ही वेदनाभय होता है। सम्यग्दृष्टि इन्द्रियसुखों को हेय और 'पर' समझता है। इसलिए वह उनमें होने वाली बाधाओं से कभी भयभीत नहीं होता। इसी कारण उसे वेदनाभय भी नहीं होता।

लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि रोग होने पर सम्यक्त्वी उसका उपचार ही नहीं करायेगा। उपचार तो वह करायेगा क्योंकि इस शरीर को उसे धर्मसाधनार्थ टिकाये रखना है, नीरोग बनाये रखना है, किन्तु वह न वेदना से छटपटाता है और न ही घबराता है—भयभीत होता है। इसका मुख्य कारण उसका देहाध्यास न होना है, उसकी दृष्टि का आत्मलक्ष्यी होना है।

(६) अपयशभय या अश्लोकभय—इन दोनों का भावार्थ एक ही है। पूजा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशंसा, सम्मान-सत्कार, यश-कीर्ति, वाहवाही आदि अनेक प्रकार के यश के छिन जाने का भय अश्लोक-भय या अपयश-भय है।

साधारण व्यक्ति अपनी प्रशंसा, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि को बनाए रखना चाहता है, चाहे उसके लिए कितनी ही तिकड़मबाजी, झूठ-फरेब या मिथ्या विज्ञापन करना पड़े। वह चोर आदि से नहीं डरता, न मरने से और न ही आजीविका का साधन नष्ट हो जाने से डरता है, वह डरता है—प्रतिष्ठा में दाग लग जाने से, बदनामी से, लोक-निन्दा से। प्रायः यह देखा जाता है, कि अगर वह कुमार्ग पर जा रहा है और उसकी प्रशंसा हो रही है, उसके मिथ्या प्रशंसक उसकी तारीफ के पुल बाँध रहे हैं तो वह उस कुमार्ग से भी हटना नहीं चाहता, क्योंकि उसे यह चिन्ता होती है कि अगर इस प्रकार लोकप्रशंसित कुमार्ग को छोड़ दिया तो लोग मेरी प्रशंसा करना छोड़ देंगे। उसे अपयश का एक कण भी बर्दाश्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति कर चोरी, रिश्वतखोरी, झूठ, दगा, ठगी आदि करके धन का उपार्जन कर रहा है, धनवान बन रहा है, समाजपति, नगरपति, मिल-मालिक, उद्योगपति बन गया है और समाज के लोग, चापलूस उसकी प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं तो वह इन पाप-कर्मों, अनैतिक कार्यों से और भी उत्साहपूर्वक लगा रहेगा। क्योंकि इनके विपरीत नैतिक कार्यों को करने से धन उपार्जन कम होगा और उसका अपयश होगा, जो उसे बर्दाश्त नहीं है।

किन्तु सम्यग्दृष्टि यह सोचता है कि लोगों द्वारा प्राप्त होने वाले यश और अपयश दोनों क्षणिक हैं। आज ये लोग मेरी, मेरे कार्यों की प्रशंसा

फट गई या कोई संकट आ पड़ा तो ? आग लग गई तो ? इस प्रकार के अगणित भय अकस्मात् भय की कोटि में आते है ।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा की नित्यता-अमरता पर पूर्ण विश्वास होता है, अत वह कभी अकस्मात् भय का शिकार नही होता।

(५) वेदनाभय अथवा आजीविकाभय—आजीविकाभय अत्राणभय में गर्भित हो जाता है, इसलिए यहाँ 'वेदनाभय' पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।

शरीर में वात-पित-कफ इन तीनो दोषो के कुपित हो जाने से जो बाधाएँ होती है, या जिनके आने की सम्भावनाएँ है, उनके आने से पहले ही मोहनीयकर्मोदयवश जो कम्पन होता है, भय होता है, या उन पीडाओ के होने पर जो रोना-बिलखना, हाय-हाय करना आदि रूप में आर्तध्यान होता है, उसे वेदनाभय कहते है ।

रोग आदि की वेदनाओं का भय सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य-मार्ग में विघ्न नही पहुँचा पाता । जो कर्तव्य पर डटा रहता है, निर्लिप्त होकर सब कार्य करता है, जो भोजनादि पर-पदार्थों का सेवन अपने धर्म-पालनार्थ केवल शरीर को टिकाने के लिए करता है, उसे सहसा रोग आते ही नहीं, और कदाचित् पूर्वकृत अशुभकर्मोदयवश रोग आ भी जाएँ तो वह घबराता नही, भयभीत होकर रोता-चिल्लाता नही; समभाव से सह लेता है। मुझे शीघ्र ही आराम हो जाए या फिर ऐसा रोग कभी न हो, किसी प्रकार का कष्ट या संकट न हो, इस प्रकार बार-बार शंकावश मानसिक चिन्ता करते रहना, रोग के भय से मूर्च्छित हो जाना वेदनाभय है ।

रोग बड़े से बड़े धैर्यशील वीर पुरुष को भी अधीर और कायर बना देता है, शरीर के रोम-रोम मे रोग भरे पडे हैं, न जाने कब कौन-सा रोग फूट पड़े। 'यद्यपि सभी मनुष्य सदा नीरोग और प्रसन्न बने रहना चाहते है, किन्तु किसी मनुष्य का मनचाहा तो कभी नहीं होता, होता है वही, जो होना होता है।' इस स्वर्णसूत्र को पकडकर सम्यग्दृष्टि आत्मा सब प्रकार की आधि-व्याधि-उपाधिजन्य वेदनाओ से व्याकुल नहीं होता। चाहे शारीरिक वेदना हो या मानसिक, सम्यग्दृष्टि को वह व्याकुल-अशान्त नहीं बना सकती, क्योंकि उसकी दृष्टि देह पर नहीं, देह में निवास करने वाले अजर-अमर, निरामय देही (आत्मा) पर ही होती है। वह तन के रोग को अपना (आत्मा का) रोग नही समझता है ।

संसार में जितनी भी व्याधियाँ है, वे सब शरीर मे ही होती

पर चल रहा हूँ, तो मुझे अपयश का क्या डर ? सम्यग्दृष्टि निन्दा-स्तुति की
परवाह किये बिना सत्यपथ पर अविचल एवं निर्भय होकर चलता है। सन्त
साधु जन यदि लोगों के द्वारा की जाने वाली निन्दा की परवाह करते तो
कभी सत्य की राह पर नहीं चल सकते थे। अतः सम्यग्दृष्टि सत्य की
स्वधर्म की एवं सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपयश और निन्दा से भयभीत
नहीं होता।

(७) मरणभय—यह सातवाँ भय है। यह सबसे भयंकर भय है,
साधारण मानव को प्रतिपल भयभीत करता रहता है। पाँच इन्द्रियाँ, म
वचन-कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, इन दस प्राणों का नाश हो
मृत्यु है। साधारण आदमी को अपने शरीर और प्राणों के नाश (मरण) का
का मन में डर बना रहता है। जिस समय मृत्यु आकर सिरहाने खड़ी हो
है, उस समय बड़े-बड़े कोटिभट वीर और धैर्यशाली भी प्रकम्पित हो
है। जिस समय कोई प्राण ले रहा हो, उस समय भय के मारे गिड़गि
लगते हैं।

मृत्यु शब्द भी संसार में किसी जीव को प्रिय नहीं है। मरण किसी
भी प्रिय नहीं होता। जिस समय मनुष्य के प्राणों पर बीतती है,
समय प्राणों से भी अधिक प्रिय धन को, प्रिय जन को अपनी जीवन-रक्षा
लिए छोड़ने को तैयार हो जाता है। इतना भयंकर है मौत भय।

मगर सम्यग्दृष्टि आत्मा को मृत्यु से कोई भय नहीं होता। उसका
विश्वास होता है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता, आ
तो अजर-अमर है। आत्मा का नाश कदापि नहीं होता, नाश होता है
का। शरीर 'पर' है, अगर उसका नाश होता है तो उससे मेरी क्या हानि
है ? सम्यग्दृष्टि मृत्यु को एक प्रकार से नाटक का पटाक्षेप समझता
वह अवसर आने पर धर्मपालन के लिए शरीर को पुराने जीर्ण वस्त्र
तरह छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। कर्तव्य-पालन के लिए
का वरण करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। आगे और
कल्याण के लिए वह अपना बलिदान देने में भी नहीं चूकता।
सम्यग्दृष्टि मृत्युञ्जयी होता है। आचारांग सूत्र की भाषा में—
[illegible]—'सत्य की आज्ञा में उपस्थित
सम्यग्दृष्टि मृत्यु को भी पार कर जाता है।' वह मृत्यु से
[illegible] है।

[illegible] आदि के भय से, दुर्घटना से, या [illegible]

से मृत्यु को स्वीकार करते हैं, वे मृत्यु के भय से मुक्त नहीं, वे मोही जीव हैं, कायर हैं, आत्मघाती हैं।

इस प्रकार सातों प्रमुख भयों से मुक्त सम्यग्दृष्टि निःशंकित होता है।

राजगृह का जिनदत्त सेठ अपनी आत्मा, देव, गुरु, धर्म एवं तत्त्वों पर पूर्ण रूप से श्रद्धाशील था। इसके प्रति शंका या भय उसके रोम-रोम में नहीं था।

एक बार वह पौषधोपवास व्रत धारण करके श्मशान भूमि में ध्यानस्थ था, तब दो असुर देव उसके पास उसकी परीक्षा लेने के लिए आए कि इस जैनधर्मानुरक्त गृहस्थ की आत्मा कितनी निर्भय-निःशंक है? यह अपने धर्म के प्रति कितना विश्वस्त है? उन देवों ने जिनदत्त सेठ को ध्यानावस्था में घोर उपसर्ग किया, अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाए, लेकिन अविचल श्रद्धाशील जिनदत्त सेठ जरा भी भयभीत न हुआ। उन घोर उपसर्गों को समभाव से सहा, धर्म से चलायमान न हुआ। भय के कारण उपस्थित होने पर भी आत्मभावों से विचलित न होना दृढ़ता से धर्म में स्थिर रहना, इसे ही निःशंकता कहते हैं. सेठ के धर्म में निःशंकित भाव से प्रसन्न होकर देवों ने उन्हें आकाशगामिनी विद्या दी।[1]

यह है निःशंकता—निर्भयता का ज्वलन्त उदाहरण!

निःशंकित का एक अर्थ और प्रचलित है—शंका रहित होना। शंका का अर्थ है—सन्देह। यह तत्त्व है या यह? यह व्रत है या वह? यह देव है या वह? इस प्रकार के संशय को शंका कहते हैं।[2] जिसका चित्त इस प्रकार से डांवाडोल है, उस शंकाकुल व्यक्ति का सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं

एक आचार्य निःशंकित का अर्थ करते हैं—'सर्वज्ञ जिनोक्त पर किसी भी प्रकार की शंका न रखना।' जैसे आचारांग में कहा तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।[3] चाहे पर्वतमाला चलायमान अग्नि शीतल हो जाए, तथापि वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथि स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता. इस प्रकार की अचल श्रद्ध

---

१. (क) उत्तराध्ययन।
(ख) [illegible]।
(ग) [illegible]।

२ उत्तराध्ययन, [illegible] ३।१४८।

३ आचारांग, १।५।५।१६३।

र चल रहा हूँ, तो मुझे अपयश का क्या डर ? सम्यग्दृष्टि निन्दा-स्तुति की परवाह किये बिना सत्यपथ पर अविचल एवं निर्भय होकर चलता है। सन्त-साधु जन यदि लोगों के द्वारा की जाने वाली निन्दा की परवाह करते तो वे कभी सत्य की राह पर नहीं चल सकते थे। अतः सम्यग्दृष्टि सत्य की, स्वधर्म की एवं सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपयश और निन्दा से भयभीत नहीं होता।

(७) मरणभय—यह सातवाँ भय है। यह सबसे भयंकर भय है, जो साधारण मानव को प्रतिपल भयभीत करता रहता है। पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, इन दस प्राणों का नाश होना मृत्यु है। साधारण आदमी को अपने शरीर और प्राणों के नाश (मरण) होने का मन में डर बना रहता है। जिस समय मृत्यु आकर सिरहाने खड़ी होती है, उस समय बड़े-बड़े कोटिभट वीर और धैर्यशाली भी प्रकम्पित हो जाते है। जिस समय कोई प्राण ले रहा हो, उस समय भय के मारे गिड़गिड़ाने लगते हैं।

मृत्यु शब्द भी संसार में किसी जीव को प्रिय नहीं है। मरण किसी को भी प्रिय नहीं होता। जिस समय मनुष्य के प्राणों पर बीतती है, उस समय प्राणों से भी अधिक प्रिय धन को, प्रिय जन को अपनी जीवन-रक्षा के लिए छोड़ने को तैयार हो जाता है। इतना भयंकर है मौत भय।

मगर सम्यग्दृष्टि आत्मा को मृत्यु से कोई भय नहीं होता। उसका दृढ़ विश्वास होता है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता, आत्मा तो अजर-अमर है। आत्मा का नाश कदापि नहीं होता, नाश होता है शरीर का। शरीर 'पर' है, अगर उसका नाश होता है तो उससे मेरी क्या हानि होती है ? सम्यग्दृष्टि मृत्यु को एक प्रकार से नाटक का पटाक्षेप समझता है। वह अवसर आने पर धर्मपालन के लिए शरीर को पुराने जीर्ण वस्त्र की तरह छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। कर्तव्य-पालन के लिए मृत्यु का वरण करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। अपने और जगत् के कल्याण के लिए वह अपना बलिदान देने में भी नहीं चूकता। वास्तव में सम्यग्दृष्टि मृत्युंजयी होता है। आचारांग सूत्र की भाषा में—सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ—'सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी सम्यग्दृष्टि मृत्यु को भी पार कर जाता है।' वह मृत्यु के प्रति निर्भय बना होता है।

कई लोग जो अपयश के भय से, इष्टवियोग से, या धननाश के

शरीर की स्वस्थता, स्त्री-पुत्र, आदि के अधीन है; आयु, जीविका, क्षेत्र, काल, इन्द्रियों की पूर्णता के अधीन है। पहले तो इन्द्रियजनित सुख हजारों पराधीनताओं सहित है, थोड़े-से समय तक भोगने के बाद यह नष्ट हो जाता है, तथा वह सुख भी लगातार नहीं रहता, कभी तो कोई रोग आ जाता है, कभी अनिष्ट का संयोग, कभी स्त्री-पुत्र-मित्रादि का वियोग, कभी अपमान, कभी धन की हानि, कभी कोई अन्य संकट आ पड़ता है। कि इन्द्रियजनित सुख पाप का बीज है, क्योंकि इन्द्रियविषय-सुखों की लालसा ए लीनता से मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है, और घोर आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त हो, विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए अन्याय, अनीति युद्ध, कलह, द्वेष, वैर-विरोध आदि करता है, जिससे भयंकर पापकर्मों क बन्ध होता है। आत्मा को तिर्यंच आदि दुर्गतियों में भटकाता है। यह कारण है कि सम्यग्दृष्टि ऐसे अनेक दोषों से युक्त इन्द्रियजनित सुख क सुखरूप नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को आत्मसुख की अनुभूति हो जाने क कारण वह इन्द्रियजनित सुख-वैभव की बिलकुल आकांक्षा नहीं करता।

किसी-किसी विद्वान ने निष्कांक्षता का अर्थ किया है—किसी सु कार्य के करने पर इहलौकिक-पारलौकिक सुख-भोगों की वांछा न करना कर्म और कर्मफलों को अपना न मानना।

सुख का आकर्षण या प्रलोभन साधक को साधना मार्ग से विचलित कर देता है। इसलिए निष्कांक्षित का यह अर्थ किया गया कि सुख दुःख को कर्मों का फल समझकर सुख की आकांक्षा न करे तथा दु द्वेष न करे। अथवा यह भी अर्थ किया गया कि सम्यग्दृष्टि जीव ! मे दृढ़ रहे, पर-धर्म और पर-दर्शन के आडम्बर और चकाचौंध दे उसकी आकांक्षा न करे।

निष्कांक्षित गुण के सम्बन्ध में अनन्तमती का उदाहरण प्रसिद्ध चम्पानगरी के सेठ प्रियदत्त की पुत्री अनन्तमती ने अष्टाह्नि पर्व के प्रथम दिन अपने माता-पिता के द्वारा आठ दिनों के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण करने बाद उनकी प्रेरणा से आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण क लिया था।

धीरे-धीरे अनन्तमती ने यौवन-अवस्था में पदार्पण किया। मा पिता उसके विवाह की [illegible] करने लगे तो उसने अपनी आजीवन ब्रह्म [illegible] भ्रम दूर किया।

मदनोत्सव के दिन रूपवती अनन्तमती झूला झूलने के लिए अपनी सखियों के साथ उद्यान में गई। तभी आकाशमार्ग से जाता हुआ कुण्डल-मण्डित विद्याधर उसके रूप, यौवन को देखकर मोहित हो गया और उसे अपहरण करके ले गया। किन्तु आधे मार्ग में अपनी पत्नी को कुपित होते देखकर शंखपुर के निकटवर्ती भीमवन में छोड़ दिया। वहाँ शिकार खेलने को आए हुए भिल्लराज भीम ने उसे देखा और वह कामान्ध उससे बलात्कार करना चाहता था कि वनदेवी ने अनन्तमती की रक्षा की। भिल्लराज क्षमा माँगकर चला गया। शंखपुर के निकटवर्ती पर्वत के पास व्यापारियों का दल ठहरा हुआ था। व्यापारी दल के अधिपति ने अनन्तमती को अपने चंगुल में फँसाने का प्रयत्न किया। जब वह किसी भी तरह वश में न हुई तो अयोध्या की व्यालिका नामक वेश्या को उसे सौंप गया। व्यालिका वेश्या ने उसे तरह-तरह से लुभाने का प्रयत्न किया, पर सफलता न मिली तो उसने अयोध्या के राजा सिंह को अनन्तमती भेंटस्वरूप दे दी। राजा सिंह ने जब सभी उपायों में असफल होकर अनन्तमती से बलात्कार करना चाहा तभी नगर-देवता ने आकर उसकी रक्षा की।

उसके चंगुल से छूटकर अनन्तमती अपनी फूफी (बूआ) सुदेवी तथा फूफा जिनेन्द्रदत्त के यहाँ रहने लगी। यहाँ एक दिन अनन्तमती का पिता अपने बहनोई जिनेन्द्रदत्त से मिलने के लिए आया। अपनी पुत्री—अनन्तमती को देखकर उसने बहुत खेद किया और उससे विवाह करने का अनुरोध किया, लेकिन अनन्तमती ने अपनी आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की याद दिला दी। अन्तत उसने वहाँ विराजित कमलश्री आर्यिका से भागवती दीक्षा ले ली। वह आर्यिका बन गई और बिना किसी फलाकांक्षा के कठोर तपश्चर्या की।

अनन्तमती ने पिता की साधारण प्रेरणा से आजीवन ब्रह्मचर्य धारण किया और अपने सामने वैभव एवं भोगों के बड़े-बड़े प्रलोभन आने पर भी ठुकरा दिये। उसने निष्कांक्ष भाव से ब्रह्मचर्य और तप की आराधना की।[1]

(३) निर्विचिकित्सा—धर्माचरण के फल की प्राप्ति के सम्बन्ध में सन्देह न करना निर्विचिकित्सा है। 'मैं जो धर्मक्रिया या साधना कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ? कहीं यह साधना व्यर्थ तो नहीं जाएगी ?' इस प्रकार की आशंका रखना 'विचिकित्सा' है।

---

1 उपासक अध्ययन कल्प ८ से संक्षिप्त।

शरीर की स्वस्थता, स्त्री-पुत्र, आदि के अधीन है; आयु, जीविका, क्षेत्र काल, इन्द्रियों की पूर्णता के अधीन है। पहले तो इन्द्रियजनित सुख हजारों पराधीनताओं सहित है, थोड़े-से समय तक भोगने के बाद यह नष्ट हो जाता है, तथा वह सुख भी लगातार नहीं रहता, कभी तो कोई रोग आ जाता है, कभी अनिष्ट का संयोग, कभी स्त्री-पुत्र-मित्रादि का वियोग, कभी अपमान, कभी धन की हानि, कभी कोई अन्य संकट आ पड़ता है। फि इन्द्रियजनित सुख पाप का बीज है, क्योंकि इन्द्रियविषय-सुखों की लालसा ए लीनता से मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है, और घोर आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त हो, विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए अन्याय, अनीति युद्ध, कलह, द्वेष, वैर-विरोध आदि करता है, जिससे भयंकर पापकर्मों क बन्ध होता है। आत्मा को तिर्यंच आदि दुर्गतियों में भटकाता है। यह कारण है कि सम्यग्दृष्टि ऐसे अनेक दोषों से युक्त इन्द्रियजनित सुख क सुखरूप नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को आत्मसुख की अनुभूति हो जाने कारण वह इन्द्रियजनित सुख-वैभव की बिलकुल आकांक्षा नहीं करता।

किसी-किसी विद्वान ने निष्कांक्षता का अर्थ किया है—किसी पु कार्य के करने पर इहलौकिक-पारलौकिक सुख-भोगों की वांछा न करन कर्म और कर्मफलों को अपना न मानना।

सुख का आकर्षण या प्रलोभन साधक को साधना-मार्ग से विचलि कर देता है। इसलिए निष्कांक्षित का यह अर्थ किया गया कि सुख औ दुःख को कर्मों का फल समझकर सुख की आकांक्षा न करे तथा दुःख द्वेष न करे। अथवा यह भी अर्थ किया गया कि सम्यग्दृष्टि जीव स्व में दृढ़ रहे, पर-धर्म और पर-दर्शन के आडम्बर और चकाचौंध देख उसकी आकांक्षा न करे।

निष्कांक्षित गुण के सम्बन्ध में अनन्तमती का उदाहरण प्रसिद्ध है

चम्पानगरी के श्रेष्ठी प्रियदत्त की पुत्री अनन्तमती ने अष्टाहि पर्व के प्रथम दिन अपने माता-पिता के द्वारा आठ दिनों के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण करने बाद उनकी प्रेरणा से आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण क लिया था।

धीरे-धीरे अनन्तमती ने यौवन-अवस्था में पदार्पण किया। मा पिता उसके विवाह की तैयारी करने लगे तो उसने अपनी आजीवन ब्रह्म की प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर उनका भ्रम दूर किया।

शान्ति हृदय में साधना करने वाला व्यक्ति फल के लिए अधीर हो उठता है। परिणामस्वरूप साधना में स्थिरता और धैर्य के अभाव में उसे सफलता नहीं मिलती।

सम्यग्दृष्टि के मन में यह दृढ़ निश्चय होना है कि जो भी धर्माचरण, धर्मक्रिया या साधना की जाती है, उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार फल के प्रति संदेह न होना ही निर्विचिकित्सा है। निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि का एक उत्तम गुण है।

कुछ ग्रन्थकार इसका अर्थ करते हैं कि शरीर स्वभाव से ही गन्दा है, किन्तु उसी में रत्नत्रय से पवित्र आत्मा का निवास है। अतः शरीर के दोषों के प्रति ग्लानि-घृणा या जुगुप्सा न करते हुए उसमें निवास करने वाले आत्मा के सद्गुणों से प्रीति करना निर्विचिकित्सा है। इस अर्थ में से निम्न चार अर्थ फलित होते है—

(१) अपने ही शरीर को मल-मूत्र, अशुचि, रोग-दारिद्र्य आदि का भण्डार जानकर उससे रत्नत्रयरूप धर्मपालन करने के बजाय उसमें ग्लानि करना, नफरत करना और अपने आपको दीन-हीन, धर्माचरण के अयोग्य मानना विचिकित्सा है। ऐसी विचिकित्सा का न होना निर्विचिकित्सा है, जो सम्यग्दृष्टि मे होती है।

(२) शरीर यद्यपि अशुचि का भण्डार है, किन्तु तपस्वी, त्यागी, साधु-साध्वी उसी शरीर से ज्ञान-ध्यान एव तपश्चरण करके तथा महाव्रत, नियम, संयम का पालन करके, स्वपर-कल्याण करके रत्नत्रय की साधना करते हैं। वे शरीर के प्रति उपेक्षा रखते हैं, शरीर को सुसज्जित नहीं करते। उनके शरीर कृश, दुर्बल और बाहर से मलिन देखकर भी उनके प्रति घृणा न करना ही सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा लक्षण है। सम्यग्दृष्टि गुणोपासक होता है, वह वेश-भूषा, शरीर या बाह्य सौन्दर्य न देखकर आत्मा के सौन्दर्य को, आत्मा के शुद्ध गुणों को देखता है, शारीरिक टीपटाप नहीं।

(३) अपनी आत्मा में या अपने में अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करते रहना तथा दूसरे में थोड़े गुण समझकर उसकी निन्दा या बदनामी करना विचिकित्सा है। ऐसी विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि में नहीं होती। इस विचिकित्सा दोष से रहित आत्मा के परिणाम को निर्विचिकित्सा कहते हैं।

(४) जो मनुष्य अपने तीव्र अशुभ कर्मोदय से अत्यन्त दुःखी, रोगी

देव के उस घिनौने शरीर पर न होकर रत्नत्रय के पवित्र गुणों उसकी आत्मा पर थी। राजा स्वयं उठा, उक्त साधु के पास पहुँचा पूर्वक वन्दन किया, और वहीं भावभक्ति से उन्हें सहारा देकर आ में लाया। अपने हाथ से सभी उचित उपचार किये। मुनि की सेवा भाव से की। मुनिवेषी देव राजा को सम्यक्त्व के निर्विचिकित्स अविचल जानकर असली रूप में प्रकट हुआ। राजा से क्षमा मां पाठमात्र से सिद्ध होने वाली अनेक विद्याएँ तथा वस्त्रादि देकर देव लौट गया।[1]

(४) अमूढदृष्टित्व—मूढ का अर्थ मिथ्या या विपरीत है अ शब्द का अर्थ—श्रद्धा, विश्वास या रुचि है। इसका भावार्थ यह है कि में या मिथ्यातत्त्वों में तत्त्वों का श्रद्धान कर लेना मूढदृष्टि है। इस अतत्त्व को तत्त्व मानना, कुगुरु को गुरु मानना, कुदेव को देव मान अधर्म को धर्म मानना मूढ़ता है। जो इस प्रकार की मूढ़ता नहीं क अमूढदृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को देव-कुदेव का, धर्म-कुधर्म का, गुरु पाप-पुण्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का, हित-अहित का, कर्तव्य-अकर्तव्य उपादेय का विवेक होता है। उसके सभी कार्य विवेकपूर्वक होते है

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—

'सम्मदिट्ठी सया अमूढे'[2]

"सम्यग्दृष्टि सदैव अमूढ रहता है, वह कदापि मूढ़ताओं में नहीं फँसता।"[2]

जीवन में विवेक को स्थिर रखने, विचारों को स्वच्छ ए रखने के लिए मूढ़ता का परित्याग आवश्यक है।

मूढ़ता का अर्थ है—अज्ञान, भ्रम, संशय, विपर्यास। शास्त्र मूढ़ताओं का वर्णन है—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, शा आदि। सम्यग्दृष्टि इन मूढ़ताओं से दूर होता है।

मूढ़ताओं के विषय में थोड़ा-सा वर्णन करना उचित होगा।

लोकमूढ़ता—लोकमूढ़ता का क्षेत्र बहुत विशाल है। आचार्य ने कहा है—

---

१. उपासकाध्ययन, कल्प १, पृष्ठ ५६ का संक्षेप।

२. दशवैकालिक, १०।७

देव के उस घिनौने शरीर पर न होकर रत्नत्रय के पवित्र गुणों से युक्त उसकी आत्मा पर थी। राजा स्वयं उठा, उक्त साधु के पास पहुँचा, विधिपूर्वक वन्दन किया, और बड़ी भावभक्ति से उन्हें सहारा देकर अपने भवन में लाया। अपने हाथ से सभी उचित उपचार किये। मुनि की सेवा अन्तर भाव से की। मुनिवेषी देव राजा को सम्यक्त्व के निर्विचिकित्सा अंग में अविचल जानकर असली रूप में प्रकट हुआ। राजा से क्षमा माँगी और पाठमात्र से सिद्ध होने वाली अनेक विद्याएँ तथा वस्त्रादि देकर देवलोक को लौट गया।[1]

(४) अमूढदृष्टित्व—मूढ का अर्थ मिथ्या या विपरीत है और दृष्टि शब्द का अर्थ—श्रद्धा, विश्वास या रुचि है। इसका भावार्थ यह है कि अतत्त्वों में या मिथ्यातत्त्वों में तत्त्वों का श्रद्धान कर लेना मूढदृष्टि है। इसी प्रकार अतत्त्व को तत्त्व मानना, कुगुरु को गुरु मानना, कुदेव को देव मानना, और अधर्म को धर्म मानना मूढता है। जो इस प्रकार की मूढता नहीं करता, वह अमूढदृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को देव-कुदेव का, धर्म-कुधर्म का, गुरु-कुगुरु का, पाप-पुण्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का, हित-अहित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का, हेय-उपादेय का विवेक होता है। उसके सभी कार्य विवेकपूर्वक होते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—

'सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे'[2]

"सम्यग्दृष्टि सदैव अमूढ़ रहता है, वह कदापि मूढताओं के चक्कर में नहीं फँसता।"[2]

जीवन में विवेक को स्थिर रखने, विचारों को स्वच्छ एवं दृढ़ रखने के लिए मूढ़ता का परित्याग आवश्यक है।

मूढ़ता का अर्थ है—अज्ञान, भ्रम, संशय, विपर्यास। शास्त्र में अनेक मूढ़ताओं का वर्णन है—लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढता, शास्त्रमूढता आदि। सम्यग्दृष्टि इन मूढताओं से दूर होता है।

मूढ़ताओं के विषय में थोड़ा-सा वर्णन करना उचित होगा।

लोकमूढता—लोकमूढता का क्षेत्र बहुत विशाल है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

---

१. उपासकाध्ययन, कल्प ६, पृष्ठ ५६ का संक्षेप।

२ दशवैकालिक, १०।७

हो, वीतराग हो, केवलज्ञान-दर्शन से युक्त, परमात्मा हो या जीवन्मुक्त अरिहंत हो। यही देव के प्रति अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टि में इस विवेक का अभाव होता है, वही देवमूढ़ता है, जिसके कारण वह अपने लिए ऐसे गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है, जिसमें उस साधना का आदर्श और उपास्य बनने की योग्यता नही है।

गुरुमूढ़ता—जिनका आचरण निन्द्य है, जिनके माया, निदान और मिथ्यादर्शन तीनों शल्य लगे हुए है, और आरम्भ-परिग्रह, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हैं, उन्हें परीक्षा किये बिना ही गुरु मानना गुरुमूढ़ता है। वास्तव में गुरु वही है, जो सदाचार और सद्गुणों में उन्नत हो, जो अनुयायी साधकों को यथार्थ मार्गदर्शन देता हो, स्वयं रत्नत्रय की साधना करता हो, और दूसरों को भी उसी मार्ग पर प्रेरित करता हो।

सम्यग्दृष्टि में गुरुमूढ़ता नही होती। वह अपने विवेक द्वारा सद्-गुरु का चयन कर लेता है।

शास्त्रमूढ़ता या समयमूढ़ता—समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र है। सम्यग्दृष्टि में शास्त्रमूढ़ता नहीं होती। वह किसी भी शास्त्र को परीक्षा करने के उपरान्त ही मानता है, और वह भी तब जब उसमें शास्त्र के गुण या लक्षण हो।

सम्प्रदायों मे शास्त्र और पोथी-पन्नो के नाम पर अनेक दुराग्रह प्रचलित है। मान लीजिए—एक व्यक्ति यह कहता है कि मेरे सम्प्रदाय या पंथ के शास्त्र ही सच्चे है, अन्य सब झूठे है, या कोई कहता है—अमुक भाषा में लिखे हुए शास्त्र ही सत्य है, और सब झूठे है। तो यह सब शास्त्रमूढ़ता है; क्योंकि सत्य न तो एकान्तत: अमुक पोथी-पन्नों में बन्द है, न ही अमुक सम्प्रदाय-पंथ मे या अमुक भाषा मे बन्द है।

इस प्रसंग मे आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है—

ऐरवत क्षेत्र के अन्तर्गत जयपुर नगर के राजा मन्द ने निमित्तज्ञानी से अपनी भावी मृत्यु को जानकर उसे टालने के लिए मंत्र पुरोहित ... प्रभाकर को अपना राज्य दे दिया। कुछ ही दिनों मे विद्युत्पात हुआ ... सिंहासन पर ही बैठा प्रभाकर जल गया। इससे उसके निमित्त ... शोकमग्न होकर स्वयं पर्वत से गिरकर मरने का निश्चय कर लिया ... अकस्मात् कुसुमपुर मे आचार्य सुधर्मा के दर्शन करके उ... ने तो संसार से विरक्त होकर उनसे श्रमण-दीक्षा ले ली।

हो, वीतराग हो, केवलज्ञान-दर्शन से युक्त, परमात्मा हो या जीवन्मुक्त अरिहंत हो। यही देव के प्रति अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टि में इस निर्मल विवेक का अभाव होता है, यही देवमूढता है, जिसके कारण वह अपने लिए ऐसे गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है, जिसमें रत्नत्रय-साधना का आदर्श और उपास्य बनने की योग्यता नहीं है।

गुरुमूढता – जिनका आचरण निन्द्य है, जिनके माया, निदान और मिथ्यादर्शन तीनों शल्य लगे हुए हैं, और आरम्भ-परिग्रह, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हैं, उन्हें परीक्षा किये बिना ही गुरु मानना गुरुमूढता है। वास्तव में गुरु वही है, जो सदाचार और सद्गुणों में उन्नत हो, जो अनुयायी व्यक्ति को यथार्थ मार्गदर्शन देता हो, स्वयं रत्नत्रय की साधना करता हो, और दूसरों को भी उसी मार्ग पर प्रेरित करता हो।

सम्यग्दृष्टि में गुरुमूढता नहीं होती। वह अपने विवेक द्वारा सद्-गुरु का चयन कर लेता है।

शास्त्रमूढता या समयमूढता—समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र होता है। सम्यग्दृष्टि में शास्त्रमूढता नहीं होती। वह किसी भी शास्त्र को परीक्षा करने के उपरान्त ही मानता है, और वह भी तब जब उसमें सत्य के गुण या लक्षण हों।

सम्प्रदायों में शास्त्र और पोथी-पन्नों के नाम पर अनेक मूढ़ताएँ प्रचलित हैं। मान लीजिए—एक व्यक्ति यह कहता है कि मेरे सम्प्रदाय या पंथ के शास्त्र ही सच्चे हैं, अन्य सब झूठे हैं, या कोई कहता है—संस्कृत में लिखे हुए शास्त्र ही सत्य हैं, और सब झूठे हैं। तो यह सब शास्त्रमूढता है, क्योंकि सत्य न तो एकान्ततः अमुक पोथी-पन्नों में बन्द है, न ही अमुक सम्प्रदाय-पंथ में या अमुक भाषा में बन्द है।

इस प्रसंग में आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है—

ऐरवत क्षेत्र के अन्तर्गत जयपुर नगर के राजा चन्द्र ने निमित्तज्ञ से अपनी भावी मृत्यु को जानकर उसे टालने के लिए शंख पुरोहित के पुत्र प्रभाकर को अपना राज्य दे दिया। कुछ ही दिनों में विद्युत्पात होने से सिंहासन पर ही बैठा प्रभाकर जल गया। इससे उसके पिता शंख ने शोकग्रस्त होकर स्वयं पर्वत से गिरकर मरने का निश्चय कर लिया। किन्तु अकस्मात् कुसुम्भपुर में आचार्य सुधर्मा के दर्शन करके उनके वचन सुनने से संसार से विरक्त होकर उसने श्रमण-दीक्षा ले ली।

वात्सल्य और पर-वात्सल्य। अपनी आत्मा के प्रति प्रीति करके आत्मस्वरूप की प्राप्ति में आने वाली बाधाएँ दूर करना स्व-वात्सल्य है तथा दूसरे धर्मात्माओं के प्रति प्रीति करके उनके तपश्चरण में आने वाली बाधाओं को दूर करना पर-वात्सल्य है। अनेक प्रकार के परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी अपने श्रेष्ठ आचरणों में, ज्ञान-ध्यान में शिथिलता न आने देना आत्मस्वरूप में अखण्ड प्रीति रखना स्व-वात्सल्य है।

(८) प्रभावना—प्रभावना का अर्थ होता है—महिमा या कीर्ति बढ़ाना. जगत में धर्म का माहात्म्य बढ़ाकर लोगों को धर्म की ओर मोड़ना। जिस कार्य को करने से अपने धर्म और संस्कृति की महिमा बढ़े, धर्म का महत्त्व प्रकट हो, धर्म के सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान दूर हो, जनता की रुचि धर्म की ओर आकृष्ट हो, धर्म की जानकारी हो, उसका प्रचार-प्रसार हो, इसी का नाम प्रभावना है।

धर्म की प्रभावना की कोई एक पद्धति नहीं हो सकती। ज्ञान का प्रचार करने से, सदाचार पवित्र रखने से, लोगों के साथ मधुर व्यवहार करने से, त्याग, तप, संघ-सेवा आदि से प्रभावना होती है। प्रभावना के किसी रूप पर नहीं, उसके लक्ष्य पर दृष्टि रखकर सम्यग्दृष्टि को प्रभावना का आचरण करना चाहिए। प्रभावना के लिए स्वार्थ में तल्लीनता, अदूरदर्शिता धन-सम्पत्ति की महत्ता, आदि को छोड़ना आवश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार प्रभावना का अर्थ इस प्रकार है—'संसारी जीवों के हृदय में अज्ञानान्धकार व्याप्त हो रहा है, इसलिए पदार्थ के सत्य तत्त्व के प्रकाश से उस अन्धकार को दूर करके जिनेन्द्र-शासन का, उसके माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।'

प्रभावना का एक अर्थ यह है कि—रत्नत्रय के तेज से आत्मा को प्रभावित करना, आत्मस्वरूप की उन्नति करना अथवा जिनोक्त धर्म की उत्कृष्टता प्रकट करना।

पूर्ववत् प्रभावना के भी दो प्रकार हैं—स्व-प्रभावना और पर-प्रभावना। विद्या, मंत्र या तप के बल से, दान देकर या अन्यान्य उत्तम धर्म-कार्यों द्वारा धर्म की उत्कृष्टता प्रकट करना ही प्रभावना का उद्देश्य है।

साधना के क्षेत्र में स्वपर-कल्याण की भावना होती है। जैसे पुष्प अपनी सुवास से स्वयं भी महकता है, दूसरों को भी सुगन्धित करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक भी अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सौरभ

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार वात्सल्य का लक्षण है—'स्व
धर्मियों एवं गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना, उनकी य
सेवा-शुश्रूषा करना।'

वात्सल्य में सिर्फ समर्पण एवं प्रपत्ति का भाव होता है। व
धर्मशासन के प्रति अनुराग है। वात्सल्य संघ, धर्म, कौटुम्बिक या मा
भावना को सार्थक (चरितार्थ) करने वाला तत्त्व है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में वात्सल्य का अर्थ किया गया है—'
मुनि जन संघ (श्रावक-श्राविका) पर प्रबुद्धजनों द्वारा ताजा ज
वत्स (बछड़े) पर गाय की तरह जो स्नेह किया जाता है, उसे
वात्सल्य समझना चाहिए।"

लाटी संहिता में वात्सल्य की परिभाषा यों की गई है—"जिस
सेवक स्वयं को सेवक समझकर स्वामी का कार्य करता है, उसी
सिद्ध, पंचपरमेष्ठी,………… मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप च
संघ एवं शास्त्रों की सेवा करना वात्सल्य अंग है। यदि इनमें से कि
भी कोई उपसर्ग (देव-मनुष्य-तिर्यंच कृत)—संकट—आए तो उसे नि
के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुष को हर सम्भव तरीके से तैयार रहना चा
किसी भी उपाय से—धन से, मन्त्रशक्ति से, सैन्य-बल से, आज्ञा से,
बल से, जिस तरह हो, उस तरह से उस संकट को दूर करना ही सम्य
के वात्सल्य गुण का उद्देश्य है।

कल्याण-मार्ग में स्थित प्राणियों के प्रति कुटुम्ब-सरीखा प्रेम र
वात्सल्य है। इस प्रकार का वात्सल्य रखने वाला सम्यग्दृष्टि उ
अपनी उन्नति, और परोपकार को कर्तव्य समझता है, वह क
है, जगद्वन्द्य है।

जिस प्रकार विष्णुकुमार मुनि ने हस्तिनापुर में नमुचि के
अकम्पनाचार्य आदि मुनिमण्डल पर घोर अत्याचार होता देख, वैक्रिय
से हस्तिनापुर आये। वहाँ के राजा पद्म को सावधान किया। जब उ
असमर्थता प्रकट की, तब विष्णु मुनि वामनरूप धारण करके नमुचि
पास गये और तीन कदम जमीन मांगी। वह न दे सका, तब नमुचि को प
करके मुनियों पर आया हुआ उपसर्ग दूर किया।

यह थी सधर्मी—संघ वात्सल्यता!

दिगम्बर परम्परा में वात्सल्य के दो प्रकार बताये गये हैं—

वात्सल्य और पर-वात्सल्य। अपनी आत्मा के प्रति प्रीति करके आत्मस्वरूप की प्राप्ति में आने वाली बाधाएँ दूर करना स्व-वात्सल्य है तथा दूसरे धर्मात्माओं के प्रति प्रीति करके उनके तपश्चरण में आने वाली बाधाओं को दूर करना पर-वात्सल्य है। अनेक प्रकार के परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी अपने श्रेष्ठ आचरणों में, ज्ञान-ध्यान में शिथिलता न आने देना आत्मस्वरूप में अखण्ड प्रीति रखना स्व-वात्सल्य है।

(८) प्रभावना—प्रभावना का अर्थ होता है—महिमा या कीर्ति बढ़ाना, जगत में धर्म का माहात्म्य बढ़ाकर लोगों को धर्म की ओर मोड़ना। जिस कार्य को करने से अपने धर्म और संस्कृति की महिमा बढ़े, धर्म का महत्त्व प्रकट हो, धर्म के सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान दूर हो, जनता की रुचि धर्म की ओर आकृष्ट हो, धर्म की जानकारी हो, उसका प्रचार-प्रसार हो, इसी का नाम प्रभावना है।

धर्म की प्रभावना की कोई एक पद्धति नहीं हो सकती। ज्ञान का प्रचार करने से, सदाचार पवित्र रखने से, लोगों के साथ मधुर व्यवहार करने से, त्याग, तप, संघ-सेवा आदि से प्रभावना होती है। प्रभावना के किसी रूप पर नहीं, उसके लक्ष्य पर दृष्टि रखकर सम्यग्दृष्टि को प्रभावना का आचरण करना चाहिए। प्रभावना के लिए स्वार्थ में तल्लीनता, अदूरदर्शिता धन-सम्पत्ति की महत्ता, आदि को छोड़ना आवश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार प्रभावना का अर्थ इस प्रकार है—'संसारी जीवों के हृदय में अज्ञानान्धकार व्याप्त हो रहा है, इसलिए पदार्थ के सत्य तत्त्व के प्रकाश से उस अन्धकार को दूर करके जिनेन्द्र-शासन का, उसके माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।'

प्रभावना का एक अर्थ यह है कि—रत्नत्रय के तेज से आत्मा को प्रभावित करना, आत्मस्वरूप की उन्नति करना अथवा जिनोक्त धर्म की उत्कृष्टता प्रकट करना।

पूर्ववत् प्रभावना के भी दो प्रकार हैं—स्व-प्रभावना और पर-प्रभावना। विद्या, मंत्र या तप के बल से, दान देकर या अन्यान्य उत्तम धर्म-कृत्यों द्वारा धर्म की उत्कृष्टता प्रकट करना ही प्रभावना का उद्देश्य है।

साधना के क्षेत्र में स्वपर-कल्याण की भावना होती है। जैसे फूल अपनी सुवास से स्वयं भी महकता है, दूसरों को भी सुगन्धित करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक भी अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सौरभ

से स्वयं भी सुरभित होता है, साथ ही जगत् को भी सुरभित करता है। अपनी रत्नत्रयी साधना की सुरभि से जगत के अन्य प्राणियों का धर्म-मार्ग में आकर्षित करना ही वास्तव में प्रभावना का आशय है।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में शासन (धर्म-संघ) प्रभावना करने वाले ८ प्रभावकों का वर्णन आता है, वहाँ ८ प्रभावकों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रावचनिक,
(२) धर्मकथिक,
(३) वादी,
(४) नैमित्तिक,
(५) तपस्वी,
(६) विद्यासिद्ध,
(७) रसादि सिद्ध, और
(८) कवि।

इन आठों पर विवेचन चतुर्थ खण्ड में किया जायेगा।

शासन प्रभावना का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—अचल मुनि।

निव्ययपुर में एक चोर को पकड़ने में सभी राज-सभासद असफल हो चुके तब वहाँ के राजा रामचन्द्र की दृष्टि सहस्रयोधी सुभट अचल पर जा टिकी। अचल ने चोर को पकड़ने का बीड़ा तो उठाया, मगर प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता न मिली। अतः अचल निराश होकर श्मशान में मरने जा रहा था, तभी एक मांस-लोलुप पिशाच से भेंट हुई। पिशाच को वह अपना मांस काट-काट कर देने लगा। पिशाच ने अचल की त्याग-भावना से संतुष्ट होकर, वर माँगने को कहा। परन्तु अचल मौन रहा। उसकी चिन्ता स्वयं पिशाच ने जानी और उसका शरीर पूर्ववत् सुन्दर बना दिया, उसे चोर का नाम-पता भी बता दिया। पिशाच के बताए हुए संकेतानुसार प्रातः ही अचल उस चोर के आश्रम में पहुँच गया, जहाँ वह और उसका शिष्य भगवां वेषधारी साधु के रूप में थे। श्रोतागण भक्तिपूर्वक उसका उपदेश सुन रहे थे।

अचल ने सारी बात राजा से कही। उसे पकड़ने का उपाय सोचा। राजा के रोगी होने का प्रचार किया गया। जब वह साधुवेशधारी चोर राजा के रोगोपचार में जुटा था, तभी उसे पकड़ लिया गया। राजा ने उसे मरवा डाला। अचल अपने को उस साधु की मृत्यु का दोषी जानकर पश्चात्ताप करता हुआ आत्महत्या के लिए वन में निकल पड़ा। वहीं एक

---

1 पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

ध्यानमग्न मुनि के दर्शन हुए। अचल ने श्रामणी दीक्षा ले ली। घोर तप किया, जिसके फलस्वरूप अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुईं।

अचल मुनि ने एक बार सुना कि निम्बयपुर का राजा रामचन्द्र श्रमण-संघ का द्वेषी है। वह विहार करके निम्बयपुर पहुँचे, पुष्पावतंस उद्यान में ठहरे। उन दिनों राजा के हाथियों को कोई भयंकर रोग लग गया था। अनेक उपाय कर लिए पर रोग शान्त न हुआ। अचल मुनि के पदार्पण का वृत्तान्त सुनकर राजा सभक्तिभाव वन्दन करने पहुँचा। अपनी व्यथा कथा कह सुनाई। अचल मुनि ने शासन प्रभावना होती देख श्रमणों का चरणोदक रुग्ण हाथियों पर छींटने का कहा। राजा ने वैसा ही कराया। हाथी स्वस्थ हो गए। जैन शासन की जय-जयकार हो गई। राजा और प्रजाजनों ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। सभी श्रमणों के भक्त बन गए। धर्म-प्रभावना के प्रताप से मुनि अचल ने त्रैलोक्यपूजित तीर्थंकर गोत्र बाँध लिया। महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वहाँ तीर्थंकर बने, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1]

यह है—धर्म-प्रभावना का ज्वलन्त उदाहरण!

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठों ही अंग सम्यग्दृष्टि के जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाते हैं। □

६. सम्यग्दर्शन के गुण और लक्षण

●●

सम्यग्दर्शन के आठ गुण

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि मानव-जीवन के लिए एक वरदान है किन्तु वह वरदान तभी सफल हो सकता है, जब सम्यग्दृष्टि का व्यवहार और आचरण, अपनी आत्मा और विश्व की आत्माओं के प्रति सद्भावना मैत्री और करुणा की भावना तथा संसार में रहते हुए भी संसार के राग द्वेषादि के प्रति निर्लिप्तता और अनासक्तिपूर्ण हो।

सम्यग्दर्शन के अंगों का वर्णन पिछले प्रकरण में हम कर चुके हैं इनके साथ ही सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का सम्यग्दृष्टि के जीवन में होना आवश्यक है। गुणों के बिना सम्यग्दर्शन संस्कारबद्ध न होकर औपचारिक रह जाता है। जीवन को सुखी, सन्तुष्ट और प्रेरणाप्रद बनाने की कला भी तभी आ सकती है, जब सम्यक्त्वी का जीवन सम्यग्दर्शन के अंगों के साथ इन आठ गुणों से भी सम्पन्न हो। वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के इन आठ गुणों का निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

> संवेओ निव्वेओ निंदण - गरहा य उवसमो भत्ती ।
> वच्छल्ल अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥[1]

"संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व में होते हैं।"

---

१ (क) वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० ४९ ।
(ख) अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ७८ से ८२ ।
(ग) पञ्चाध्यायी (उत्तरार्द्ध) द्रव्यविशेषाधिकार, ४६८ से ५४४ ।
(घ) गुणभूषण श्रावकाचार, ६८ से ९३ ।

यों तो सम्यग्दर्शन के प्रशम, संवेगादि ५ लक्षणों का वर्णन हम आगे करेंगे ही; किन्तु प्रसंगवश सम्यक्त्व को पुष्ट एवं अभिवृद्ध करने के लिए ये आठ गुण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ दे रहे हैं—

(१) संवेग—सम् + वेग—ये दो शब्द मिलाकर 'संवेग' शब्द बना है। 'सम्' का अर्थ है—सम्यक् और 'वेग' का अर्थ है—गति या गमन। इसलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से संवेग का अर्थ होता है—सम्यक् प्रकार का वेग, गति या गमन।

हाथी, घोड़ा, मनुष्य, मोटर, रेल, मशीन आदि सभी में वेग होता है, किन्तु वेग वेग में बहुत अन्तर होता है। एक वेग ऐसा होता है, जो मनुष्य को गड्ढे में गिरा देता है, अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँचाता, जबकि दूसरा वेग ऐसा होता है जो गड्ढे में न गिराकर सीधे मार्ग, या कल्याण-मार्ग पर आत्मा को ले जाता है और अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देता है। इसलिए आत्मा के ऊर्ध्वमुखी भाव-वेग को ही संवेग कहा जाता है। जब यह वेग अथवा गमन अधोमुखी होता है, तब आत्मा पतन की ओर जाता है और जब यही गमन सम् अर्थात् अध्यात्म-भाव में ऊर्ध्वमुखी होता है, तब आत्मा का उत्थान होता है।

मिथ्यादृष्टि की बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का वेग भौतिक विषय-सुखों की ओर बह रहा होता है, जबकि सम्यग्दृष्टि की बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों का वेग आत्मिक सुखों की ओर बहता है। वह अपने अधोमुखी वेग को भी ऊर्ध्वमुखी बना लेता है।

सम् शब्द आत्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, और तब संवेग का अर्थ होगा—आत्मा की ओर गति। इसका तात्पर्य होगा—स्वानुभूति, आत्मानुभूति या आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। संवेग में मन या आत्मा का तीव्र वेग—उत्साह होता है। वह उत्साह और तीव्र अभिरुचि या अनुराग सम्यग्दृष्टि आत्मा का किस ओर होता है? इसी को द्योतित करते हुए संवेग का अर्थ लाटीसंहिता में किया गया है—

> संवेग-परमोत्साहो, धर्मे धर्मफले चितः।
> सधर्मेष्वनुरागो वा, प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥

"संवेग चित् या चेतन का परम उत्साह है, जो सर्वज्ञ वीतरागोक्त अहिंसामय धर्म में, या रत्नत्रय रूप धर्म में या उत्तम क्षमादि रूप आत्मधर्म

९. सम्यग्दर्शन के गुण और लक्षण

●●

सम्यग्दर्शन के आठ गुण

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि मानव-जीवन के लिए एक वरदान है। किन्तु वह वरदान तभी सफल हो सकता है, जब सम्यग्दृष्टि का व्यवहार और आचरण, अपनी आत्मा और विश्व की आत्माओं के प्रति सद्भावना, मैत्री और करुणा की भावना तथा संसार में रहते हुए भी संसार के राग-द्वेषादि के प्रति निर्लिप्तता और अनासक्तिपूर्ण हो।

सम्यग्दर्शन के अंगो का वर्णन पिछले प्रकरण मे हम कर चुके हैं। इनके साथ ही सम्यग्दर्शन के आठ गुणो का सम्यग्दृष्टि के जीवन मे होना आवश्यक है। गुणो के बिना सम्यग्दर्शन संस्कारबद्ध न होकर औपचारिक रह जाता है। जीवन को सुखी, सन्तुष्ट और प्रेरणाप्रद बनाने की कला भी तभी आ सकती है, जब सम्यक्त्वी का जीवन सम्यग्दर्शन के अगो के साथ इन आठ गुणो से भी सम्पन्न हो। वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थो में सम्यग्दर्शन के इन आठ गुणो का निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

> संवेओ निव्वेओ णिंदण - गरहा य उवसमो भत्ती।
> वच्छल अणुकंपा अट्ठगुणा हुति सम्मते॥[1]

"संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा, ये आठ गुण सम्यक्त्व में होते है।"

---

१. (क) वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० ४६।
   (ख) अमितगति श्रावकाचार, परि० १, श्लोक ७४ से ८२।
   (ग) पचाध्यायी (उत्तरार्ध) द्रव्यविशेषाधिकार, ४६८ से ७४४।
   (घ) गुणभूषण श्रावकाचार, ४८ से ५३।

यों तो सम्यग्दर्शन के प्रशम, संवेगादि ५ लक्षणों का वर्णन हम आगे करेंगे ही, किन्तु प्रसंगवश सम्यक्त्व को पुष्ट एवं अभिवृद्ध करने के लिए ये आठ गुण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ दे रहे हैं—

(१) संवेग—सम्+वेग—ये दो शब्द मिलाकर 'संवेग' शब्द बना है। 'सम्' का अर्थ है—सम्यक् और 'वेग' का अर्थ है—गति या गमन। इसलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से संवेग का अर्थ होता है—सम्यक् प्रकार का वेग, गति या गमन।

हाथी, घोड़ा, मनुष्य, मोटर, रेल, मशीन आदि सभी में वेग होता है, किन्तु वेग वेग में बहुत अन्तर होता है। एक वेग ऐसा होता है, जो मनुष्य को गड्ढे में गिरा देता है, अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँचाता, जबकि दूसरा वेग ऐसा होता है जो गड्ढे में न गिराकर सीधे मार्ग, या कल्याण-मार्ग पर आत्मा को ले जाता है और अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देता है। इसलिए आत्मा के ऊर्ध्वमुखी भाव-वेग को ही संवेग कहा जाता है। जब यह वेग अथवा गमन अधोमुखी होता है, तब आत्मा पतन की ओर जाता है और जब यही गमन सम् अर्थात् अध्यात्म-भाव में ऊर्ध्वमुखी होता है, तब आत्मा का उत्थान होता है।

मिथ्यादृष्टि की बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का वेग भौतिक विषय-सुखों की ओर बह रहा होता है, जबकि सम्यग्दृष्टि की बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों का वेग आत्मिक सुखों की ओर बहता है। वह अपने अधोमुखी वेग को भी ऊर्ध्वमुखी बना लेता है।

सम् शब्द आत्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, और तब संवेग का अर्थ होगा—आत्मा की ओर गति। इसका तात्पर्य होगा—स्वानुभूति, आत्मानुभूति या आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। संवेग में मन या आत्मा का तीव्र वेग—उत्साह होता है। वह उत्साह और तीव्र अभिरुचि या अनुराग सम्यग्दृष्टि आत्मा का किस ओर होता है? इसी को द्योतित करते हुए संवेग का अर्थ लाटीसंहिता में किया गया है—

संवेग-परमोत्साहो, धर्मे धर्मफले चित।
सधर्मेष्वनुरागो वा, प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥

"संवेग चित् या चेतन का परम उत्साह है, जो सर्वज्ञ वीतरागोक्त अहिंसामय धर्म में, या रत्नत्रय रूप धर्म में या उत्तम क्षमादि रूप आत्मधर्म

"लोक में जो अधिपति माने जाते हैं—वे हैं नरेन्द्र, देवेन्द्र, ना
आदि। उनके द्वारा जिनके चरण-कमल पूजनीय है, उन तीर्थंकर भग
की, तथा साधु वर्ग की भव्यजीव द्वारा निष्कपट, निष्काम, निर्व्याज
भक्ति, पूजा-प्रतिष्ठा भक्ति है, यह संसाररूपी वन को काटने
शस्त्र है।"

गुणभूषण श्रावकाचार में भी इसी आशय से मिलता-जुलता
भक्ति का किया गया है—

> अर्हद्श्रुततपोभृत्सु वन्दना स्तवनार्चने।
> समावृतोऽनुरागो च, सा भक्तिरिति कीर्त्यते॥

"अर्हन्त, श्रुत (शास्त्र), तपोधनी साधु की वन्दना करना,
पूजा करना तथा धर्मानुरागी का समादर ही भक्ति कहलाता है।"

भक्ति से ही मानतुंगाचार्य की बेड़ियाँ टूट गईं और
से ही समन्तभद्र आचार्य ने शिवपिण्डी को तोड़कर चन्द्रप्रभ स्वा
दर्शन किये।

(७) वात्सल्य—वात्सल्य गुण सम्यग्दृष्टि को प्राणियों का अ
बन्धु और आत्मीय बना देता है। मनुष्य मात्र के प्रति यह किसी प्र
भेदभाव के बिना भ्रातृभाव रखता है।

वात्सल्य को आचार्य अमितगति 'सेवा' के अर्थ में प्रयुक्त करते

> कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारे व्यापृतिः प्राणिवर्गे।
> भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वद्धं यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यबोधैः॥

"कर्मरूपी वन को काटने के इच्छुक वाञ्छारहित, पुरुषों द्वारा
आधारभूत जीवों की प्रासुक औषधि आदि द्वारा जो वैयावृत्य की
है, उसे तत्त्वार्थज्ञानी वात्सल्य कहते है।"

वात्सल्य के स्वरूप के सम्बन्ध में हम पहले कह आये हैं।

सम्यग्दृष्टि में वात्सल्य गुण ओत-प्रोत हो जाता है। वात्स
से उसकी विशेषता जान ली जाती है।

कोई-कोई आचार्य वात्सल्य गुण के बदले आस्तिक्य गुण का नि
करते हैं।

> तत्त्वाऽऽप्तव्रतमार्गेषु चित्तमस्तित्वसंयुतम्।
> यत्तदास्तिक्यमित्युक्तं सम्यक्त्वस्य विभूषणम्॥

"तत्त्व, आप्त (देव), व्रत और मार्ग मे जिसका चित्त अस्तित्व से युक्त हो, उसे आस्तिक कहा गया है, यह गुण सम्यक्त्व का आभूषण है।"

इस गुण से सम्यक्त्व की शोभा में चार चाँद लग जाते है। वास्तव में जब तक आस्तिक्य भाव जागृत नही होता, तब तक न संवेग है, न निर्वेद है, न प्रशम है और न ही भक्ति है। समस्त गुणों का कारण आस्तिक्य गुण है। वस्तुतः आस्तिक्य गुण इन सभी गुणो का आधार और सम्यग्दर्शन की पहली शर्त है।

आस्तिक्य भाव से आत्मा का अस्तित्व स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है। आस्तिक्य गुणधारी भव्य जीव पाप से तथा दूसरों की निन्दा से डरता है, हिंसादि पापो से ग्लानि करता है। घोर उपसर्गों को सहकर जो अपने ध्यान से जरा भी विचलित नही हुए, इसका कारण उनके परिणामो मे तत्त्वों के स्वरूप को ऐसी दृढ आस्तिक्य बुद्धि ही रही है जिससे वे बाह्य स्वरूप पर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणों मे तन्मय हो गये थे।

(८) अनुकम्पा—सम्यक्त्व का आठवाँ गुण अनुकम्पा या कारुण्य है। अनुकम्पा का अर्थ है—प्राणियों के दुःख को देख अथवा सुनकर सम्यग्दृष्टि के अन्तर् में कम्पन होना। जैसे कि गुणभूषण श्रावकाचार मे कहा है—

सर्वजन्तुषु चित्तस्य कृपार्द्रत्वं कृपालव.।
सद्धर्मस्य परं बीजमनुकम्पा वदन्ति ताम्॥

"समस्त प्राणियों पर दयार्द्र होकर दया करने को तथा सद्धर्म के श्रेष्ठ बीज को दयालुगुण अनुकम्पा कहते हैं।"

अनुकम्पा धारण करने वाले की आत्मा दया से इतनी स्निग्ध या आर्द्र हो जाती है, कि वह दुःखी अवस्था में किसी को देखकर चुपचाप नहीं रह सकता। उसके हृदय मे दुःखी को देखकर सहसा यह भावना आती है कि दुःख जैसा मुझे कष्ट देता है, वैसा इसे भी देता होगा। जैसे मैं दुःख-मुक्त होकर सुखी होना चाहता हूँ, वैसे यह जीव भी दुःखमुक्त होकर सुखी होना चाहता है। भगवान् महावीर ने कहा है—*'सव्वे जीवा सुहसाया, दुक्खपडिकूला'*—सभी जीव सुख को चाहते हैं, दुःख सबको प्रतिकूल—अप्रिय है। वह तुच्छ से तुच्छ जीव के प्रति भी सहानुभूति रखता है। आचार्य अमितगति ने ठीक ही कहा है—

जन्माम्भोधौ कर्मणाभ्रम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेदे।
चित्तार्द्रत्वं यद् विधत्ते महात्मा तत् कारुण्यं दर्शने दर्शनीये॥

"संसार-समुद्र मे कर्मवश भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुखित जीवो को देखकर जो महान आत्मा चित्त में आर्द्रता—दयालुता धारण करता है, उसे तत्त्ववेत्ता दार्शनिक कारुण्य कहते हैं।"

इस प्रकार संवेग से लेकर अनुकम्पा या कारुण्य तक आठ गुण सम्यग्दृष्टि में होते है। इन गुणो से उसकी शोभा में वृद्धि होती है। उसका सम्यक्त्व भी उत्तरोत्तर निर्मल होता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने सम्यग्दृष्टि को पहिचानने के लिए पाँच अथवा चार चिह्न या लक्षण अपने-अपने ग्रन्थो में प्रतिपादित किये हैं। चूंकि सम्यग्दर्शन एक प्रकार का अनुभव या संवेदन है, जो प्रत्यक्षज्ञानी ही कर सकते हैं, छद्मस्थ अल्पज्ञ दूसरे के सम्यक्त्व को नही जान सकते, उनके जानने के साधन ये ही प्रशमादि चार या पाँच गुण हैं। वे पाँच लक्षण इस प्रकार हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

यद्यपि सम या प्रशम आदि के लक्षण हम पूर्व पृष्ठों में दे चुके हैं फिर भी इनका थोड़ा-सा परिचय और देना ठीक रहेगा क्योंकि ये सम्यक्त्वी को पहचानने के आधार हैं।

(१) सम—प्राकृत भाषा के "सम" शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—सम, शम और श्रम। इन तीनों के अनेक अर्थ होते हैं।

सम शब्द के दो अर्थ होते हैं—

(१) सभी प्राणियों के प्रति समानुभूति—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना।

(२) सुख-दुःख, हानि-लाभ, अनुकूल-प्रतिकूल आदि में समभाव या सम-मनोवृत्ति रखना, चित्त को सन्तुलित रखना।

'सम' का दूसरा रूप है—शम, जिसका अर्थ होता है—राग-द्वेष क्रोधादि कषायों की ओर मन का रुझान न होना, कषायाग्नि या विषय-वासना को शान्त रखना।

तीसरा रूप है—श्रम। मोक्ष-प्राप्ति के लिए या आत्मविकास के लिए किसी देवी-देवादि की शक्ति पर निर्भर न रहकर स्वयं श्रम या पुरुषार्थ करना, स्वयं तप-संयम आदि का आचरण करना।

शम के ये तीनों रूप सम्यग्दृष्टि में पाये जाते हैं। उसके रोम-रोम में म, शम और श्रम तीनों रमने लगते हैं। उसके हृदय में इतनी सरलता व ौम्यता आ जाती है कि क्रोध आदि की तीव्रता तो दूर, लौकिक स्वार्थ का ी अभाव हो जाता है, उसे देखकर दूसरों को भी शान्ति प्राप्त होती है। जिन्होंने उसका उपकार या अपराध किया है, उन प्राणियों को भी किसी ार का कष्ट न देने की भावना भी उसमें आ जाती है।

यह सब प्रशम भाव ही है।

(२-३) संवेग और निर्वेद— जब मोक्ष की ओर सम्यग्दृष्टि के हृदय का ग होता है, तब यह स्वाभाविक ही है कि सांसारिक भोग-सामग्री से उसे वत विरक्ति हो जाती है। संसार के जन्म-मरण के चक्र से उसे भीति होने गती है, वह प्रत्येक कदम फूंक-फूंककर रखता है, ताकि जन्म-मरण के ीज-रूप राग-द्वेष से दूर रहकर अपने लक्ष्य की ओर प्रगति कर सके। ही उसका संवेग और निर्वेद गुण है।

(४) अनुकम्पा—दूसरे को दुःखित या पीड़ित देखकर सम्यग्दृष्टि के ृदय में उसके अनुकूल अनुभूति जाग जाती है, वह दूसरों के दुःख और ष्ट को अपना ही दुःख या कष्ट समझने लगता है। परोपकार के नैतिक सिद्धान्त का यही आधार है, इसे ही सहानुभूति कहते हैं। वह अपनी शक्ति र दूसरों की पीड़ा का निवारणोपाय करता है, परन्तु उसका अभिमान हीं करता, फल नहीं चाहता। निःस्वार्थ भाव से करुणा करना उसका वभाव बन जाता है।

(५) आस्तिक्य या आस्था—यह गुण ही उसके जीवन का सर्वस्व होता ै। आस्तिक्य का अर्थ होता है— अस्तित्व या सत्ता में विश्वास करना।

विभिन्न परम्पराओं ने आस्तिक के विभिन्न लक्षण बताये हैं। ेदानुयायी ने कहा— 'वेद को माने सो आस्तिक, न माने वह नास्तिक।' ईश्वरवादी ने कहा—'ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करे वह आस्तिक, अन्यथा नास्तिक।'

किन्तु जैन विचारणा में आस्तिक्य का विशेष अर्थ है। जैनदर्शन के अनुसार जो आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त और आत्मा के विकास के प्रतिकूल एवं अनुकूल आस्रव-संवर, बन्ध-निर्जरा तत्त्व, एवं मोक्ष, जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों के अस्तित्व को मानता है ानता ही नहीं, 'मैं कौन, वे कौन ? क्यों, कैसे ?' इत्यादि रूप से अ

१. सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति और उत्पत्ति

••

पिछले खण्डो में सम्यग्दर्शन के माहात्म्य, स्वरूप और प्रकार के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति और उत्पत्ति कैसे, किन कारणो से, और किस प्रकार होती है ?

जब तक मुमुक्षु को यह ज्ञात नही हो जाता कि सम्यग्दर्शन कैसे उपलब्ध, प्राप्त या उत्पन्न होता है तब तक वह सम्यग्दर्शन को ठीक से पहचान नही सकेगा, मिथ्यादर्शन को ही सम्यग्दर्शन समझने लगेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे मति-अज्ञान और मतिज्ञान, अवधिज्ञान या विभंग-ज्ञान स्थूलदृष्टि वाले व्यक्ति को एक-सरीखा लगता है। वह यह विभेद नही कर पाता कि यह मतिज्ञान है या मति-अज्ञान, अथवा यह अवधिज्ञान है विभंगज्ञान ? परन्तु जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति या उत्पत्ति का बोध है, वह तुरन्त पहचान जाएगा कि यह मतिज्ञान है या मति-अज्ञान, अथवा यह अवधिज्ञान है या विभंगज्ञान ?

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दुर्लभ : क्यों, कैसे ?

इस अनादिकालीन ससार मे परिभ्रमण करते हुए जीव को अनन्त-अनन्तकाल तक सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या बोधि या श्रद्धा की उपलब्धि या प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभतर बताई गई है।[1]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभतर क्यों है ? इसके सम्बन्ध मे जैन

---

१ सद्धा परमदुल्लहा —उत्तरा० ३।६

चूक जाने पर बार-बार उन्हें सम्बोधि प्राप्त होना सुलभ नहीं है।[1] इसीलिए भगवान् ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—

सबुज्झह किं न बुज्झह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥[2]

"हे भव्यो! तुम बोध प्राप्त करो। तुम बोध प्राप्त क्यों नहीं करते? जो रात्रियाँ बीत चुकी हैं, वे वापस लौटकर नहीं आती। और यह संयमी जीवन पाना भी फिर सुलभ नहीं है।"

कोई कह सकता है—मनुष्य-जन्म, कर्मभूमि और आर्यदेश मिलने के बाद तो सम्बोधि का मिलना क्या कठिन है?

लेकिन शास्त्रकार और ग्रन्थकार एक स्वर से कहते हैं कि इतने मात्र से ही सम्बोधि या सम्यग्दर्शन मिल जाएगा, इस भ्रम में मत रहो। जो लोग मनुष्य-जन्म, कर्मभूमि और आर्यदेश तथा उत्तम कुलादि पाकर भी यहाँ मिथ्यात्व-महामोह-रूपी अन्धकार में मूढ बने हुए हैं, उनके भी बहुत पुण्यराशि हो, तभी किसी भी तरह से दुर्लभ सम्यक्त्व-प्राप्ति के परिणाम होते हैं। सम्यक्त्व के परिणाम प्राप्त होना मामूली बात नहीं है।[3] और तो और मनुष्य-जन्मादि अनुकूलताएँ मिलने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त होना अति दुर्लभ है[4], उसमें कई अड़चनें आती हैं। इसलिए यह निश्चित है कि जिनके यहाँ प्रचुर वैभव है, देवी-सम्पदाएँ अठखेलियाँ कर रही हैं, उत्तम पद एवं अधिकार जिन्हें प्राप्त हैं, उत्तमोत्तम सुख के साधन भी जिनके पास हैं, जिनके यहां हाथी, घोड़े, रथ आदि विपुल संख्या में हैं, नौकर-चाकरों की भी कोई कमी नहीं है, कुशल आज्ञाकारिणी स्त्री है, यहाँ तक कि संसार-सागर से पार करने वाले देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धान के हेतु सम्यग्दर्शन के सिवाय समग्र संसार के सुन्दर से सुन्दर सभी पदार्थ सुलभ हैं।[5] वे भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाते।

---

१. दशवैकालिक चू० १।१४।
२ सूत्रकृतांग, श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १।
३. दर्शनशुद्धि ४ तत्त्व।
४. मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेश-कुल-कल्पतायुरुपलब्धौ।
श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः ॥ —प्रशमरति १६२
५. दर्शनशुद्धि ४ तत्त्व।

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई।[1]

कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाए, फिर भी उस पर या देव, गु
धर्म तथा जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है। बहुत से लो
न्यायसंगत मोक्षमार्ग को सुनकर मोहवश उससे भ्रष्ट-विचलित
जाते हैं।"

इतनी दुर्लभ घाटियों को पार करने के बाद भी मिथ्यादर्शन
मनुष्यों को मरने के बाद आगामी जन्मों में सम्यग्दर्शन अतीव दुर्लभ ब
हुए कहा गया है—

मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा उ हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥[2]

"जो अन्तिम समय में मिथ्यादर्शन में अनुरक्त होते हैं, निदान से यु
और हिंसक होते हैं, यहाँ से मरने पर आगामी जन्मों में उन्हें बोधि—सम्य
दर्शन बहुत ही दुर्लभ है।"

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो ज
हैं, उन्हें भी फिर सम्यग्दर्शन (सम्बोधि) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।[3]

मनुष्य-जीवन पाकर भी जो लोग अपने वर्तमान जीवन को निर्द
नहीं रख सकते, वे समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते हैं और काम-भोगों त
रसों (विषयास्वादों) में आसक्त होने के कारण वे असुरकाय में उत्प
होते हैं, वे बहुत अधिक कर्मों से लिप्त होने के कारण बिना ही सम्बोधि
चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, उनको भी सम्बोधि प्रा
होना अतीव दुर्लभ है।[4]

इसी प्रकार जो मृत्यु के समय कृष्ण लेश्या से युक्त होते हैं, उन्हें
आगामी भवों में सम्बोधि दुर्लभ है।[5] मतलब यह है कि एक बार अव

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, ३।९।

२. उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० २५७।

३. सूत्रकृतांग, श्रु० १, अ० १५, गा० १८।

४. उत्तराध्ययन, अ० ८, गाथा १४-१५।

५ वहीं, अ० ३६।२५६।

चूक जाने पर बार-बार उन्हें सम्बोधि प्राप्त होना सुलभ नहीं है।[1] इसीलिए भगवान ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—

> संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
> णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥[2]

"हे भव्यो! तुम बोध प्राप्त करो। तुम बोध प्राप्त क्यों नहीं करते? जो रात्रियाँ बीत चुकी हैं, वे वापस लौटकर नहीं आतीं। और यह संयमी जीवन पाना भी फिर सुलभ नहीं है।"

कोई कह सकता है—मनुष्य-जन्म, कर्मभूमि और आर्यदेश मिलने के बाद तो सम्बोधि का मिलना क्या कठिन है?

लेकिन शास्त्रकार और ग्रन्थकार एक स्वर से कहते हैं कि इतने मात्र से ही सम्बोधि या सम्यग्दर्शन मिल जाएगा, इस भ्रम में मत रहो। जो लोग मनुष्य-जन्म, कर्मभूमि और आर्यदेश तथा उत्तम कुलादि पाकर भी यहाँ मिथ्यात्व-महामोह-रूपी अन्धकार से मूढ बने हुए हैं, उनके भी बहुत पुण्यराशि हो, तभी किसी भी तरह से दुर्लभ सम्यक्त्व-प्राप्ति के परिणाम होते हैं। सम्यक्त्व के परिणाम प्राप्त होना मामूली बात नहीं है।[3] और तो और मनुष्य-जन्मादि अनुकूलताएँ मिलने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त होना अति दुर्लभ है[4], उसमें कई अड़चनें आती हैं। इसलिए यह निश्चित है कि जिनके यहाँ प्रचुर वैभव है, दैवी सम्पदाएँ अठखेलियाँ कर रही हैं, उत्तम पद एवं अधिकार जिन्हें प्राप्त हैं, उत्तमोत्तम सुख के साधन भी जिनके पास हैं, जिनके यहाँ हाथी, घोड़े, रथ आदि विपुल संख्या में हैं, नौकर-चाकरों की भी कोई कमी नहीं है, सुशील आज्ञाकारिणी स्त्री है, यहाँ तक कि संसार-सागर से पार करने वाले देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धान के हेतु सम्यग्दर्शन के सिवाय समग्र संसार के सुन्दर से सुन्दर सभी पदार्थ सुलभ हैं।[5] वे भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाते।

---

१ दशवैकालिक चू० १।१४।

२ सूत्रकृतांग, श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १।

३ दर्शनशुद्धि ८ तत्त्व।

४. मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेश-कुल-कल्पतायुरुपलब्धौ।
   श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः॥ —प्रशमरति १६२

५ दर्शनशुद्धि ८ तत्त्व।

सम्बोधि की दुर्लभता के कारण

यह सच है कि जो वस्तु दुर्लभ होती है, उसकी दुर्लभता के कुछ न कुछ कारण अवश्य होते है। सम्यग्दर्शन या सम्बोधि एक दुर्लभतम वस्तु है उसके भी कुछ न कुछ कारण अवश्य है।

शास्त्रों मे यत्र-तत्र ऐसे वाक्य मिलते है—बोही होइ सुदुल्लहा तेसि—'उन्हे बोधि (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।' स्थानाग सूत्र मे बोधिदुर्लभता के पाँच कारण इस प्रकार बताये गये हैं—

पांच कारणो (स्थानो) मे जीव दुर्लभबोधियोग्य मोहनीय कर्म बाधता है। वे ५ कारण इस प्रकार है—

(१) अरिहन्त भगवान का अवर्णवाद बोलने से,

(२) अरिहन्त भगवान द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अवर्णवाद बोलने से,

(३) आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद बोलने से,

(४) चतुर्विध श्रीसघ का अवर्णवाद बोलने से, और

(५) भवान्तर मे उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किये हुए देवो का अवर्णवाद बोलने से।

सम्बोधि की सुलभता के पाँच कारण

सम्यग्दर्शन की सुलभता के भी पाँच कारण स्थानाग सूत्र मे बताये है—

(१) अरिहन्त भगवान के गुणगान करने से,

(२) अरिहन्त भगवान द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्रधर्म का गुणगान करने से,

(३) आचार्य-उपाध्याय के गुणानुवाद करने से,

(४) चतुर्विध श्रीसघ की प्रशसा एव वर्णवाद (गुणानुवाद) करने से, और

(५) भवान्तर मे उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किये हुए देवो का वर्णवाद, प्रशंसा करने से जीव सुलभबोधि बनते है।[1]

---

१. स्थानागसूत्र, स्था० ५, उ०२, सू० ४२६।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कितनी सुलभ, कितनी दुर्लभ !

प्रश्न होता है, सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दुर्लभ है या सुलभ ?

इसका दो टूक उत्तर यह है कि जिसके अज्ञान का आवरण, मिथ्यात्व का बन्धन और मोह का पर्दा हट जाता है, या जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, अथवा शिथिल हो जाता है, उसके लिए सम्यग्दर्शन प्राप्त होने में लम्बा समय नहीं लगता, उपदेश सुनते-सुनते बाल नहीं पकाने पड़ते, उसके लिए सम्बोधि या सम्यक्त्व सुलभ है। परन्तु जिनके मन से अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व का अन्धकार हटा नहीं, मन अहंकार, मोहादि विकारों से मलिन है, तीव्र कषाय से आच्छादित है, उनके लिए सम्यग्दर्शन दुर्लभ है।

कुछ व्यक्तियों को उपदेश सुनते और महापुरुषों के सान्निध्य में रहते वर्षों और यहाँ तक कि कभी-कभी तो कई जन्म बीत जाते है, फिर भी सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान का उन्मेष उनके हृदय में नहीं जगता। उनकी दशा ऐसी ही रहती है कि 'भव-भव जिन पूजेउ, गुरु वन्दिउ' फिर भी रहे मिथ्यात्वी ही। और तो क्या, भगवान महावीर की उपदेश-गंगा में नहा कर भी ऐसे लोगों के हृदय का मैल नहीं धुला, अज्ञान और मिथ्यात्व के बन्धन ढीले नहीं पड़े। गोशालक ६ वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा, छाया की तरह घूमा। आखिर क्या पाया ? पाई भी तो दुनिया को जलाने वाली तेजोलेश्या। भगवान के पास शीतल लेश्या भी थी, छह महीने तक तप भी किया, लेकिन शीतल लेश्या न लेकर तेजोलेश्या ली, यह बुद्धि का विपर्यय ही था। प्रयोग भी तेजोलेश्या का भगवान महावीर के शरीर पर किया। यह अज्ञान, मिथ्यात्व और मोह के अन्धकार का ही प्रभाव था, जिसके कारण गोशालक के लिए सम्यग्दर्शन दुर्लभ रहा।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि और प्राप्ति क्या और कैसे ?

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता समझ लेने के बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि क्या है और वह कैसे होती है ?

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि पहले दर्शन ही नहीं था, और अब यह नया उपलब्ध या उत्पन्न हो गया है। दर्शन को इस प्रकार अचानक उत्पन्न मानने का अर्थ यह होगा कि किसी दिन उसका विनाश भी हो सकता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या प्राप्ति या उत्पत्ति का अर्थ किसी नए पदार्थ का जन्म नहीं है, बल्कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति या उत्पत्ति का अर्थ इतना है कि वह विकृत से अविकृत हो गया है, पराभिमुख से स्वाभिमुख हो

गया है, और वह मिथ्या से सम्यग् हो गया है। आत्मा का जो श्रद्धान या दर्शन गुण है, उसकी सम्यग और मिथ्या दोनों पर्यायें हैं। मिथ्यादर्शन और सम्यग्-दर्शन दोनों में ही दर्शन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—दर्शन गुण कभी मिथ्या होता है, कभी सम्यक्। मिथ्यादर्शन का फल है—संसार, और सम्यग्दर्शन का फल है—मोक्ष। दर्शन गुण की दोनों पर्यायें एक साथ नहीं रहती। जहाँ दर्शन गुण की मिथ्या पर्याय है, वहाँ सम्यक् पर्याय नहीं रह सकती। दर्शन की जहाँ सम्यक् पर्याय है, वहाँ मिथ्या पर्याय नहीं रह सकती।

'सम्यग्दर्शन प्राप्त या उपलब्ध कर लिया', तब इसका यह अर्थ न होगा कि व्यक्ति में उससे पहले दर्शन था ही नहीं, और आज वह नया उपलब्ध हो गया। इसका स्पष्ट अर्थ इतना ही होगा कि आत्मा में जो दर्शन गुण अनन्तकाल से था, उस दर्शन की मिथ्यात्व पर्याय का त्याग करके उसने सम्यक् पर्याय को प्राप्त कर लिया है। शास्त्रीय भाषा में इसे ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि एवं प्राप्ति कहा जाता है।

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि—सम्यग्दर्शन मूलतः कोई नई चीज प्राप्त करने जैसी वस्तु नहीं है, बल्कि जो सदा से विद्यमान है, उसी को शुद्ध रूप में जानने, पहिचानने और देखने की बात है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या प्राप्ति का यही अर्थ यहाँ अभीष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि दर्शन गुण कोई बाहर से आने वाला नहीं है, इसकी सत्ता तो आत्मा में है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि का अर्थ सिर्फ यह है कि मिथ्यात्व-भाव को हटाकर उसे सम्यक् बनाना, दिव्य आलोक पर आये हुए आवरण को दूर करना।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वतः या परतः ?

प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति या आविर्भाव स्वतः होता है या परतः ? अर्थात्—कोई महापुरुष, गुरु या शास्त्र किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन उपलब्ध कराता है, या उस व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ से या स्वतः उपलब्ध हो जाता है ?

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि वास्तव में देखा जाए तो महापुरुष, गुरु या शास्त्र किसी भी साधक में नई बात पैदा नहीं कर सकते, बल्कि जो गुप्त है, उसी को प्रतीति करा देते हैं, जो विस्मृत है, या अज्ञात है, उसी का स्मरणमात्र करा देते हैं। जो शक्ति अन्दर तो है, परन्तु स्मृति से ओझल हो चुकी है, या अज्ञान अथवा मोहवश उसका भान

नही है, उसका स्मरण अथवा भान करा देना ही तीर्थंकर, गुरु या शास्त्र का काम है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति बाहर से घूम-फिरकर अपने घर में लौटा, घर में प्रविष्ट होते ही, उसने देखा कि वहाँ घोर अँधेरा है, अँधेरे मे कुछ भी नजर नही आता। घर में बहुत-सी चीजे पडी है, लेकिन अँधेरे के कारण उनका पता नही लग रहा है, सभी चीजे हैं, पर वे अँधेरे मे ही डूब गई है। ज्यों ही वह व्यक्ति दीपक जलाता है, सारे घर मे प्रकाश हो जाता है, अँधेरा उस घर से बिलकुल गायब हो जाता है। प्रकाश के सद्भाव मे उसके घर का अँधेरा ही गायब नही हुआ, बल्कि घर में जो बहुत-सी वस्तुएँ मौजूद होते हुए भी दीख नही पा रही थी, अब दीपक के प्रभाव और प्रकाश के कारण दीखने—प्रतीत होने लगी। क्या दीपक के उजाले ने किसी नई वस्तु को उत्पन्न किया है? नही, ऐसा तो नही किया, किन्तु पहले से ही जो कुछ था, प्रकाश ने उसी की प्रतीति करा दी, उसे दिखा दिया।

इसी प्रकार तीर्थंकर, गुरु या जिनोपदिष्ट शास्त्र साधक के जीवन मे कोई नवीन तत्त्व नही उडेलते, बल्कि जो कुछ मोह और अज्ञान के अँधेरे के कारण आवृत होता है, उसे प्रकट करने मे सहायता करते है। साधक के पास जो कुछ है, कुछ ही क्यो, जो अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य और सुख का खजाना है, जिसका ज्ञान या भान साधक को नही है, उस अनन्त शक्ति और निधि का ज्ञान या भान वे करा देते है।

एक दरिद्र-दीन-हीन भिखारी है, जिसके घर की जमीन के नीचे असंख्य-रत्नराशि दबी-छिपी पड़ी है। किसी भूगर्भवेत्ता ने उसे उसकी दबी हुई रत्नराशि का ज्ञान-भान कराया। उस भिखारी को अपनी गृहभूमि के नीचे दबी रत्नराशि का परिज्ञान हो जाये तो क्या वह दीन, हीन या भिखारी रह सकता है? नहीं, कदापि नहीं। फिर तो उसकी दरिद्रता सम्पन्नता मे बदल जाएगी, वह रत्नराशि का स्वामी भिखारी न रहकर दाता बन जाएगा। यही बात साधक के सम्बन्ध मे कही जा सकती है।

आत्मा मे अनन्त-अनन्त सद्गुणो की राशि भरी हुई है। किन्तु उसका परिबोध या ज्ञान-भान न होने से वह इन्द्रियसुखो का भिखारी बना हुआ है। ससार मे सुख-प्राप्ति के बदले दु:खों के दलदल मे फँसा रहता है। आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अक्षय भण्डार भरा हुआ है, लेकिन अल्पज्ञ जीव को इसका ज्ञान-भान नही है। इसीलिए यथार्थ मे

सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, और वह गुण दर्शनमोहनीयकर्म के उदय से अनादिकाल से मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होने से जीव की रुचि विषयभोग वगैरह सासारिक कार्यों में तो लगती है, किन्तु जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण होता है, उन कार्यों में या कार्यों का उपदेश देने वालों में नही होती। जब काललब्धि आदि का योग मिल जाता है, और संसार-समुद्र का किनारा निकट आने को होता है, तब अन्तर्मुहूर्त के लिए दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम हो जाने से उपशम-सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है।

सम्यग्दर्शन के बाह्य निमित्त अनेक होते है। किसी को जैनधर्म का उपदेश सुनने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, किसी को तीर्थंकर भगवान की महिमा देखकर, तो किसी को देवो का ऐश्वर्य देखकर, किसी को धर्म का फल समझने से, किसी को पूर्वजन्म का स्मरण हो जाने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं नारकों वगैरह को नरक के कष्ट भोगने से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार और भी अनेक बाह्य कारण हो सकते हैं।

इन अन्तरंग और बाह्य कारणों के मिलने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। जैसे शराब या धतूरे के नशे से बेहोश मनुष्य का जब नशा उतर जाता है तब उसे जैसे होश होता है। वैसे ही दर्शनमोहनीय के उदय से जीव में एक विचित्र प्रकार का नशा छाया रहता है, जिससे उसे बराबर बुद्धिभ्रम बना रहता है। अनेक शास्त्रो का पण्डित हो जाने पर भी उसका बुद्धिभ्रम नही मिटता, किन्तु जैसे ही दर्शनमोह का उदय शान्त हो जाता है, वैसे ही उसका बुद्धिभ्रम मिट जाता है, उसकी दृष्टि सम्यग् दिशा में घूम जाती है।

इसके अतिरिक्त कुछ आचार्य कहते हैं—शुद्ध आत्मा के अनुभव (उपलब्धि, प्राप्ति या शुद्धि) को रोकने वाला दर्शनमोहनीयकर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषायजन्य चारित्रमोहकर्म है। इसलिए दर्शनमोहनीयकर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने से, साथ ही मतिज्ञानावरणीयकर्म तथा वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम होने से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि या अनुभूति होती है, और आत्म-स्वरूप का साक्षात् या प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से होती है।

सकती ; क्योंकि दर्शनोपयोग में तत्त्वविचार नहीं होता, जबकि सम्यग्दर्शन के समय उसका होना आवश्यक है। इसी कारण कहते हैं—सोते हुए जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से जागृत होना आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि चारों गतियों में से किसी भी गतिवाला जीव सम्यग्दर्शन का अधिकारी तभी बनता है, जब वह १. भव्य, २ संज्ञी, ३ पर्याप्तक, ४. मंदकषायी, ५ विशुद्धियुक्त, ६. जागृत (जागता हुआ), ७ ज्ञानोपयोगयुक्त, ८. शुभलेश्यावाला एवं ९ करणलब्धि से सम्पन्न आत्मा हो।

संसार में यों तो अनेक प्राणी हैं, पर सभी प्राणियों को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती; कालादि लब्धि से युक्त संज्ञी पर्याप्तक भव्य जीव सम्यक्त्वघातक सात कर्मप्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण के होने पर निसर्ग से या अधिगम से तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को उपलब्ध करता है।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति में पंच लब्धियों का स्थान

सम्यक्त्व-ग्रहण की योग्यता को लब्धि कहते हैं। लब्धि का शब्दश अर्थ है—प्राप्ति। जीव में ५ प्रकार के भावों की प्राप्ति होना ही पचलब्धि है। उन ५ लब्धियों के नाम ये हैं—

१. क्षयोपशमलब्धि,
२. विशुद्धिलब्धि,
३. देशनालब्धि,
४ प्रायोग्यलब्धि,
५. करणलब्धि।

(१) क्षयोपशमलब्धि—जिस शक्ति द्वारा आत्मा संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था (पर्याय) पाकर अपना अच्छा-बुरा, हिताहित, कल्याण-अकल्याण तथा सुख-दुःख का ज्ञान करे, वह क्षयोपशम लब्धि है। ऐसी योग्यता मनुष्य में आठ वर्ष की बाल्य अवस्था में ही उत्पन्न हो जाती है। अत यदि वह मनुष्य चाहे तो आठ वर्ष की आयु में ही स्व-कल्याण-मार्ग ग्रहण कर सकता है।

एक आचार्य के मतानुसार क्षयोपशम लब्धि का अर्थ है—सम्यक्त्व उत्पन्न होने योग्य कर्मों का क्षयोपशम होना। जिस प्रकार धन को दान में लगाए या भोग में, यह आत्मा के विचारों पर निर्भर है, इसी प्रकार क्षयोपशमरूप ज्ञान को इन्द्रिय-विषयों में लगाये या आत्मकल्याण में, यह आत्मा के वर्तमान पुरुषार्थ एवं रुचि-प्रवृत्ति पर निर्भर है।

(२) विशुद्धिलब्धि — आत्मा की विशेष निर्मलता को विशुद्धि कहते हैं। ऐसी सामान्य विशुद्धि आत्मा में आ जाती है, जब शारीरिक दुःख की अनुभूति होती है अथवा मरण में वैराग्य का चिन्तन होता है कि 'मैं कौन हूँ? जन्म मरण कैसे होता है? जीव को पुनर्जन्म भी कौन बताता है? किस [illegible] और क्यों यहाँ मेरा आना हुआ है?' इत्यादि विचार करके शु- [illegible] धारण करने की भावना होना भी विशुद्धिलब्धि है।

(३) देशनालब्धि — सद्गुरुओं से जाकर तत्त्वज्ञान का बोध प्राप्त करना। यथार्थ तत्त्व का उपदेश, उसके उपदेशक आचार्यों की प्राप्ति अथवा उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण, धारण करने या विचारने की शक्ति को भी देशनालब्धि कहते हैं।

(४) प्रायोग्यलब्धि — पंचेन्द्रियत्व, संज्ञित्व आदि योग्यता प्राप्त होना प्रायोग्यलब्धि है।

प्रारम्भ की ये चार लब्धियाँ तो साधारण हैं। ये भव्य-अभव्य सभी जीवों के हो सकती हैं। इन चार लब्धियों के प्राप्त होने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होने का नियम नहीं है। जिनको सम्यक्त्व-प्राप्ति होना सम्भव ही नहीं है, उनको भी ये लब्धियाँ हो जाती हैं।

(५) करणलब्धि — इस लब्धि के होने पर तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। करणलब्धि भी जीव को तभी होती है जब उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी होती है। इसके अन्त में जीव को सम्यग्दर्शन हो ही जाता है। इसलिए करणलब्धि असाधारण है। करणलब्धि रूप आत्मा का परिणाम बहुत ही सूक्ष्म है। यह भाव होता है, तब आत्मा नियम से सम्यग्दर्शन-स्वध्येय को पा जाता है। जिस जीव के मिथ्यात्व का अभाव होने में अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है। उसी जीव को करणलब्धि प्राप्त होती है।[1]

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि से पूर्व

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या उत्पत्ति की प्रक्रिया का समझना बहुत आवश्यक है। अनादिकाल से आत्मा पर कर्मों के आवरण पड़े हुए हैं। उनके मूल प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय आदि ८ हैं। इन सब में मोहनीयकर्म प्रधान है। इसको कर्मरूपी सेना का सेनापति कहा गया है। वही अन्य कर्मावरणों में प्रबलता पैदा करता है। जब तक मोहनीय कर्म बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य आवरण भी बलवान् और तीव्र बने रहते हैं।

१ [illegible], [illegible], [illegible] आदि।

अपने गुणधर्म के आधार पर मोहनीयकर्म में आत्मगुणों को मूर्च्छित करने की दो प्रकार की क्षमता है—(१) दर्शन (दृष्टि) को विमूढ बनाना, और (२) चारित्र को विकृत करना।

पहली शक्ति दर्शन या स्व-स्वरूप का निश्चय या जड़-चेतन का विभाग या विवेक करने नही देती, दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति—अर्थात् अध्यास या पर-परिणति से छूट-कर स्वरूप-लाभ नही करने देती। जैनशास्त्र में मोह की प्रथम शक्ति को दर्शनमोह और दूसरी शक्ति को चारित्रमोह कहते है। दूसरी शक्ति पहली की अनुगामिनी है। पहली शक्ति निर्बल होने पर ही दूसरी निर्बल बनती है।

चारित्र-गुण को विकृत करने वाली मोहकर्म की २५ प्रकृतियाँ है और दर्शनगुण को मूर्च्छित करने वाली ७ प्रकृतियाँ है, जिनमें ४ तो चारित्रमोह की हैं, और ३ दर्शनमोह की है। इन सातो प्रकृतियो का मोहावरण लोहा-वरण की तरह सघन है, इन्हे भेद करके ही सम्यक्त्व और चारित्र का प्रकाश उत्तरोत्तर प्राप्त किया जा सकता है।[1]

मोह-विजय

सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध मोहनीयकर्म की ह्रास परम्परा से है। आत्मा की सबसे अविकसित या सर्वथा निम्न अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इस भूमिका को जैनशास्त्रो में बहिरात्म-भाव या मिथ्यादर्शन कहा है। यद्यपि इस भूमिका में जितने आत्मा होते हैं, उन सबकी आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती। मोह की दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढतर और किसी पर उससे भी कम होता है।

विकास करना आत्मा का स्वभाव है। इसलिए जानते-अजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर होता है। आत्मा जब मोह पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ करता है, तब वह कई अवस्थाओ मे गुजरता है। अपुनर्बन्धक, योगदृष्टि और परीत संसारी आदि अवस्थाएँ मोह पर विजय के क्रम में ही प्राप्त होती है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन अ० ३३।८-९-१०-११।
(ख) पचाध्यायी २।९९६।

अपुनर्बन्धक

ग्रन्थिभेद से पहले अपुनर्बन्धक अवस्था का निर्माण होता है मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध फिर से न होना अपुनर्बन्ध कहलाता है।

योगशतक में बताया है कि जो उत्कट क्लेशपूर्वक पापकर्म न करे भयानक दुःखपूर्ण संसार में सरावोर न रहे, और कौटुम्बिक, नैतिक धार्मिक आदि सब बातों में न्याययुक्त मर्यादा का पालन करे वह अपुनर्बन्धक है।[1] उसका एक बार बन्ध होना एकबन्ध और दो बार बन्ध हो द्विर्बन्ध कहलाता है। द्विर्बन्ध में संसार-परिभ्रमण समय अधिक है। अन्य प्राणियों में ऐसी अवस्थाएँ कभी नहीं पाई जाती।

अपुनर्बन्धक अवस्था की उपलब्धि के बाद आत्मा जब ग्रन्थिभेद ओर अग्रसर होता है तब दो विशिष्ट अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं—मार्गाभि और मार्गपतित। सीधी नली में प्रवेश करने पर जिस प्रकार सर्प सीधा जाता है, उसी प्रकार अवक्र—सरल मानस का होना मार्ग का रूप है। आत्मा इस स्थिति के सम्मुख हो जाता है, वह मार्गाभिमुख है, और जो स्थिति को प्राप्त हो जाता है, वह मार्गपतित है। दोनों अवस्थाओं को करता हुआ आत्मा ग्रन्थिभेद करने को उद्यत होता है।[2]

योगदृष्टियाँ

जब आत्मा पर मिथ्यात्व का सघन अँधेरा छाया रहता है, तब उसकी गति अध्यात्म से विमुख होती है। मिथ्यात्वान्धकार के परत जब कुछ हटने लगते हैं, तब पहले के क्रम में कुछ घुमाव आता है, विचारों का प्रवाह मुड़ता है। अध्यात्म की ओर गति होने लगती है। इस क्रम को आचार्य हरिभद्रसूरि ने आठ दृष्टियों में विभक्त किया है—१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा, और ८. परा।

इन आठों में से प्रथम चार अपुनर्बन्धक मिथ्यादर्शन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इन चारों में मिथ्यात्व का अंश बना रहता है, वे अस्थिर, सदोष और अवेद्य-संवेद्य (संवेदन और ज्ञान का अभाव) हैं। शेष चारों में

१ योगशतक, गा० १३।
२ योगदृष्टि समुच्चय।

क्रमश: मम्यग्दृष्टि, देशविरति-सर्वविरति, सर्वविरति की कुछ विकसित अवस्था तथा क्षपक श्रेणी आरूढ होने से निर्वाण तक की सभी अवस्थाओं का समावेश किया गया है।

प्रथम चार में मिथ्यात्वांश विद्यमान होते हुए भी वे योगिक दृष्टियाँ हैं, क्योंकि वे आत्मा को सम्यग्दर्शन के सम्मुख लाने में सहायक होती हैं। इससे पूर्व की अवस्था को 'ओघदृष्टि' कहा गया है।[1]

पुद्गलपरावर्त

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में चरमपुद्‌गलपरावर्त और अर्द्ध पुद्‌गलपरावर्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन आत्माओं का संसार-भ्रमण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त जितना शेष रहता है, उसे चरमपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और उससे पहले की अवस्था अचरमपुद्‌गल-परावर्त कहलाती है जिसे काल की अपेक्षा अर्द्ध पुद्‌गलपरावर्त कहा जाता है।

यह अवस्था ग्रन्थिभेद से बहुत पहले आ जाती है। जो आत्मा इस अवस्था में प्रविष्ट हो जाती है, उसके लिए कभी न कभी ग्रन्थिभेद का अवसर आ ही जाता है। किन्तु अभव्य जीव के लिए चरमावर्त के द्वार कभी नहीं खुलते।

ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया करणलब्धि के द्वारा

कर्मबन्धन के अनन्य हेतु है—राग और द्वेष। ये दोनों मोह की प्रवृत्तियाँ हैं। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति में अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क से निर्मित राग-द्वेष की ग्रन्थि अत्यन्त कर्कश, सघन, गूढ और दुर्भेद्य होती है। यह ग्रन्थि ही सम्यग्दर्शन में बाधक है। आत्मा विकास करता-करता तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ, मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल जब प्रकट कर लेता है, उसी स्थिति को कर्मशास्त्र में 'ग्रन्थिभेद' कहा है।

ग्रन्थिभेद का कार्य अत्यन्त कठिन है। राग-द्वेष की तीव्रतम विषग्रन्थि एक बार भी शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाये तो फिर बेड़ा पार ही समझिये क्योंकि इसके बाद मोह की प्रधान शक्ति—दर्शनमोह का शिथिल हो जाना सरल होता है।

---

१ योगदृष्टि समुच्चय, योगावतार द्वात्रिंशिका।

ग्रन्थिभेद करना एक प्रकार से आध्यात्मिक युद्ध करना है। युद्ध मे एक ओर राग-द्वेष और उनके परिकर अपने बल का पूर्णतया प्र करते है और दूसरी ओर विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को व करने के लिये अपने वीर्यबल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध कभी एक तो कभी दूसरा विजयी होता है। इस प्रकार वशमकश चल है। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो करीब-करीब ग्रन्थिभेद करने यो बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारो से आहत होकर उनमे हार खाकर अपनी मूलस्थिति अर्थात मिथ्यात्व में ही आ जाते अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर विजय प्राप्त नही कर पा उनके प्रगाढ बन्धन को शिथिल नही कर पाते। अनेक आत्मा ऐसे भी हो है, जो न तो हार खाकर पीछे हटते है, और न ही विजय प्राप्त कर पा है, किन्तु सुदीर्घकाल तक आध्यात्मिक युद्ध के मैदान मे ही पड़े रहते है कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता है, जो उस आध्यात्मिक युद्ध मे अ बलवीर्य का भरसक प्रयोग करके राग-द्वेष पर विजय पा ही लेता है।[1]

तीन करण : ग्रन्थिभेद के कितने निकट, कितने विकट ?

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि से पूर्व आत्मा को किस-किस घाटी को पा करना पड़ता है, इसका सुन्दर और व्यवस्थित आलेखन विशेषावश्यक भाष्य, कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार, योगशास्त्र, स्थानाग टीका आदि ग्रन्थों में कि गया है। हम यहाँ सक्षेप में उस प्रक्रिया को प्रस्तुत करेंगे।

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि आत्मा को इस गभीर-अपार संसार-साग के मध्य में अनन्तपुद्गलपरावर्त काल से परिभ्रमण करते-करते और संसा के संताप जन्म-मरणादि दु:खो को सहते-सहते, कभी ऐसा अवसर आता है जबकि उसके मोह का प्रगाढ आवरण कुछ मन्द या क्षीण होने लगता है। शास्त्र मे कहा है कि अकाम निर्जरा करते-करते कभी ऐसा अवसर आता है कि कर्मों की दीर्घ स्थिति भी ह्रस्व हो जाती है।

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम की, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म को उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम की, नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटि सागरोपम की तथा आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३

---

१ (क) सा
(ख) वि

सागरोपम की बतलाई गई है। इन सभी कर्मों में से आयुष्य कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति घटकर जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी किंचित् न्यून (कम) अन्त.कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण रह जाती है, तब आत्मा को वीर्य शक्ति में कुछ सहज उल्लास पैदा होता है। इसी उल्लासवश जिस परिणाम से दुर्भेद्य राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि के निकट पहुँचता है, आत्मा के उस विशिष्ट परिणाम को—भाव को शास्त्रीय भाषा में यथाप्रवृत्तिकरण कहते है अथवा अनादिकाल से बँधे हुए मिथ्यात्व कर्म को क्षय करने के लिए अध्यवसायविशेष का नाम यथाप्रवृत्तिकरण है।

यह करण भव्य एवं अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को अनेक बार होता है। कहा-कहीं यथाप्रवृत्तिकरण को पूर्वप्रवृत्तिकरण कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में यथाप्रवृत्तिकरण के स्थान पर अध प्रवृत्तिकरण का उल्लेख मिलता है।[1]

मोहनीय कर्म को उपशान्त करने के लिए जीव के तीन प्रकार के विशुद्ध परिणामों को करण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण को समझाने के लिए विशेषावश्यक भाष्य में एक रूपक दिया गया है—

एक पर्वतीय नदी है। पर्वतीय प्रदेश से बहती-बहती समतल भूमि की ओर यानी ऊँचाई से नीचाई की ओर बडी तेजी से आती है। नदी के उस तीव्र जलवेग में जो भी शिलाखण्ड, पाषाण या शिला आ जाता है, वह आपस से टकराते-टकराते, घिसते-घिसते गोल और चिकना बन जाता है। यद्यपि एक विशाल पाषाणखण्ड का वह छोटा-सा गोल और चिकना रूप एक ही दिन में नहीं बनता, उसे इस स्थिति में पहुँचते-पहुँचते अनेक वर्ष लग जाते हैं तब कहीं जाकर वह अनघड़ पत्थर शालिग्राम बनकर पूजा का पात्र बनता है।

जो स्थिति इस पर्वतीय पाषाण की होती है, वही स्थिति आत्मा की भी होती है। यह आत्मा भी भव-भ्रमण करते-करते, संसार का दुःख सहते-सहते, विकट घाटियों से पार होते-होते इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका तीव्रतम राग और तीव्रतम द्वेष कुछ मन्द होने लगता है। कषाय का इस प्रकार का मन्द अवस्था-रूप जीव का परिणाम ही यथा-प्रवृत्तिकरण है।

---

१ कर्मग्रन्थ तथा विशेषावश्यकभाष्य।

यथाप्रवृत्तिकरण के दो भेद हैं—एक साधारण, दूसरा विशिष्ट।

साधारण यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव विशुद्धि के पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता, क्योंकि उसके परिणाम इतने दुर्बल होते हैं कि वह राग-द्वेष की तीव्र और प्रगाढ़ ग्रन्थि का भेदन नहीं कर पाता। ऐसा साधारण यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार हो चुका होता है।

विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण से आत्मा में इतनी क्षमता और शक्ति प्रकट हो जाती है, कि जिस आत्मा में यह परिणाम आता है, वह अन्धकार से निकलकर प्रकाश की प्रथम क्षीण किरण को देख पाता है। यद्यपि इसमें भी सम्यग्दर्शन (सत्य) के प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु इतना अवश्य है कि अन्धकार को चीरकर उसके विरोधी प्रकाश की क्षीण-रेखा को व्यक्ति देख पाता है।[1] इसमें वह मिथ्यात्व ग्रन्थि के निकट पहुँचता है, किन्तु उस ग्रन्थि का भेदन नहीं कर पाता। यह करण पानी की तरह है। इसमें मोह के स्थूल परत हट जाते हैं, परन्तु राग-द्वेष की ग्रन्थि नहीं टूटती। इसमें मिथ्यात्वी के प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है।

विशेषावश्यकभाष्य में एक उदाहरण द्वारा इसे भी समझाया गया है—जिस प्रकार कोई कौटुम्बिक धान्य से भरी हुई कोठी में से थोड़ा-थोड़ा धान्य गिराता है, तथा बहुत-सा धान्य घर के काम के लिए उसमें से बाहर निकालता है, ऐसा करने से कोठी में उत्तरोत्तर धान्य कम हो जाता है। उसी प्रकार चिरसंचित कर्मरूपी धान्य की कोठी से आत्मा (जीव) किसी प्रकार से—अनाभोग से-बहुत—से कर्मों का क्षय करने से, तथा नये थोड़े-से कर्मों के ग्रहण करने से ग्रन्थिदेश को प्राप्त होता है—राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि के समीप पहुँच जाता है। इस प्रकार (मिथ्यात्वी) जीव आयुष्य कर्म के सिवाय शेष ७ कर्मों की स्थिति देशोन एक कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण रखकर अवशिष्ट कर्मों का क्षय कर डालता है। यों वह यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त होता है।[2]

अपूर्वकरण

यथाप्रवृत्तिकरण के बाद आत्मा अपूर्वकरण आदि के रूप में भाव-

---

१. (क) कर्मग्रन्थ, भा० २।
   (ख) कर्मप्रकृति, भा० ६, गा० ५।
२. विशेषावश्यकभाष्य, गा० १२०५-१२०६।

विशुद्धि की ओर बढ़ जाता है। यदि भावशुद्धि की अपकर्षता होने लगे तो फिर वापस लौटकर भव-भ्रमण के चक्र में भटकने लगता है और भव-भ्रमण करता-करता फिर कभी भव्यात्मा इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसकी वीर्यशक्ति का उल्लास और अधिक प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है। आत्मा के इस शुद्ध परिणाम को शास्त्रीय भाषा में अपूर्वकरण कहा जाता है।

अपूर्वकरण का अर्थ है—आत्मा की अपूर्व वीर्यशक्ति, आत्मा का ऐसा दिव्य परिणाम या विशुद्ध भाव, जो अभी तक पहले कभी नहीं आया था। यद्यपि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि यहाँ भी नहीं होती, किन्तु अपूर्वकरण के प्रभाव से आत्मा एक ऐसी भूमिका पर पहुँच जाता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'ग्रन्थिदेश' कहते हैं।

ग्रन्थिदेश का अर्थ है—आत्मा के राग-द्वेष की सम्यग्दर्शननिरोधक तीव्रता एवं प्रगाढ़ता की भूमि। अपूर्वकरण में आकर जीव ग्रन्थिदेश का भेदन तो नहीं कर पाता, लेकिन उसकी प्रगाढ़ता को शिथिल बना देता है।

आत्मा के सघन एवं प्रगाढ़ राग-द्वेष रूप अविशुद्ध परिणाम को ग्रन्थि कहा जाता है।

अनिवृत्तिकरण

ग्रन्थिदेश पर पहुँचने के बाद आत्मा धीरे-धीरे आगे बढ़ता है, और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना नहीं रहता। इसे शास्त्रीय भाषा में अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण में पहुँचकर आत्मा राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि का भेदन कर देता है और इस ग्रन्थि का भेदन होते ही अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, आत्मा को अपने निज स्वरूप का प्रकाश मिल जाता है।

इन तीनों करणों को स्पष्ट समझने के लिए शास्त्रकारों ने एक रूपक दिया है—एक बार एक ही ग्राम के तीन मित्र धन कमाने के लिए विदेश चले। तीनों साथ-साथ रहते, चलते और खाते-पीते भी थे। एक बार यात्रा करते-करते वे तीनों एक विकट वन की निर्जन पर्वतीय घाटी में जा पहुँचे। वैसे ही वे घाटी में कुछ आगे बढ़े कि कुछ दूर उन्हें चार

२. सम्यग्दर्शन की स्थिति और स्थिरता

●●

सम्यग्दर्शन आत्मा का विशुद्ध परिणाम है। वह परिणाम क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तो सदा एक-सा रहता है क्योंकि परिणामों में चंचलता, मलिनता और शिथिलता कभी नहीं आती; जबकि क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के परिणामों में उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह आता रहता है। उसके विशुद्ध परिणामों में चंचलता भी आती है, मलिनता भी और शिथिलता भी। वह अपने विशुद्ध परिणामों पर एक-सा दृढ़ नहीं रह पाता है।

प्रतिपाती और अप्रतिपाती सम्यग्दर्शन

कई बार ऐसा भी होता है कि अन्यतीर्थी लोगों के आडम्बर, प्रदर्शन और चकाचौंध को देखकर अथवा अन्य ऐसे ही कारणों से उसके भावों में मलिनता आ जाती है और वह अपने सम्यक्त्व पर दृढ़ नहीं रह पाता। इसीलिए स्थानांग सूत्र में निसर्ग और अधिगम दोनों प्रकार के सम्यक्त्वों के दो-दो भेद बताए हैं—प्रतिपाती और अप्रतिपाती।

प्रतिपाती का अर्थ है—एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर वह, मलिन (मल) और अगाढ़ आदि दोषों या अतिचारों के कारण सम्यक्त्व से पतित हो जाना—गिर जाना। और अप्रतिपाती का अर्थ है—सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद निरतिचार या दोषरहित सम्यक्त्व का पालन करते हुए सम्यक्त्व से पतित न होना।

विविध सम्यग्दर्शनों की स्थिति

जैनदर्शन में सम्यक्त्व के पूर्वोक्त भेदों की स्थिरता की अवधि (स्थिति)

भी बताई गई है। कर्मग्रन्थ[1] एवं जैनशास्त्रों व ग्रन्थों के अनुसार विभिन्न सम्यग्दर्शनों की स्थिति इस प्रकार है—

औपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति अन्तमुहूर्त है। इसका अन्तर यदि पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल का है। यह सम्यग्दर्शन जीव को एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार, और अनेक भवों में जघन्य एक बार तथा उत्कृष्ट ५ बार प्राप्त हो सकता है।

उपशम सम्यग्दर्शन से गिरकर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के मिथ्यात्व में पहुँचने से पहले जो परिणाम रहते हैं, उसे सास्वादन सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसकी जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्टत ६ आवलिका की होती है।

सास्वादन सम्यक्त्व का अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल का होता है। यह सम्यग्दर्शन भी एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों में जघन्य एक बार और उत्कृष्ट ५ बार प्राप्त हो सकता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। इसका अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल का होता है। यह सम्यग्दर्शन एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट प्रत्येक हजार बार होता है, और अनेक भवों में जघन्य दो बार तथा उत्कृष्ट असंख्यात बार होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व होने से ठीक अव्यवहित पूर्व क्षण में होने वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्वधारी जीव के परिणाम को वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वेदक सम्यग्दर्शन की स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट एक समय की है। एक समय के बाद ही वेदक सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व में परिणत हो जाता है। इसका अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वेदक सम्यक्त्व के बाद अवश्य ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। वेदक सम्यग्दर्शन जीव को एक ही बार आता है।

---

1. (क) कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा १५

(ख) अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ६१।

क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति देशोनकोटि पूर्व सहित तैंतीस सागरोपम की है। क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि-अनन्त होता है। इसका अन्तर नहीं पड़ता है। यह सम्यक्त्व जीव को एक ही बार आता है और आने के बाद सदा बना रहता है।[1]

लेकिन एक बात निश्चित है कि जिन्होंने अन्तर्मुहूर्तभर भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है, उन जीवों का अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से कुछ कम संसार-परिभ्रमण ही शेष रह जाता है।

सम्यग्दर्शन की स्थिरता के लिए आवश्यक भाव-सम्पदा

सम्यग्दर्शन को अधिक टिकाने लिए जीवन में निम्न भावों का होना आवश्यक है—

(क) (१) स्वयं में और दूसरों में ज्ञान की वृद्धि करे, (२) विवेकपूर्वक सत्य, प्रिय, परिमित, एवं हितकर बोले, (३) दुःख में धैर्य रखे, सत्य न छोड़े (४) सदा सन्तोषी रहे, हर परिस्थिति में सन्तुष्ट रहने का प्रयत्न करे, और (५) तत्त्वज्ञान में प्रवीण हो।

(ख) 'अनादिकाल से मिथ्यात्ववश अज्ञान द्वारा इन्द्रिय-सुखों को मैं सुख मान रहा हूँ, मेरी यह विपरीत बुद्धि नष्ट हो, विषय-सुख की इच्छा समाप्त हो, और आत्मिक सुख की भावना जागृत हो, चाह नष्ट हो निःस्पृहता, आकांक्षा बढ़े।' इस प्रकार की भावना रखे।

(ग) पर-वस्तु को पाने की आकांक्षा ही आकुलता है, जो आत्म-भाव को नष्ट करने वाली भव-व्याधि है। पर-वस्तु की इच्छा के त्याग से निराकुलता और शान्ति (समभाव) रस प्राप्त होता है। उसी से शान्ति एवं समता के गुण की अभिवृद्धि होती है।

(घ) तत्त्वों की सच्ची समझ मुझ में प्रकट हो, विपरीत समझ का शीघ्र नाश हो। सत्य को समझ लेने पर पूर्वाग्रह न रहे। तत्त्वों में अरुचि दूर हो, गाढ़ रुचि प्रकट हो।

(ङ) कुदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि और कुधर्म में धर्मबुद्धि दूर हो, मेरा ध्येय यही रहे कि व्यवहार में सर्वज्ञ वीतराग प्रभु मेरे देव रहें,

---

१ (क) धर्मग्रन्थ, भाग १ गा० १५।

(ख) अमितगति श्रावकाचार, परि० २, श्लोक ६२।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आराधक मेरे गुरु हों तथा अहिंसादि पांच लक्षण अथवा विनय प्रधान से निर्ग्रन्थ मेरा धर्म हो परन्तु इन त्रिपुटी के द्वारा मैं निश्चय देव-गुरु-धर्म को प्राप्त करूँ। अर्थात् शुद्ध सिद्ध-स्वरूप आत्मानुभव देव हो, मैं शरीरादि बाह्य पदार्थों से पृथक अनन्त ज्ञानादि पर्याय वाला ध्रुव, नित्य, शाश्वत आत्मा हूँ ऐसा सद्ज्ञान ही गुरु हो, और भोगादि सर्वस्व मेरे नहीं, ऐसा जानकर रागादि रहित शुद्ध आत्मस्वरूप में रमणता ही निश्चय धर्म हो। ऐसे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप की मुझे प्राप्ति हो।

(घ) आत्मा के सिवाय सभी वस्तुएँ 'पर' हैं वे मेरी नहीं हैं। परन्तु मैं शरीर तथा अन्य पदार्थों को अपने मानकर इनके लिए हिंसा तथा विषय-कषायादि का सेवन करता हूँ, आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों को स्वकीय मानकर मैं पर-भाव में रमण करता हूँ, अतः मेरा पर-पदार्थों के प्रति मोह, ममत्व हटे, शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मेरा स्वस्वरूप है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो तथा आत्मा के शुद्ध गुण प्रकट करने की रुचि जागृत हो। भय, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण विभाव हैं, इनसे हटूँ, और समभाव एवं निर्भयता बढ़ाऊँ।

सम्यग्दर्शन में मन को स्थिर करने हेतु

सम्यग्दर्शन में जिसकी बुद्धि-प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, वह गीता में कथित 'स्थितप्रज्ञ,' आचारांग सूत्र में उक्त 'स्थितात्मा' बन जाता है। उसके लिए सम्यक्त्व में मन को स्थिर करना आवश्यक है। सम्यक्त्व में स्थिरता तभी रह सकती है, जब निरतिचार सम्यग्दर्शन का पालन करे। स्वगुणों एवं पर-अवगुणों को प्रकट न करे। उन्मार्ग-प्ररूपणा न करे, उत्तमार्ग में विघ्न न डाले, विषय-भोगों में आसक्ति न रखे, काम-भोगादि की वांछापूर्वक निदान (नियाणा) न करे। इहलोक-परलोक हेतु कामनापूर्वक तप या धर्माचरण आदि न करे। आजीविका के लिए निमित्त आदि न बताये। भौतिक कर्म, कौतुक, कामोत्तेजक कथाएँ तथा भाण्ड-कुचेष्टा आदि न करे। बात-बात में क्रोध न करे, न ही दीर्घकाल तक क्रोध रखे। अरिहन्त, सिद्ध, केवली भगवान, आचार्यादि गुरु, संघ तथा साधर्मिक का अवर्णवाद (निन्दा) न करे जिससे नरकगति और तिर्यंचगति के बन्ध के कारणों से दूर रहे।

ये सब बातें सम्यग्दर्शन की स्थिरता के लिए अनिवार्य हैं। □

३. सम्यग्दर्शन की पुष्टि और वृद्धि

जिन बातों से सम्यग्दर्शन की पुष्टि और वृद्धि होती है, उन बातों को जानना भी बहुत आवश्यक है।

योगशास्त्र के अनुसार सम्यक्त्व के पाँच भूषण—(१) जिनशासन में स्थिरता, (२) जिनशासन एवं धर्म की प्रभावना, (३) जिनशासन-भक्ति, (४) धर्म-कौशल, और (५) चतुर्विध संघ की सेवा—सम्यग्दृष्टि के जीवन में ओतप्रोत हो जाएँ तो उससे सम्यग्दर्शन पुष्ट और समृद्ध होता रहेगा।

इसके अतिरिक्त कारुण्य, वात्सल्य, समत्व, भक्ति, वैराग्य, धर्मानुराग, आत्मनिन्दा और गुजनता—ये सम्यक्त्व के आठ गुण भी सम्यग्दर्शन को दीप्त करते हैं, सम्यग्दर्शन इन आठ गुणों से परिपुष्ट होता है।

सम्यक्त्व के रुचि के भेद से १० भेद पहले बताये गये थे, उन दस भेदों को भली-भाँति समझकर उन्हें अपनाएं और यह समझें कि भिन्न भिन्न रुचि से तत्त्वों का बोध, श्रद्धान और निश्चय करने से सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु किसी भी रुचि से किसी भी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन प्रगट हो, उसमें दूसरी रुचियों के प्रति उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर किसी भी रुचिरूप सम्यग्दर्शन किसी में प्रकट हुआ होगा, वह सम्यग्दर्शन की आत्मा को पुष्ट करेगा।

इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि जब नौ तत्त्वों का ज्ञाता होकर उनमें से हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक करके हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने में तत्पर और कुशल हो जाएगा, तब वह अपने स्वरूप में अधिकाधिक स्थिर होकर सम्यग्दर्शन की वृद्धि और सुरक्षा कर सकेगा। फिर वह दुःख या संकट आ पड़ने पर देव आदि की सहायता की वांछा नहीं

करेगा, वह अपने धर्म पर डटा रहेगा, धर्म पर उसे अटट श्रद्धा होगी। इतनी अटल श्रद्धा कि अगर कोई देव या असुर उसे धर्म से विचलित करने आएगा, तो भी वह विचलित नहीं होगा। वह सैद्धान्तिक जानकारी करेगा, साथ ही धर्म का प्रयोग भी करेगा। जन-समूह में धर्म की चर्चा और प्रसार-प्रचार करेगा। अपना हृदय सरल, पवित्र और निश्छल रखेगा।

ऐसा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों को दान देगा, घर के द्वार दान के लिए खुले रखेगा, पौषध आदि धर्मक्रियाएँ दत्तचित्त होकर पूर्ण श्रद्धापूर्वक करेगा। पवित्र यम (व्रत) और नियम (गुणव्रत, शिक्षाव्रत) का भी निरतिचार पालन करेगा या करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। इन गुणों से वह अपने सम्यग्दर्शन गुण में विशेषता उत्पन्न करेगा, वृद्धि करेगा।

सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्दर्शन गुण को अधिकाधिक समृद्ध करने हेतु स्वयं न्याय करता है, न्याय का पक्ष लेता है, न्याययुक्त वचन बोलता है, न्याय का ही विचार करता है। इतना ही नहीं, न्याय और नीति उसके रग-रग में रम जाते हैं, इस कारण वह हर बात में न्यायप्रिय होता है, न्याय का आचरण करता है, न्याय-नीतिपूर्वक अपनी आजीविका उपार्जन करता है। कोई भी कार्य, वचन या विचार ऐसा नहीं करता, जिससे उसके जीवन में अन्याय-अनीति के संस्कार परिलक्षित हों।

अपने ग्राम या नगर में अगर निर्ग्रन्थ गुरु विराजमान हों तो, वह उनकी सेवा में दर्शन, धर्म-श्रवण, धर्म-विचार करने अवश्य जाता है, और शुद्ध धर्म के ज्ञान में सतत वृद्धि करता रहता है, इससे भी उसके सम्यक्त्व गुण में दिन दूनी रात-चौगुनी वृद्धि होती है। एक आचार्य ने कहा है—

> देव-शास्त्र-गुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता।
> पुण्याय जायते पुंसां सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया॥

"देव (वीतराग), उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र, और निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा करना, संसार को जेल समझकर उससे नित्य डरता रहे, यानी जन्म-मरण में वृद्धि करने वाले विचारों या कार्यों से बचता रहे, ये सब क्रियाएँ सम्यक्त्व की वृद्धि करने वाली है, पुण्योत्पादक हैं।"

निर्ग्रन्थ-रत्नत्रय ही प्रवचन का सार है, वही लोकोत्तर तथा विशुद्ध है, वही मोक्ष का मार्ग है, जगत में उत्कृष्ट है, अमृत का—जीवनमुक्ति और परममुक्ति का—पथ है। इस प्रकार की तत्त्वश्रद्धा अन्तःकरण में समाविष्ट करके उसे दोषों के त्याग; और दोषों से विपरीत गुणों और विनय की प्राप्ति

के द्वारा अत्यन्त पुष्ट करना चाहिए। अर्थात्—उस सम्यक्त्व को चल, मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित—क्षायिक सम्यक्त्वरूप करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की परिशुद्धि के लिए (१) उद्योतन, (२) उद्यवन, (३) निर्वहण और (४) निस्तरण, यों चार प्रकार से आराधना करनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप के दोषों (शंकादि) को दूर करके सम्यक्त्व-रत्न निर्मल करना एवं रखना उद्योतन है।

आत्मा का सतत सम्यग्दर्शनादि रूप से परिणाम—एकमेकरूप से स्वयं का वर्तन-प्रवर्तन उद्यवन है।

लाभ, पूजा, ख्याति आदि की अपेक्षा न करके निःस्पृह भाव से, परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक सम्यग्दर्शनादि का वहन करना निर्वहण है।

संसार से भयभीत—अपनी आत्मा में, दूसरी ओर उपयोग न लगाकर लुप्त हुए सम्यग्दर्शनादि रूप परिणामों को उत्पन्न करना, पुनरुज्जीवित करना तथा परीषह-उपसर्ग आदि आने पर भी स्थिर रहकर अपने को मरण-पर्यन्त सम्यग्दर्शनादि भावों में रखना, समाधिमरणपूर्वक सम्यग्दर्शन आदि को आगामी भव में भी ले जाना निस्तरण है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की आराधना सर्वतोमुखी होने से उसके गुणों में वृद्धि अवश्य होती है। □

४. सम्यग्दर्शन में दृढ़ता

संसार मे अधिकाश व्यक्ति ऐसे पाये जाते हैं, जो 'गंगा गए तो गगा-दास और जमुना गए तो जमुनादास' वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपने शुद्धधर्म या धर्मसंघ मे स्वय दृढ और निश्चल नही होते और न ही वे अपने धर्म के तत्त्वो एव सिद्धान्तो को भली-भाँति जानते ही हैं। इस कारण वे सम्यग्दर्शन पर दृढ और निश्चल नही रहते। दूसरे धर्म-सम्प्रदायों या संघों के आडम्बर, प्रदर्शन और उनके अनुयायियो की वाचालता देखकर वे दिशामूढ़ एव भ्रान्त हो जाते हैं। वे यह नही सोचते कि इन वाह्य प्रदर्शनो, चमत्कारों, आडम्बरों या थोथे पौद्गलिक कौतुकों मे आत्मा का कोई उत्थान या कल्याण नही होता। थोडे समय के लिए ये भले ही अपना प्रभाव जनता पर डाल दें, पर इनका प्रभाव स्थायी नही होता। हमें ऐसे प्रलोभनो के चक्कर मे नही फँसना चाहिए, और न ही मिथ्यात्वपोषक आडम्बरो या व्यक्तियों को प्रतिष्ठा देकर अपने सम्यक्त्व को मलिन बनाना चाहिए।

उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन मे आनन्द श्रावक का वर्णन है कि उसने सम्यक्त्व सहित श्रावक के वारह व्रत ग्रहण करने के वाद भगवान् महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा ली थी कि "आज से जीवनपर्यन्त अन्यतीर्थिको, अन्यतीर्थिक देवों तथा अन्यतीर्थिक साधुओं को देव-गुरुवुद्धि से वन्दना—नमस्कार करना, उनकी भक्ति-वहुमान करना, उनसे एक वार या वार-वार वोलना, उन्हे अशनादि आहार गुरुवुद्धि या धर्मवुद्धि मे देना मेरे लिए कल्पनीय-करणीय नही है।"

इसका यह अर्थ नही है कि अन्यतीर्थिक कोई भी व्यक्ति (चाहे वह साधु हो गृहस्थ) भूखा-प्यासा, दुःखित या दयनीय हालत मे, रुग्ण आदि

अज्ञान मिथ्यात्व को पूर्वाग्रह, विपरीत-ग्रहण, संशय एवं एकान्तिक ज्ञान से पृथक माना है। इसमें ज्ञान तो है, पर अयथार्थ है, जबकि अज्ञान मिथ्यात्व में अपेक्षित ज्ञान-विवेक का अभाव होता है, इसमें व्यक्ति को अपने लक्ष्य, हित और कर्तव्य आदि का भान नहीं होता है। वह मूढ़दृष्टि होता है, वीतराग देव को रागी, अपरिग्रही साधु को परिग्रही, अहिंसायुक्त धर्म को हिंसायुक्त कह देता है।

स्थानांग सूत्र में इन्हीं पाँचों को आभिग्रहिक (परम्परागत धारणाओं को बिना समीक्षा के अपनाना), अनाभिग्रहिक (सत्य को जानते हुए भी स्वीकार न करना, या सभी मतों को समान मूल्य वाले समझना), आभिनिवेशिक (असत्य मान्यता को भी अहंकारवश हठपूर्वक पकड़े रहना), सांशयिक (संशयशील बने रहकर सत्य का निश्चय न करना) और अनाभोगिक (विवेक या ज्ञान क्षमता का अभाव) कहा गया है।

एक आचार्य ने मिथ्यात्व के सात भेद किये हैं—(१) एकान्तिक, (२) सांशयिक, (३) मूढ़दृष्टि, (४) नैसर्गिक, (अगृहीत मिथ्यात्व) (५) वैनयिक, (६) विपरीत और (७) व्युदग्राहित (गृहीत) मिथ्यात्व।

ये सातों पूर्वोक्त पाँच, तीन, दो में समाविष्ट हो जाते हैं।

मिथ्यात्व के २५ भेद

आवश्यक (प्रतिक्रमण) सूत्र में मिथ्यात्व के २५ भेदों का विवरण प्राप्त होता है। उनमें से १० भेदों का वर्णन स्थानांग सूत्र में है, जो हम पहले बता चुके हैं। इसके अनन्तर आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक इन ५ मिथ्यात्व-भेदों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। आगे के १६ से २५ तक मिथ्यात्व इस प्रकार हैं—

(१६) **लौकिक मिथ्यात्व**—लोकरूढ़ि में अविचारपूर्वक बंधे रहना।

(१७) **लोकोत्तर मिथ्यात्व**—पारलौकिक उपलब्धियों के निमित्त स्वार्थवश धर्म-साधना करना।

(१८) **कुप्रावचनिक मिथ्यात्व**—मिथ्यादार्शनिक विचारणाओं को स्वीकार करना।

(१९) **न्यूनमिथ्यात्व**—पूर्णसत्य या तत्त्वस्वरूप को आंशिक [illegible] समझना या न्यून मानना।

(२०) **अधिक मिथ्यात्व**—आंशिक सत्य को उससे अधिक पूर्ण [illegible] समझ लेना।

(२१) विपरीत-मिथ्यात्व—वस्तुतत्त्व को उसके विपरीत रूप में समझना।

(२२) अक्रिया मिथ्यात्व—आत्मा को एकान्तरूप से अक्रिय मानना। अथवा सिर्फ ज्ञान को महत्त्व देकर चारित्र (क्रिया) के प्रति उपेक्षा करना।

(२३) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान या विवेक की क्षमता का अभाव।

(२४) अविनय मिथ्यात्व—पूज्यवर्ग के प्रति या धर्म व तत्त्वों के प्रति अनुचित सम्मान प्रकट करना, उनकी आज्ञाओं का पालन न करना।

(२५) आशातना मिथ्यात्व—पूज्य वर्ग की निन्दा, आलोचना या बदनामी करना।

अविनय और आशातना को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया है कि इनसे पूज्यजनों या गुरुजनों से मिलने वाले यथार्थता के बोध से व्यक्ति वंचित हो जाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के इन और ऐसे ही प्रकारों से दूर रहना ही सम्यक्त्व की सुरक्षा करना है। सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए मिथ्यादर्शन के सभी प्रकारों से बचकर चलना अति आवश्यक है।

इनसे भी बचकर चलिए

सम्यग्दर्शन की सुरक्षा के लिए निम्न बातों से भी बचकर रहना चाहिए—

(१) अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और सम्यक्त्व-मिश्र-मोहनीय, इन सात सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों से बचना चाहिए।

(२) सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार है—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिगाढ परिचय। इनसे बचना बहुत जरूरी है।

(३) सम्यग्दर्शन के शत्रु—जाति, कुल आदि आठ प्रकार के मदों को अपने जीवन में भी स्थान नहीं देना चाहिए। ये ८ मद सम्यग्दर्शन के कट्टर दुश्मन हैं। इनके आते ही सम्यग्दर्शन दूषित हो जाता है।

(४) सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख, मूढ-चतुर, धनी-निर्धन, विद्वान्-अविद्वान् आदि विचित्रताओं को शुभाशुभ कर्म के फल समझकर सम्यग्दृष्टि अपने दर्शन या धर्म से जरा भी विचलित न हो।

(५) बोधिलाभ महादुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या प्राप्ति बहुत दुष्कर है, ऐसा समझकर उसकी यत्नपूर्वक सुरक्षा करें।

(६) सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन होना चाहिए। आत्मा के सम्बन्ध में यथार्थ एवं स्पष्ट दर्शन ही व्यक्ति को पर-भावों, या भौतिक साधनों से स्वतः विरक्ति दिला सकता है।

(७) ज्ञान का गर्व, मतिमन्दता, निष्ठुर वचन, रौद्र भाव और आलस्य ये पाँच सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक या विनाशक हैं। इन पाँचों दोषों से दूर रहना चाहिए।

(८) अति-आरम्भ, अति-परिग्रह, पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग, द्वेष, मोह, एवं तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ, ये सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पर पर्दा डालने या रुकावट डालने वाले हैं। इन दोनों पर आवरण आने से सम्यक्चारित्र पर भी आवरण आ जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन के आवरक या आच्छादक इन दोषों से दूर रहना चाहिए, इन्हें उपशान्त करने या घटाने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा सम्यग्दर्शन को नष्ट होते देर न लगेगी। बाहर से केवल सम्यग्दर्शन का खोखा—मौखिक श्रद्धा मात्र का कलेवर रह जाएगा, अन्तर् से सम्यग्दर्शन को घुन लग जायेगा।

(९) सम्यग्दृष्टि को संसार, शरीर और भोगों के प्रति अरुचि होनी चाहिए। अगर सम्यग्दृष्टि सांसारिक पदार्थों, शरीर और शरीर से सम्बन्धित जड़-चेतन पदार्थों एवं विषय-भोगों के प्रति विरक्त या उदासीन नहीं रहेगा, इनमें अधिकाधिक आसक्ति, मोह या मूर्च्छा रखेगा, तो सम्यग्दर्शन की सुरक्षा नहीं कर सकेगा, उसके पास केवल थोथा वाचिक सम्यग्दर्शन रहेगा, वास्तविक सम्यग्दर्शन का ह्रास हो जायेगा।

(१०) कदाचित् विवश होकर राजाभियोग आदि पूर्वोक्त छहछंडी आगारों—अपवादों को लेकर सम्यक्त्व नियम के विरुद्ध बाह्य व्यवहार करना पड़े, तो भी मन में विरक्ति एवं उदासीनता रखें; अन्तर् में उन्हें सम्यग्दर्शन के दोष समझें।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने बहुमूल्य सम्यग्दर्शन-रत्न की सुरक्षा के लिए सतर्क एवं प्रयत्नशील रहना चाहिए। □

६. सम्यग्दर्शन की विशुद्धि

संसार में सबसे अधिक दुर्लभ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। उस अतिदुर्लभ, दुराराध्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के बाद यदि कोई व्यक्ति उसकी सुरक्षा न करे, उसे बार-बार शंका, कांक्षा आदि दोषों से मलिन, चंचल एवं शिथिल करता रहे, उसको विशुद्ध रखने का ध्यान न रखे तो उसके लिए सम्यग्दर्शन का लाभ पुनः काता-पीजा कपास की तरह हो जाएगा, उसे शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए पुनः कठोर परिश्रम, कठोर साधना करनी पड़ेगी।

वीतराग तीर्थंकरों ने तथा महान आचार्यों ने सम्यक्त्व की शुद्धि और सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व में असावधानी से लग जाने वाले अतिचारों, दोषों, मलिनताओं, भ्रान्तियों से दूर रहने, सावधान रहने और दोष लग गए हों तो तुरन्त शुद्धि करने की शिक्षा दी है, बार-बार शास्त्रों में चेतावनी दी है और सावधान किया है, भव्य भावुक श्रद्धावान् व्यक्तियों को।[1]

दर्शनविशुद्धि का महत्त्व

दर्शनविशुद्धि का आध्यात्मिक जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। दर्शनविशुद्धि के बिना न ज्ञान शुद्ध होता है, और न चारित्र ही। तप भी दर्शन-विशुद्धि के बिना शुद्ध नहीं होता। इसलिए दर्शनविशुद्धि को तत्त्वार्थ सूत्र में तीर्थंकर गोत्र के उपार्जन का मुख्य कारण बताया है।[2] भगवती आराधना में शुद्ध सम्यग्दर्शन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है—

---

१. "समणोवासएणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा ......।" —[illegible]

२. "दर्शनविशुद्धि ....तीर्थंकरत्वस्य।" —तत्त्वार्थसूत्र ६।२४

की विशुद्धि के बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्र से तीर्थकरनाम कर्म का बन्ध नहीं होता। विशुद्ध सम्यग्दर्शन के लिए तीन मूढताओं और ८ मदो से रहित होने के साथ-साथ साधक को निजस्वरूप का विनिश्चय भी होना आवश्यक है, इस प्रकार की दर्शनविशुद्धि होने पर बाकी की १५ भावनाएँ उसी एक दर्शनविशुद्धि मे ही समाविष्ट हो जाती हैं। इस कारण तीर्थकर-नामकर्म के उपार्जन के लिए दर्शनविशुद्धता का निर्देश किया गया है।[1]

दर्शनविशुद्धि को ही सच्चे माने में शुद्ध बताते हुए मोक्ष-पाहुड में कहा गया है—

> दंसणसुद्धो सुद्धो दसणसुद्धो लहेइ णिव्वाण।
> दंसणविहीण पुरिसो न लहइ तं इच्छिय लाहं ॥[2]

"जो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मे शुद्ध है, वही (आत्मा) वास्तव मे शुद्ध है, अर्थात् उसी आत्मा का ज्ञान, चारित्र और तप शुद्ध है। दर्शन-शुद्ध आत्मा ही निर्वाण को प्राप्त करता है। दर्शनविशुद्धि से विहीन व्यक्ति अभीष्ट (मोक्ष) को प्राप्त नही कर सकता।"

इसके अतिरिक्त विशुद्ध निर्मल सम्यग्दर्शनसम्पन्न पुरुष की महत्ता प्रदर्शित करते हुए मोक्ष पाहुड मे कहा गया है—

> गहिऊण य सम्मत्त सुणिम्मल सुरगिरीव णिक्कंपं।
> तं झाइज्जइ झाणे सावय! दुक्खक्खयट्ठाए ॥
> ते धण्णा सुकयत्था, ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
> सम्मत्त सिद्धिकरं सुविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥[3]

"हे श्रावक! शंकादि अतिचार और चल, मलिन एव अगाढ़ दोषो (मलों) से रहित सुनिर्मल और सुमेरु पर्वत की तरह निष्कम्प (अडोल) सम्यक्त्व को धारण करके दु खरूप कर्मों को क्षय करने हेतु उस शुद्ध सुनिर्मल सम्यग्दर्शन का ध्यान करो।"

"जो नररत्न मुक्ति प्राप्त कराने वाले निर्मल सम्यग्दर्शन को स्वप्न मे भी मलिन नही करते, वे पुरुष धन्य हैं, उनका जीवन कृतार्थ है, वे ही शूरवीर हैं, वे ही शास्त्रज्ञ पण्डित हैं।

---

१. चारित्रसार ५१।१।
२. मोक्षपाहुड ३९।
३ वही ८९,८९।

शुद्ध सम्यग्दर्शन से युक्त होकर ज्ञान और चारित्र को प्राप्त करता है, उसका वह जन्म सम्यक् लाभ है, उसका जन्म सार्थक है।"

शुद्ध सम्यग्दर्शनधारक के लिए उसका सर्वोत्तम फल बताते हुए प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में स्पष्ट कहा गया है—

> अतिचारविनिर्मुक्तं यो धत्ते दर्शनं सुधीः।
> तस्य मुक्तिः समायाति नाकसौख्यस्य का कथा ?

"जो बुद्धिमान मानव अतिचारों (दोषों) से मुक्त शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है, उसे मुक्तिलक्ष्मी स्वयं वरण करने आती है, स्वर्ग के सुखों का तो कहना ही क्या ? वे तो अनायास ही प्राप्त होते हैं।"

और तो क्या कहें, अहिंसापालन अच्छा है, सत्याचरण भी श्रेष्ठ है, ब्रह्मचर्य पालन भी उत्तम है, अपरिग्रहवृत्ति भी सुन्दर है, परन्तु ये सब धर्म कब हो सकते हैं, इन सबका पालन करने से सच्चे माने में धर्म का लाभ कब होता है ? इसका जैन-तत्त्वविदों के पास एक ही उत्तर है जो युक्ति एवं सिद्धान्त से सम्मत है, वह यह है कि "सम्यक्त्व शुद्धाविव धर्मलाभः" सम्यक्त्व-शुद्धि होने पर ही धर्म का लाभ होता है।[2]

शुद्ध सम्यग्दर्शन के होने पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि धर्म कहलाने वाले तत्त्वों का पालन-आचरण सच्चे माने में धर्म हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

"दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं।"[3]

अर्थात्—"शुद्ध दृष्टि से दृष्टिसम्पन्न होकर दुश्चर धर्म का आचरण करो।"

इसका फलितार्थ यह है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टिपूर्वक अहिंसादि का आचरण करने पर ही धर्म का लाभ हो सकता है।

यह बड़ी अटपटी बात लगती है, कई लोगों को। परन्तु जैनधर्म का मर्म समझने वाले व्यक्ति शीघ्र ही बता देंगे कि शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना

---

१. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११।६४.
२. अमितगति श्रावकाचार परि० ११।३.
३. उत्तराध्ययन,

।-धान्यादि सम्पन्न, शत्रुओं के हृदय को जीतने वाले एवं धर्मयुक्त अर्थ-काम साधक होते हैं।[1]

यही दर्शनविशुद्धि का चमत्कार है। इससे समझा जा सकता है कि यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी उसे विशुद्ध रखने का कितना बड़ा महत्त्व है।

सम्यग्दर्शन विशुद्धि क्या है ?

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि की परिभाषा एवं लक्षणो तथा उसके स्वरूप जानना आवश्यक है। सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में समागत दर्शनविशुद्धि विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये लक्षणों का सार यह है—

(१) वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग पर निःशंकित दे आठ अंगों से युक्त रुचि या श्रद्धा दर्शनविशुद्धि है।[2]

(२) "दसणं सम्मद्दंसणं तस्स विसुज्झदा""तिमूढाबोढ-अट्ठमलवदिरित्त द्दंसणभावो दसणविसुज्झदा नाम।"[3]

"दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन है, उसकी विशुद्धता अर्थात् मूढताओं, मदों या आठ मलों से रहित सम्यग्दर्शन का नाम दर्शनविशुद्धता है।"

(३) जिनोपदिष्ट मोक्ष-मार्ग के विषय में शंका, कांक्षा (इहलोक-लोक में धर्माचरण-फलाकांक्षा), विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, मिथ्या-का संस्तव (अतिपरिचय) से विरति, तथा मूढताओं आदि से रहित सम्यग्दर्शन की विशुद्धता है।

(४) जीवादि पदार्थों के सम्बन्ध में तत्त्वविषयक रुचि, प्रीति या तिरूप दर्शन की नाना प्रकार से शुद्धि—निर्मलता का नाम दर्शन-द्धि है।

(५) औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनों की योग्य अनेक प्रकार की शुद्धि भी दर्शनविशुद्धि है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परि० ११।७६-७७

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्थामानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥

—रत्नकरंड श्रावकाचार, श्लो० ३६

सर्वार्थसिद्धि ६।२४।

धवला ८।७६-८०।

(६) शंकादि मल के निराकरण से प्रसन्नता सम्पादित होना निर्मलता होना दर्शनविशुद्धि है।

(७) निःशंकित आदि आठ गुणों से युक्त शुद्ध आत्मपरिणति दर्शनविशुद्धि है।[1]

(८) प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में दर्शनशुद्ध पुरुष का लक्षण इस प्रकार है—

"निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादि पंचविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः पुरुषाः।"[2]

"निज शुद्ध आत्मस्वरूप की रुचिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन का साधक जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन है, उसके तीन मूढ़ताओं आदि २५ मलों (दोषों) से रहित—शुद्ध दर्शन से युक्त पुरुष दर्शनशुद्ध कहलाते हैं।"

(९) रयणसार में दर्शनशुद्धि का लक्षण इस प्रकार है—

७ भय, ७ व्यसन और २५ दोषों से रहित; संसार, शरीर और भोगों से विरक्त तथा निःशंकितादि ८ अंगों से युक्त होकर जो पंच परमेष्ठी का भक्त होता है, उसे दर्शनशुद्ध कहते हैं।[3]

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का स्वरूप समझकर साधक को उसकी शुद्धि के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए उपाय

अब रहा प्रश्न कि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए क्या उपाय है? किन-किन तरीकों से सम्यग्दर्शन शुद्ध रह सकता है?

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के महान् आचार्यों ने अपने-अपने शास्त्रों एवं ग्रन्थों में इसके लिए विविध उपाय बताये हैं। क्योंकि जैसे अशुद्ध या मलिन वस्त्र से किसी भी वस्तु को शुद्ध नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशुद्ध सम्यग्दर्शन से आत्मा को, जीवन को या ज्ञान, चारित्र

१ (क) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ६।२४।१-२,
(ख) भगवती आराधना विजयोदया टीका (अपराजित सूरि) १६७।
(ग) भाव पाहुड टीका ७७।
२. प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति, ८२।१०४।१८.
३. रयणसार, ५।

या तप आदि को न शुद्ध रखा जा सकता है और न ही शुद्ध किया जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'[1]

"धर्म शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है।"

इसलिए धर्म को, ज्ञानादि को या आत्मा को शुद्ध रखने के लिए सम्यग्दर्शन को भी शुद्ध रखना आवश्यक है।

चतुर्विंशतिस्तव सम्यग्दर्शनविशुद्धि का जनक

उत्तराध्ययन सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव के सम्बन्ध मे पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर कहते है—

चउव्वीसत्यएण दसणविसोहिं जणयइ।[2]

"चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थकरों की स्तुति—स्तव) से जीव-दर्शनविशुद्धि प्राप्त करता है।"

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण किया गया है—'देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धान'।

अरिहन्तदेव के प्रति श्रद्धा तभी सुदृढ़ और शुद्ध हो सकती है, जब व्यक्ति अनन्यभक्तिभाव, निर्हेतुक, निष्काम और नि.स्वार्थ भाव से, केवल आत्मशुद्धि की दृष्टि से स्तुति या स्तवन करेगा। तीर्थंकर देव की स्तुति करते समय उसका ध्यान उनके विशुद्ध आत्मस्वरूप पर जायेगा, और साथ ही वह यह भी चिन्तन करेगा कि मेरी आत्मा और उनकी आत्मा में कितना अन्तर है, वह अन्तर क्यों है, उस अन्तर को कैसे रोका या मिटाया जा सकता है? इस चिन्तन के मध्य उसके मानस-पटल पर जीव-अजीव के भेदविज्ञान के अतिरिक्त आस्रव-सवर, पुण्य-पाप, बंध-निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्व आएँगे ही। अत. ऐसी स्थिति मे उसके समक्ष देव, गुरु और धर्म के श्रद्धान के अतिरिक्त तत्त्वभूत पदार्थों का निश्चयपूर्वक श्रद्धान भी होगा और आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी परिलक्षित होगा।

इसी सन्दर्भ में अनगार धर्मामृत में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, ३।१२।

२ उत्तराध्ययनसूत्र, २९।९।

(६) शंकादि मल के निराकरण से प्रसन्नता सम्य
निर्मलता होना दर्शनविशुद्धि है।

(७) निःशंकित आदि आठ गुणों से युक्त शुद्ध आत्मा
विशुद्धि है।[1]

(८) प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में दर्शनशुद्ध पुरुष का
प्रकार है—

"निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढ़त्रयादि पंचवि
तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः पुरुषाः।"[2]

"निज शुद्ध आत्मस्वरूप की रुचिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन
जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन है, उसके तीन मूढ़ताओं आदि २५ म
से रहित—शुद्ध दर्शन से युक्त पुरुष दर्शनशुद्ध कहलाते हैं।"

(९) रयणसार में दर्शनशुद्धि का लक्षण इस प्रकार है—

७ भय, ७ व्यसन और २५ दोषों से रहित; संसार, शरीर
से विरक्त तथा निःशंकितादि ८ अंगों से युक्त होकर जो पंच प
भक्त होता है, उसे दर्शनशुद्ध कहते हैं।[3]

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का स्वरूप समझकर
उसकी शुद्धि के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए उपाय

अब रहा प्रश्न कि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए क्या
किन-किन तरीकों से सम्यग्दर्शन शुद्ध रह सकता है?

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के महान्
अपने-अपने शास्त्रों एवं ग्रन्थों में इसके लिए विविध उपाय
क्योंकि जैसे अशुद्ध या मलिन वस्त्र से किसी भी वस्तु को शुद्ध नहीं
सकता, वैसे ही अशुद्ध सम्यग्दर्शन से आत्मा को, जीवन को या ज्ञा

१ (क) सम्यक्त्व कौमुदी [illegible] ६।२४।१-२
(ख) भगवती आराधना विजयोदया टीका (अपराजित सूरि) १६३।
(ग) भाव पाहुड टीका ७७।
२ प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति, ८२।१०४।१८.
३ रयणसार, ५।

(१) तीन मूढ़ताओं का त्याग।
(२) आठ मदों का त्याग।
(३) छह अनायतन का त्याग।
(४) शंकादि आठ दोषों का त्याग।

ज्ञानसार, तारणतरण श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के इन २५ दोषों का विस्तृत वर्णन मिलता है। एक श्लोक में संक्षेप में २५ दोषों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानिषट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥

"तीन (३) मूढ़ताएँ, आठ (८) मद, छह (६) अनायतन, तथा आठ (८) शंकादि दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस (२५) दोष है। इनके रहते सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रह सकता, वह अशुद्ध रहता है।"

तीन मूढ़ताओं के स्वरूप के विषय में हम पहले बता चुके हैं।

आठ मदों का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। ये आठ मद इस प्रकार हैं—

(१) जातिमद, (५) श्रुतमद (ज्ञानमद),
(२) कुलमद, (६) तपोमद,
(३) बलमद (शक्तिमद), (७) रूप मद (सौन्दर्यमद या शरीरमद)
(४) लाभमद (धनमद या समृद्धि मद) (८) ऐश्वर्यमद या प्रभुत्वमद (पूजामद)

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में मद के ये आठ भेद कुछ नामों में अन्तर के साथ मिलते है। नामों में कुछ अन्तर भले ही हो, उनके भावों में कोई अन्तर नहीं है। सम्यग्दृष्टि अगर इनमें से किसी भी मद को अपने जीवन में स्थान देता है तो वह अपने सम्यग्दर्शन को मलिन, कलंकित और दूषित करता है, उसके महत्त्व को कम करता है।

(१-२) जातिमद एवं कुलमद—सम्यग्दृष्टि यदि अपनी जाति और कुल का अभिमान करता है कि 'मैं ही उच्च जाति और उच्च कुल का हूँ। दूसरे सब नीच जाति और कुल के हैं। सम्यग्दृष्टि तो उच्च जाति और कुल का ही व्यक्ति हो सकता है, नीची जाति का या नीच कुल का नहीं।' इस प्रकार जाति-कुल के अहंकार में एक तो साधर्मिकों का अपमान होता दूसरे जैन सिद्धान्तों के प्रति अनास्था भी झलकती है।

... में कहा गया है कि जैसे सम्यग्दर्शन की निर्मलता की वृद्धि के लिए उपगूहन आदि गुणों (अंगों) का पालन किया जाता है वैसे ही धर्म, अर्हन्त, उनके साधु तथा संघ की भक्ति आदि के रूप में सम्यग्दर्शन के गुण वाले महानुभावों का अत्यन्त विनय भी करना चाहिए।[1]

निष्कर्ष यह है कि चतुर्विंशतिस्तव व्यक्ति के सम्यग्दर्शन की शुद्धि में विशिष्ट रूप से सहायक होता है। सम्यग्दर्शन पर आई हुई मलिनता का पता भी इससे शीघ्र ही लग जाता है और व्यक्ति अपने सम्यग्दर्शन पर छाए हुए दोषों को शुद्ध करने में प्रयत्नशील हो जाता है।

सम्यक्त्व-शुद्धि का कारण : जीवादि पदार्थों का निश्चयपूर्वक हेयोपादेय-विवेक

सम्यग्दर्शन की शुद्धि तभी स्थायी रह सकती है, जब सम्यग्दर्शन-प्राप्त व्यक्ति जीव, अजीव आदि पदार्थों का जैसा स्वरूप सर्वज्ञ जिनेन्द्र प्रभु ने शास्त्रों में बताया है, उस पर श्रद्धा रखकर स्वयं विश्लेषण करे, ऊहापोह करे, चिन्तन-मनन करे, तदनन्तर तत्त्वों का निश्चय करके सभी ज्ञेय तत्त्वों को शुद्ध मतिज्ञानपूर्वक जानकर उनमें से हेय-उपादेय का विवेक करे। हेय और उपादेय का विवेक-दीपक जब व्यक्ति के अन्तःकरण में सतत प्रज्वलित रहेगा, तब वह अपने सम्यग्दर्शन में देव, गुरु और धर्म के नाम से देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्ममूढ़ता नहीं आने देगा, अपने मन में तत्त्वों के स्वरूप—खासतौर से आत्मा के विशुद्ध स्वरूप में चल, मलिन और अगाढ़ दोषों को भी घुसने नहीं देगा। वह अन्य देवों, गुरुओं और धर्मों के बाह्य आडम्बर, चमत्कार आदि देखकर, उनके सान्निध्य में इन्द्रिय-विषयों का लुभावना आकर्षण देखकर या उनके अनुगामियों द्वारा भय या प्रलोभन दिये जाने पर जरा भी विचलित नहीं होगा। अपनी यथार्थ तत्त्वश्रद्धा से तनिक भी विचलित नहीं होगा।

निष्कर्ष यह है कि हेयोपादेय का विवेक भी सम्यग्दर्शन की शुद्धि का अचूक साधन है।

पच्चीस दोषों का त्याग : सम्यग्दर्शन शुद्धि का उपाय

दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में निम्न २५ दोषों का त्याग सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए अनिवार्य बताया है—

---

१. " ... दृग्विशुद्धिविवृद्ध्यर्थं गुणवद् विनय भृशः।'

—अनगार धर्मामृत, अ० २।११०

(१) तीन मूढ़ताओं का त्याग।
(२) आठ मदों का त्याग।
(३) छह अनायतन का त्याग।
(४) शंकादि आठ दोषों का त्याग।

ज्ञानसार, तारणतरण श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के इन २५ दोषों का विस्तृत वर्णन मिलता है। एक श्लोक में संक्षेप में २५ दोषों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

> मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानिषट्।
> अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥

"तीन (३) मूढ़ताएँ, आठ (८) मद, छह (६) अनायतन, तथा आठ (८) शंकादि दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस (२५) दोष हैं। इनके रहते सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रह सकता, वह अशुद्ध रहता है।"

तीन मूढ़ताओं के स्वरूप के विषय में हम पहले बता चुके हैं।

आठ मदों का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। ये आठ मद इस प्रकार हैं—

(१) जातिमद, (५) श्रुतमद (ज्ञानमद),
(२) कुलमद, (६) तपोमद,
(३) बलमद (शक्तिमद), (७) रूप मद (सौन्दर्यमद या शरीरमद)
(४) लाभमद (धनमद या समृद्धि मद) (८) ऐश्वर्यमद या प्रभुत्वमद (पूजामद)

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में मद के ये आठ भेद कुछ नामों में अन्तर के साथ मिलते हैं। नामों में कुछ अन्तर भले ही हो, उनके भावों में कोई अन्तर नहीं है। सम्यग्दृष्टि अगर इनमें से किसी भी मद को अपने जीवन में स्थान देता है तो वह अपने सम्यग्दर्शन को मलिन, कलंकित और दूषित करता है, उसके महत्त्व को कम करता है।

(१-२) जातिमद एवं कुलमद—सम्यग्दृष्टि यदि अपनी जाति और कुल का अभिमान करता है कि 'मैं तो उच्च जाति और उच्च कुल का हूँ, दूसरे सब नीच जाति और कुल के हैं। सम्यग्दृष्टि तो उच्च जाति और कुल का ही व्यक्ति हो सकता है, नीची जाति का या नीचे कुल का नहीं।' इस प्रकार जाति-कुल के अहंकार से एक तो साधर्मियों का अपमान होता है, दूसरे जैन सिद्धान्तों के प्रति अनास्था भी झलकती है।

प्रतिपक्षी प्रबल हाथी के साथ लड़ने से रोक लेता है, उसी तरह अपने द्वारा धारण किए हुए व्रतादि की सुरक्षा चाहने वाले सम्यक्त्व के भव्य आराधक को प्रबल मिथ्यात्व या मिथ्यात्वी के साथ संघर्ष होते ही अपने सम्यक्त्व की शुद्धि एवं रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि आगामी ज्ञान और चारित्र की पुष्टि में सम्यक्त्व ही निमित्त होता है।

कहीं-कहीं (१) मिथ्यादेव, (२) मिथ्यादेव के आराधक, (३) मिथ्या-तप, (४) मिथ्या तपस्वी, (५) मिथ्या आगम और (६) मिथ्या आगम के धारक, ये ६ अनायतन कहे गये हैं।

अगर मिथ्यात्व नामक अनायतन से सर्वथा दूर रहे तो बाकी के अनायतन अनायतन न रहकर सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिए आयतन बन जाते हैं।

शंकादि आठ दोषों का त्याग

इससे पूर्व खण्ड में सम्यग्दर्शन के जो आठ अंग—निःशंकित आदि बताये गये हैं, वे सम्यग्दर्शन के गुण हैं, किन्तु इन आठ अंगों से विपरीत शंका आदि आठ दोष हैं। ये आठ दोष सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं, सम्यग्दर्शनरूपी स्वच्छ दर्पण पर ये आठ धब्बे हैं, धब्बे हैं, जो सम्यग्दर्शन को दूषित, अशुद्ध और गंदा कर देते हैं। वे आठ दोष इस प्रकार होते हैं—

१. शंका	५. अनुपबृंहण या अनुपगूहन
२. कांक्षा	६. अस्थिरीकरण या अस्थितिकरण
३. विचिकित्सा	७. अवात्सल्य, और
४. मूढ़दृष्टित्व	८. अप्रभावना।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टिता—ये चारों दोष किस प्रकार सम्यग्दर्शन को दूषित कर देते हैं, मनुष्य शंका, कांक्षा और विचिकित्सा तथा मूढ़दृष्टित्व के कारण सम्यग्दर्शन में कैसे [illegible], [illegible], चल-विचल हो जाता है, और धीरे-धीरे एक दिन उसके सम्यग्दर्शन की [illegible] [illegible] जाती है ? यह यहाँ बताया जा चुका है। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इनमें से एक-एक भी सम्यक्त्व को मलिन करने में समर्थ है, फिर चारों का कहना ही क्या ?

इसी प्रकार जो व्यक्ति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के साथ (अज्ञ) और अशक्त (साधर्मी) [illegible] [illegible] [illegible] की निन्दा को दूर नहीं करता, [illegible], सम्यग्दर्शन आदि से

दिखते हुए साधर्मी को पुनः उसी मार्ग में स्थापित नहीं करता; साधर्मी को हीन-दीन अवस्था में देखकर भी जो समर्थ होते हुए भी उसके प्रति वात्सल्य भाव नहीं दिखाता, सहयोग नहीं देता; तथा जो अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति के उपायरूप मार्ग (धर्म) को उसकी महत्ता से गिराता है, धर्म की बदनामी कराता है, लोक में उसे प्रभावशून्य बतलाता है, ये चारों ही सम्यग्दर्शन के विराधक हैं, सम्यक्त्व को दूषित और अशुद्ध करते हैं।

यही कारण है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए इन शंकादि आठों दोषों का परित्याग करना आवश्यक बताया है।

इतना ही नहीं, सम्यग्दर्शन की समग्र शुद्धि के लिए पूर्वोक्त २५ दोषों का त्याग करना आवश्यक है।

आठ अंग, आठ गुण भी सम्यग्दर्शनविशुद्धिकारक

इनके अतिरिक्त निःशंकित आदि आठ अंगों तथा संवेग, निर्वेद निन्दा, गर्हा आदि आठ गुणों (जिनकी व्याख्या हम तृतीय खण्ड में कर चुके हैं) को भी आचार्यों ने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करने वाले कहे हैं। शुद्ध सम्यग्दर्शन भी उन्होंने वही बताया है,—'जो शंकादि दोषों से रहित और निःशंकादि गुणों से युक्त है, तथा कर्मनिर्जरा का कारण है।'[1]

सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए ६७ बोल

इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए परमार्थदर्शी आचार्यों ने ६७ बोल बताये हैं—

> तस्स विसुद्धिनिमित्तं नाऊण सत्तसट्ठि ठाणाइं।
> पालिज्जइ-परिहरिज्जं च जहारिहं इत्थ नाहाओ॥[2]

"उस प्राप्त सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए ६७ स्थानकों (बोलों) को जानकर उनमें से जो पालन-आचरण करने योग्य हों, उनका पालन करना तथा जो त्याग करने योग्य हों, उनका त्याग करना चाहिए।"

जगत् में जीवादि सभी पदार्थों में से कई पदार्थ ज्ञेय (जानने योग्य)

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, ५०, ५१।
२ (क) सम्यक्त्वविमर्श, पृष्ठ १३८।
(ख) धर्मसंग्रह अधि० १, गुण० १३।

है, कई उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं तथा कितने ही पदार्थ हेय (त्याग करने योग्य) हैं। उनको जानकर यथायोग्य करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि के परम निमित्त ६७ बोल इस प्रकार है—(१) चार प्रकार की श्रद्धा, (२) तीन लिंग, (३) दश प्रकार की विनय, (४) तीन प्रकार की शुद्धि, (५) पाँच दूषण (अतिचार), (६) आठ प्रकार की सम्यक्त्व-प्रभावना, (७) पाँच भूषण, (८) पाँच लक्षण, (९) छह प्रकार की यतना, (१०) छह आगार, (११) छह भावनाएँ, (१२) षट् स्थानक।[1]

जिनमें सम्यग्दर्शन शुद्धरूप में स्थिर हो चुका है, उनमें ये ६७ बोल यथायोग्य हेय, ज्ञेय और उपादेय के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

अब संक्षेप में इनका विवेचन कीजिये —

चार प्रकार की श्रद्धा—सम्यक्त्व-प्राप्ति होने के बाद उसका सेवन किस प्रकार करना चाहिए, जिससे सम्यक्त्व शुद्ध रहे। इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

> परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
> वावण्णकुदंसणवज्जणा इअ सम्मत्तसद्दहणा ॥[2]

"(१) परमार्थसंस्तव और जिन्होंने (२) परमार्थ का भली-भाँति दर्शन कर लिया है, इन दोनों का सेवन करना, और (३-४) सम्यक्त्व तथा चारित्र से भ्रष्ट (व्यापन्न) तथा कुदर्शन का परिहार करना।"

परमार्थसस्तव के दो अर्थ बताये गये है—(१) परमार्थ—जीवादि तत्त्वभूत अर्थ का परिचय, और (२) तत्त्वभूत अर्थ (तत्त्वज्ञान—मोक्षप्राप्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान-सम्यग्ज्ञान) का सस्तव—अभ्यास तथा सुदृष्ट परमार्थ-सेवना का अर्थ है—जिन्होंने परमार्थ का भली-भाँति अभ्यास या निश्चय कर लिया है, ऐसे मुनिगण-आचार्य आदि सत्पुरुषों की सेवा करना।

सम्यग्दृष्टि-प्राप्त मनुष्य को प्रतिदिन तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना चाहिए, उस पर श्रद्धा, प्रतीति रखकर हंस की तरह जो असार अर्थ है, उसका त्याग और सारभूत अर्थ का विवेक करना चाहिये, कौए-कुत्ते की तरह निःसार और अतत्त्वभूत पदार्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब आत्मा को त्याज्य और ग्राह्य वस्तुओं या व्यक्तियों का ज्ञान

१. सम्यक्त्वमित्तरी, पृष्ठ १३६।
२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ

हो जाए। अन्यथा, आत्मा सत्य-पथ पर न लगकर इधर-उधर के भ्रमजाल में पड़ जाता है। असली हीरे के बदले कांच को समझते हुए टुकड़ों को पकड़ बैठता है। इसीलिए यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए तत्त्वज्ञान का अभ्यास और वास्तविक तत्त्वज्ञों की सेवा करने का कहा गया है।

भगवती सूत्र में ऐसे तत्त्वज्ञ या तत्त्वों को जीवन में रमाये हुए तथारूप श्रमण माहनों की पर्युपासना का फल श्रवण से लेकर अक्रिया (मुक्ति) तक बताया है। परन्तु इस तप-त्यागी तत्त्वज्ञ महामुनियों की सेवा करने की भावना तभी हो सकती है, जबकि दो प्रकार के साधकाभासों की संगति का त्याग किया जाय—एक तो जिनकी श्रद्धा विपरीत हो गई है, जो दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हो चुके हैं, जो स्वलिंग में रहते हुए भी जिनप्रणीत तत्त्वों से विपरीत प्ररूपणा करते हैं, उन स्वलिंगी तथा निह्नवों की संगति तथा दूसरे कुदृष्टि-अन्यदर्शनी—जो एकान्तवाद का आश्रय लिये हुए हैं, तथा जिनकी श्रद्धा, प्ररूपणा एवं वेशभूषा भी जैनदर्शन से विपरीत-भिन्न है, उनकी संगति से दूर रहना, क्योंकि इनकी संगति करने से सम्यक्त्व मलिन होता है।

इस प्रकार दो तत्त्वों को अपनाना और दो को छोड़ना सम्यक्त्व शुद्धि के लिए आवश्यक है। इसे समझाने के लिए भगवती सूत्र टीका में एक दृष्टान्त दिया गया है—

वीर निर्वाण के दो सौ बीस वर्ष बाद सामुच्छेदिकदृष्टि नामक निह्नव हुआ। मिथिला में महागिरि सूरि के शिष्य कौडिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद पूर्व से नैपुणिक अध्ययन पढ़ रहा था। वहाँ उसने पढ़ा—'पैदा हुए नारकी के सभी जीव समाप्त हो जाएँगे, वैमानिक तक सभी समाप्त हो जाएँगे, इस तरह द्वितीय आदि क्षणों में भी मानना चाहिए।'[1] इस पर उसके मन में शंका हुई कि पैदा हुए सभी जीव नष्ट हो जाएँगे तो पुण्य-पाप का फल-भोग कैसे होगा, क्योंकि सभी जीव तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाएँगे?

उसके गुरु कौडिन्य ने विभिन्न युक्तियों से उसे समझाया, किन्तु उसने अपना कदाग्रह न छोड़ा। फलतः गुरु ने उसे गणबहिष्कृत कर दिया। वह अपने मत का उपदेश देता हुआ राजगृह पहुँचा। वहाँ शुल्कपाल

1 भगवतीसूत्र टीका श० ३, उ० २।

ावकों ने उन्हें निह्नव जानकर पीटना शुरू किया। भयभीत अश्वमित्र
कहा—"तुम लोग श्रावक हो, तुम साधुओं को क्यों मारते हो।" [illegible]
हा—"तुम्हारे सिद्धान्त में तो जिन्होंने दीक्षा ली थी, वे तो नष्ट हो गए,
न लोग तो कोई और ही।" इस पर उन लोगों की बात [illegible]
होंने अपना आग्रह छोड़ दिया और पश्चात्ताप करते हुए गुरु की सेवा में
र गये।

अश्वमित्र के मत-प्रतिपादन में ऋजुसूत्र नय का एकान्त आश्रय
या गया है। अगर अनेकान्त की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय दोनों नय [illegible]
ा जाए तो प्रत्येक वस्तु नित्य और अनित्य दोनों ही सिद्ध होती। [illegible]
ार निह्नवता का त्याग करने से पुनः अश्वमित्र का सम्यक्त्व शुद्ध हो
।

त्रिलिंग—सम्यक्त्व-शुद्ध व्यक्ति तीन लिंगों—चिह्नों से पहचाना जाता
(१) परम आगम-शुश्रूषा, (२) धर्मसाधना में उत्कृष्ट अनुराग, (३)
देव और पंचाचार-परिपालक गुरु की वैयावृत्य करने का नियम।

उत्कृष्ट आगम (शास्त्र) श्रवण करने की परम उत्कण्ठा-उत्सुकता
होना शुद्ध सम्यग्दृष्टि की पहली निशानी है। केवल श्रवण करने की ही
नहीं, उसकी श्रवणेच्छा इस प्रकार विस्तृत होती है—वह श्रवण की इच्छा
करता है, प्रतिप्रश्न करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, फिर ऊहापोह
करता है, इसके पश्चात् सम्यक् प्रकार से धारण करता है—स्मृति में
सुरक्षित रखता है, क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकार के श्रवण का फल
केवल सुनना ही नहीं है, किन्तु परम्परा से श्रवण, ज्ञान, विज्ञान,
प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, व्यवदान, अक्रिया और निर्वाण है।

सम्यक्त्वधारक की दूसरी निशानी है—धर्मसाधना में राग की
उत्कृष्ट भावना—प्रीतिपूर्वक अनुराग। अर्थात्—वह धर्मकार्य करने में
टालमटूल या अन्तराय नहीं करता, सदा अप्रमत्त होकर उद्यम करता है।
जो अन्य व्यक्ति धर्माचरण करता है, उसे भी वह सहायता देता है।

तीसरी निशानी सम्यक्त्वी की यह है कि अठारह दोष रहित वीत-
राग जिनेश्वर की तथा उनके बताए मार्ग पर चलने वाले पंचाचार-पालक
सुसाधु गुरुदेव की प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार की वैयावृत्य—सेवा करने
का उसे नियम होता है। अर्थात्—वह नियमित रूप से इन दोनों देव-गुरु
की वैयावृत्य अवश्य करता है।

इस प्रकार के तीन लिंगों से सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व को शुद्ध कर लेता है।

दस प्रकार का विनय—वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलीभाषित धर्म में श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। भक्ति, प्रशंसा, सत्कार, श्रद्धा, बहुमान व्यक्त करना आदि तथा अवर्णवाद (निन्दा) से दूर रहना, दर्शन (सम्यग्दर्शन) का विनय है। भगवतीसूत्र में इसके १० भेद बताये हैं—

(१) अरिहन्तों का विनय,
(२) अरिहन्तप्ररूपित धर्म का विनय,
(३) आचार्यों का विनय,
(४) उपाध्यायों का विनय,
(५) स्थविरों का विनय,
(६) कुल का विनय,
(७) गण का विनय,
(८) संघ का विनय,
(९) धार्मिक क्रिया का विनय और
(१०) साधर्मिक का विनय।

दर्शनविनय के मुख्य दो प्रकार बताये हैं—(१) शुश्रूषा विनय और (२) अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के अनेक भेद हैं। अनाशातना विनय के ४५ भेद हैं। उपर्युक्त १० भेद और ज्ञान के ५ भेद मिलाकर १५ भेद हुए। इन १५ बोलो के (१) अनाशातना, (२) भक्ति और (३) बहुमान, यों प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से १५×३=४५ भेद हुए।[1]

यों १० प्रकार से दर्शनविनय करने से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है। विनयमूलक धर्म पर जो श्रद्धा करता है, वह अपने सम्यक्त्व की शुद्धि कर लेता है। आवश्यकसूत्र में भी "इणमेव निग्गथ पावयणं सच्चं · संसुद्ध सव्व दुक्खाणमतं करेंति।" पाठ है, इसमें भी दर्शनविनय के धारक को संशुद्धि करने वाला कहा गया है।

तीन प्रकार की शुद्धि—तीन प्रकार की शुद्धि भी सम्यग्दर्शन की शुद्धि करती है। तीन प्रकार की शुद्धि इस प्रकार है—(१) मन शुद्धि, (२) वचन-शुद्धि और (३) कायाशुद्धि। कहा भी है—

"मणवायाकायाणं सुद्धी सम्मत्तसोहिणी तत्थ।"[2]

इसका भावार्थ यह है कि प्रशस्त मन से निःशंकित आदि ८ दर्शनाचार का पालन करना—चिन्तन करना, इसी तरह प्रशस्त वचन से ये ही ८

१ सम्यक्त्वविमर्श, पृष्ठ १६३।
२ भगवती, शतक २५, उ० ७।

आचार पालन करे, अर्थात् वचन से प्रशंसा करे, महत्त्व बताए। इसी प्रकार काया से प्रशस्त रूप से पालन करे। जैसे कि सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है—

"अयमाउसो! एस अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

"हे आयुष्मन्! यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सार्थक है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त सभी अनर्थकर हैं।"

शंकादि पाँच दोषों का निवारण भी सम्यक्त्व-शुद्धि के लिए आवश्यक है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा, मिथ्यादृष्टिसंस्तव — परिचय, ये ५ दोष सम्यक्त्व के घातक हैं, इन पाँच दोषों से दूर रहने वाला अपने सम्यक्त्व को शुद्ध रखता है।

स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थानक में ४ सुखशय्या बताई हैं। उनमें से देव-गुरु-धर्म या प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि प्रथम सुखशय्या है।[1] अतः सम्यक्त्व-शुद्धि के लिए शंकादि ५ अतिचारों से दूर रहना आवश्यक है।

आठ प्रभावक के रूप में प्रभावना करना भी सम्यग्दर्शन-शुद्धि का कारण है। जिस प्रकार आकाश में सूर्य, चन्द्रमा तथा घर में दीपक सुशोभित होता है, वैसे ही जिनशासनरूप आकाश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट वचनादि लब्धि का धनी सूर्यवत् सुशोभित होता है। प्रभावक के मुख्य ८ भेद हैं—

१ प्रावचनी	५ तपस्वी
२. धर्मकथी	६. विद्यावान
३ वादी	७ सिद्ध
४. नैमित्तिक	८ कवि।[2]

इन सबके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्रावचनी—बारह अंग, गणिपिटक आदि प्रवचन को जानने वाला अथवा जिस समय जो आगम प्रधान माने जाएँ, उन सबको जानने-समझने वाला।

---

१. स्थानांग, स्थान ४।

२ (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार १४८, गा० ९३४।

(ख) पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य।
विज्जा सिद्धो य कई अट्ठेव पभावगा भणिया ॥३२॥
—सम्यक्त्व

इस प्रकार के तीन लिंगों से सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व को शुद्ध कर लेता है।

दस प्रकार का विनय—वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलीभाषित धर्म में श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। भक्ति, प्रशंसा, सत्कार, श्रद्धा, बहुमान व्यक्त करना आदि तथा आशातना (निन्दा) से दूर रहना, दर्शन (सम्यग्दर्शन) का विनय है। भगवतीसूत्र में इसके १० भेद बताये हैं-

(१) अरिहन्तों का विनय,	(६) कुल का विनय,
(२) अरिहन्तप्ररूपित धर्म का विनय,	(७) गण का विनय,
(३) आचार्यों का विनय,	(८) संघ का विनय,
(४) उपाध्यायों का विनय,	(९) धार्मिक क्रिया का विनय और
(५) स्थविरों का विनय,	(१०) साधार्मिक का विनय।

दर्शनविनय के मुख्य दो प्रकार बताये हैं—(१) शुश्रूषा विनय और (२) अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के अनेक भेद हैं। अनाशातना विनय के ४५ भेद हैं। उपर्युक्त १० भेद और ज्ञान के ५ भेद मिलाकर १५ भेद हुए। इन १५ बोलों के (१) अनाशातना, (२) भक्ति और (३) बहुमान, यों प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से १५ × ३ = ४५ भेद हुए।[1]

यों १० प्रकार से दर्शनविनय करने से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है। विनयमूलक धर्म पर जो श्रद्धा करता है, वह अपने सम्यक्त्व की शुद्धि कर लेता है। आवश्यकसूत्र में भी "**इणमेव निग्गंथं पावयणं सद्दहं ... संसुद्ध सम्म दुक्खाणमंतं करेंति।**" पाठ है, इसमें भी दर्शनविनय के धारक को संशुद्धि करने वाला कहा गया है।

तीन प्रकार की शुद्धि—तीन प्रकार की शुद्धि भी सम्यग्दर्शन की शुद्धि करती है। तीन प्रकार की शुद्धि इस प्रकार है—(१) मन शुद्धि, (२) वचन-शुद्धि और (३) कायाशुद्धि। कहा भी है—

"**मणवायाकायाणं सुद्धी सम्मत्तसोहिणी तत्थ।**"[2]

इसका भावार्थ यह है कि प्रशस्त मन से निःशंकित आदि ८ दर्शनाचार का पालन करना—चिन्तन करना, इसी तरह प्रशस्त वचन से ये ही ८

---

१ सम्यक्त्वविमर्श, पृष्ठ १६७।

२. भगवती, शतक २५, उ० ७।

ार पालन करे, अर्थात् वचन से प्रशंसा करे, महत्त्व बताए। इसी प्रकार ा में प्रशस्त रूप से पालन करे। जैसे कि सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है—

"अयमाउसो ! एस अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

"हे आयुष्मन ! यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सार्थक है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त सभी अनर्थंकर हैं।"

शंकादि पांच दोषों का निवारण भी सम्यक्त्व-शुद्धि के लिए आवश्यक है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा, मिथ्यादृष्टिसंस्तव—परिचय, ये ५ दोष सम्यक्त्व के घातक हैं, इन पांच दोषों से दूर रहने वाला अपने सम्यक्त्व को शुद्ध रखता है।

स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थानक में ४ सुखशय्या बताई हैं। उनमें से देव-गुरु-धर्म या प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि प्रथम सुखशय्या है।[1] अत सम्यक्त्व-शुद्धि के लिए शंकादि ५ अतिचारों से दूर रहना आवश्यक है।

आठ प्रभावक के रूप में प्रभावना करना भी सम्यग्दर्शन-शुद्धि का कारण है। जिस प्रकार आकाश में सूर्य, चन्द्रमा तथा घर में दीपक सुशोभित होता है, वैसे ही जिनशासनरूप आकाश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट वचनादि लब्धि का धनी सूर्यवत् सुशोभित होता है। प्रभावक के मुख्य ८ भेद हैं—

१ प्रावचनी	५ तपस्वी
२. धर्मकथी	६. विद्यावान
३. वादी	७ सिद्ध
४. नैमित्तिक	८ कवि।[2]

इन सबके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्रावचनी—बारह अंग, गणिपिटक आदि प्रवचन को जानने वाला अथवा जिस समय जो आगम प्रधान माने जाएँ, उन सबको जानने-समझने वाला।

---

१. स्थानांग, स्थान ४।

२ (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार १४८, गा० ९३४।

(ख) पावयणी धम्मकही, वाई निमित्तओ तवस्सी य।
विज्जा सिद्धो य कई अट्ठेव पभावगा भणिया ॥३२॥
—सम्यक्त्व सप्तति प्रकरण

(२) धर्मकथी आक्षेपणी, विक्षेपिणी, संवेगजननी, निर्वेदजननी, इस तरह चार प्रकार की कथाओं को, ऐसे प्रभावशाली ढंग से कह सकता हो, जिससे श्रोताओं का चित्त आकर्षित एवं प्रसन्न हो। अर्थात्—जो प्रभावशाली व्याख्यान दे सकता हो।

(३) वादी - वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापतियुक्त चतुरंग सभा मे दूसरे के मत का खण्डन करते हुए अपने पक्ष का मण्डन—समर्थन कर सकता है।

(४) नैमित्तिक—भूत, भविष्य और वर्तमानकाल में होने वाले हानि-लाभ को जानने वाला नैमित्तिक कहलाता है।

(५) तपस्वी—उत्कृष्ट एवं उग्र तप करने वाला।

(६) विद्यावान—प्रज्ञप्ति (विद्याविशेष) आदि विद्याओं (मंत्रों) को सिद्ध करके उनका प्रयोग करने वाला।

(७) सिद्ध—अंजन, पादलेप आदि सिद्धियों वाला।

(८) कवि—गद्य, पद्य मे विविध एवं रुचिर रचना करने वाला।

ये सब प्रभावक अपनी-अपनी विशिष्ट उपलब्धियों द्वारा धर्म एवं संघ की प्रभावना करते है, अपने-अपने विशिष्ट चारित्रगुण के द्वारा भव्य जनता को प्रभावित करके धर्म में उनकी रुचि बढ़ाते है, त्याग, तप और संयम का प्रभाव बढ़ाते है।

प्रभावक आचार्य

प्राचीन ग्रन्थों में इन आठ प्रभावकों के क्रमशः नामोल्लेख भी किये गये है, जिससे इन प्रभावकों की प्रभावना का माहात्म्य एवं ढंग ज्ञात हो जाता है।

प्रावचनिक और धर्मकथिक इन दोनों गुणों के सम्बन्ध में वज्रस्वामी का उदाहरण प्रसिद्ध है। उन्होंने दोनों प्रकार के प्रभावकों की भूमिका निभाई थी।

वज्रस्वामी के रूप एवं शील पर मुग्ध कोट्याधीश की सुन्दरी कन्या रुक्मिणी ने हठ पकड़ लिया कि मैं तो इन्हीं के साथ विवाह करूँगी अन्यथा अग्नि की ज्वालाओं मे कूद जाऊँगी। प्रेम-विह्वल रुक्मिणी को आचार्य वज्रस्वामी ने इतनी कुशलता व विचक्षणता से उपदेश दिया कि उसका

ाकुल हृदय संसार से विरक्त हो गया और वह तेजस्विनी साध्वी बन ।[1]

वादी के सम्बन्ध में मुनिसुन्दर सूरि नामक तेजस्वी आचार्य प्रसिद्ध जिन्होंने गिरनार तीर्थ में ब्राह्मणों के साथ वाद करके उन्हें पराजित किया। त 'दफतरखान' की सभा में उन्हें 'वादिगोकुलसंड' पद प्राप्त हुआ। प्रकार जैन इतिहास में वादी प्रभावकों में आचार्य मल्लवादी का नाम द है। इन्होंने वि० सं० ८८४ में शिलादित्य की सभा में बौद्धाचार्यों के शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त किया, जैन न्याय एवं तर्कशास्त्र की जय-का फहराई। द्वादशार नयचक्र की रचना कर इन्होंने जैन न्यायशास्त्र मरकीर्ति गाथा स्थापित की।[2]

नैमित्तिक प्रभावकों में उत्तम प्रभावक हुए हैं—श्री भद्रबाहु स्वामी, ने संघ में महामारी का उपद्रव दूर करने हेतु 'उवसग्गहर' नामक भावशाली स्तोत्र रचा था।

ज्योतिषाचार्य वराह मिहिर आपका ही लघु भ्राता था। उसने अनेक यवाणियाँ कर राजा-प्रजा को प्रभावित किया, किन्तु आपने अपने र शास्त्रानुगामी सम्यग्ज्ञान के बल पर उसकी भविष्यवाणियों की ता बताकर जैन शास्त्रों की सत्यता का अमिट प्रभाव जमाया।

लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, ज्योतिषविद्या एवं मन्त्रविद्या में आप त थे। 'भद्रबाहु संहिता' तथा 'अर्हन् चूडामणि' नामक ग्रंथ आज भी प व लक्षण शास्त्र के शीर्षस्थ ग्रन्थ माने जाते हैं।[3] आचार्य भद्रबाहु कई शास्त्रों पर रचित निर्युक्तियाँ आज भी प्रसिद्ध हैं। आचारांग, गाग, आवश्यक, दशवैकालिक आदि कई शास्त्रों पर महत्त्वपूर्ण क्तियों में विशद चिन्तन एवं व्याख्या दी गई है।

तपस्वी प्रभावक वह हो सकता है—जो माया, निदान और मिथ्या-प शल्य से रहित उत्कृष्ट तपस्या करता हो, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, ो, प्रशस्त मनस्वी, प्रवचनवत्सल हो। जो दर्शन एवं ज्ञानपूर्वक तप हो, वही सच्चा तपस्वी है। इस सम्बन्ध में तपस्वी एवं लब्धिधारी

---

[1] शेष विवरण के लिए देखें—उपदेशमाला विशेष वृत्ति तथा प्रभावक चरित।
[2] शेष विवरण के लिए देखें—प्रभावक चरित, पृष्ठ ७७-७९।
[3] शेष विवरण के लिए पढ़ें—प्रबन्ध कोश (भद्रबाहु-वराह प्रबन्ध)

मुनि विष्णुकुमार का नाम उल्लेखनीय है। मुनि विष्णुकुमार ने अपने अद्भुत तपःप्रभाव से दुष्ट नमुचि के उपद्रव से जैनशासन एवं संघ की रक्षा की थी।

विद्याप्रभावक के सम्बन्ध में खपुटाचार्य का नाम जैन इतिहास में जाज्वल्यमान है। उन्होंने विद्यामंत्रबल के प्रभाव से भृगुकच्छ में बौद्धाचार्य को हराकर जैनधर्म की होती हुई निन्दा—अवहेलना को रोका और जिनशासन का डंका बजाया।

आचार्य खपुट के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारी प्रसंगों के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। यहाँ एक प्रसंग मननीय है :—

आचार्य खपुट के एक शिष्य का नाम भुवन था। वह इनका भागिनेय भी था। भुवन को आचार्यश्री ने बहुत सी विद्याएँ सिखाईं और अपनी कुशाग्र बुद्धि से भुवन ने वे शीघ्र ही सीख लीं।

उस युग में भृगुकच्छ नगर का राजा बलमित्र बौद्धभक्त था। उसकी सभा में मुनि भुवन ने बौद्धों से शास्त्रार्थ किया और विजय प्राप्त की। बौद्धाचार्य गुडशस्त्रपुर से भृगुकच्छ आये तो भुवन मुनि ने उनको भी शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। इससे जैनशासन की महती प्रभावना हुई।

एक बार गुड़शस्त्रपुर में यक्ष का उपद्रव होने लगा। इस उपद्रव से जैन संघ विशेष रूप से परेशान था। वह यक्ष जैन-संघ को अधिक तंग करता था। आचार्य खपुट को इस बात की सूचना मिली तो वे भृगुकच्छ से गुड़शस्त्रपुर जाने को तैयार हो गये। जाने से पहले इन्होंने अपनी कपर्दिका (विशिष्ट विद्याओं से सम्बन्धित एक पुस्तक) मुनि भुवन को इस आदेश के साथ दी कि 'इसे न तो कभी किसी को देना और न ही कभी स्वयं खोलना।'

सभी प्रकार का उचित प्रशिक्षण और आदेश-निर्देश देकर आचार्य खपुट भृगुकच्छ से चलकर गुड़शस्त्रपुर पहुँचे। वे यक्षायतन में गये और यक्ष के कान में उपानह डालकर सो गये। इससे यक्ष का पुजारी बहुत कुपित हुआ। उसने राजा से शिकायत कर दी। राजा ने अपने सेवकों को आचार्य खपुट को दण्डित करने का आदेश दे दिया। राजपुरुष आचार्य खपुट को पीटने लगे; लेकिन चमत्कार यह हुआ कि करुण-आक्रन्दन राजा के अन्तःपुर में होने लगा।

इससे राजा बहुत प्रभावित हुआ और उनका भक्त बना। यक्ष भी इनसे प्रभावित हुआ। यक्ष प्रतिमा उन्हें द्वार तक छोड़ने आई।

यक्ष का उपद्रव पूर्ण रूप से शान्त हो गया और जिनशासन की महान प्रभावना हुई।

लोगों की प्रार्थना पर आचार्य खपुट कुछ दिन के लिए वहीं ठहर गये।

इतने में भृगुकच्छ से दो साधु आचार्य खपुट के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया—"पूज्य! आपके मना करने पर भी भुवन मुनि ने आपकी कपर्दिका को खोला। उसमें से उसने आकर्षिणी (आकृष्टि) विद्या सिद्ध कर ली है। अब वह विद्या द्वारा अपने पात्रों को प्रतिदिन गृहस्थों के घर आकाश-मार्ग से भेजता है और जब वे सरस-स्वादिष्ट आहार से भर जाते हैं तो उन्हें खींच लेता है। अन्य मुनियों ने उसे समझाया तो उसने संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और वह बौद्ध संघ में जा मिला है। इस चमत्कारी विद्या के प्रभाव से अनेक जैन भी बौद्ध होने लगे हैं। अब आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।'

आचार्य खपुट यह सब जानकर भृगुकच्छ आये और प्रच्छन्न रूप से वहीं स्थित होकर भुवन मुनि के पात्रों को फोड़ने लगे। पात्रों से भरा आहार नगर-वासियों के मस्तक पर गिरने लगा। इससे बौद्ध संघ का अपयश फैलने लगा। भुवन मुनि भी समझ गये कि आचार्य खपुट आ गये हैं, अब वह अन्यत्र चले गये।

इस घटना से जिनशासन की प्रभावना हुई।

एक बार पाटलिपुत्र के ब्राह्मण-भक्त राजा दाहड़ ने जैन श्रमणों को आदेश दिया कि वे ब्राह्मणों को नमन करें। यह जैन संघ के समक्ष भयंकर राजकीय संकट था। आचार्य खपुट को जैसे ही इस संकट की सूचना मिली इन्होंने अपने महेन्द्र नाम के शिष्य को भेजा। राजा दाहड़ की सभा में मुनि महेन्द्र ने लाल और सफेद कनेर के माध्यम से विद्याबल द्वारा ब्राह्मणों को पराजित कर दिया। राजा दाहड़ जिनधर्म का भक्त बन गया। शासन की प्रभावना हुई।

इस प्रकार आचार्य खपुट ने अपने विद्याबल से जिन-शासन की खूब दिपाया। उनकी गणना विद्या-प्रभावक आचार्यों में की जाती है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार इनका समय वीर नि० संवत् ४८४ (वि० सं० १४) है।

सिद्ध प्रभावकों में पादलिप्ताचार्य का नाम जैन इतिहास में बड़

इन पाँचों का संक्षेप में लक्षण इस प्रकार है—

(१) जिनशासन-कुशलता—सम्यक्त्व के क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि जो भेद बताये हैं, उन्हें जानने में दक्षता, तथा देवसिक रात्रिक, चातुर्मासिक, पाक्षिक, सांवत्सरिक आदि के कृत्यों के सम्बन्ध में निपुणता जिनशासन-कौशल है।

(२) प्रभावना—धर्म की ओर आम जनता को आकर्षित करने तथा धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए विविध कार्यक्रमों का आयोजन करना, प्रभावना—(प्रसाद) वितरण करना आदि। संघ की उन्नति के लिए विविध अनुष्ठान एवं आयोजन करना। अपनी शक्तिभर जैनसंघ (शासन) की शोभा बढ़ाना भी प्रभावना है।

(३) तीर्थसेवना—कुछ आचार्यों का मत है जहाँ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण आदि कल्याणक हुए हैं, उस पवित्रभूमि का सेवन —स्पर्श करना तीर्थसेवना है। अथवा जंगमतीर्थ साधु-साध्वी, आचार्य, उपाध्याय, श्रावक-श्राविकावर्ग आदि चतुर्विध संघ की सेवा करना भी तीर्थसेवना है।

(४) स्थिरता—कोई देव, दानव, या मानव आदि प्राणी आकर परीक्षा करे, चलायमान करे तो भी सम्यग्दर्शन में विचलित न हो, दृढ़ रहे। इसी प्रकार अन्य धर्म-सम्प्रदायों या उनके अनुयायियों की पूजा-प्रतिष्ठा देखकर चित्त डाँवाडोल न करे। उस समय मन में सोचे—जब भी जीव मोक्षरूप फल पायेगा, तब सम्यग्दर्शन से ही पायेगा। इस प्रकार सम्यक्त्व पर दृढ़ता रखना। कहा भी है—

> चारित्रयाने भग्नेऽपि गुणमाणिक्यपूरिते।
> तरत्येव महाम्भोधौ सम्यक्त्वफलकग्रहात्॥

"गुणरूपी माणिक्य रत्नों से परिपूर्ण चारित्ररूपी यान—जलयान के टूट जाने पर भी व्यक्ति सम्यक्त्वरूपी फलक (लकड़ी का तख्ता) को पकड़ने से भी महान् सागर पर तैरकर जा सकता है।"

श्रेणिक राजा की तरह सम्यक्त्व में दृढ़ता—स्थिरता रखना सम्यग्दर्शन-शुद्धि की परीक्षा में उत्तीर्ण होना है।

(५) भक्ति—जो भी सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वधारक हों, उनकी विनय-वैयावृत्य करना भक्ति है। अथवा भक्ति का अर्थ यह भी है कि जिनेश्वरदेव

घायल होकर गिर पड़े, पर वे अपने समभाव में स्थिर रहे। बाद में पाण्डव आये। उन्होंने पत्थरों के बीच में दबकर बेहोश पड़े हुए दमदन्त मुनि को देखा तो उन्हें अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने पत्थर हटाकर मुनि का उपचार करके उन्हें स्वस्थ किया, अपराध के लिए क्षमायाचना की।

मोक्षाभिलाषी दमदन्त मुनि ने न तो अपकारी दुर्योधनादि के प्रति रोष-द्वेष किया और न ही उपकारी पाण्डवों के प्रति राग किया, दोनों के प्रति सम रहे जिसके फलस्वरूप क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने केवल ज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

निर्वेद का अर्थ यहाँ किया गया है—संसाररूप कारागृह से शीघ्र निकलने की इच्छा। इस पर हरिवाहन राजा की कथा प्रसिद्ध है।

हरिवाहन के पिता इन्द्रदत्त राजा ने हरिवाहन को राजगद्दी पर बिठाकर जैनेन्द्री दीक्षा ली। हरिवाहन ने सम्यक्त्व सहित बारह व्रत अंगीकार किये।

एक बार विचरण करते हुए इन्द्रदत्त केवली भोगवती नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। हरिवाहन अपने राज-परिवार सहित उन्हें वन्दन करने गया। उनकी धर्मदेशना सुनकर हरिवाहन राजा को संसार से निर्वेद (वैराग्य) हो गया। केवली भगवान् से अपना आयुष्य पूछने पर जब उन्होंने केवल नौ पहर बताया, तो राजा हरिवाहन सुनकर काँपने लगा—"हाय! मैं नौ पहर में कैसे आत्म-साधना कर सकूँगा?"

केवली ने उसे आश्वासन देकर शीघ्र दीक्षा ग्रहण करने का सुझाव दिया। फलतः अपने पुत्र विमलवाहन को राजपाट सौंपकर हरिवाहन ने दीक्षा ले ली, संसार से निर्वेदमग्न होकर हरिवाहन मुनि अनित्यादि बारह भावनाओं पर अनुप्रेक्षण कर रहे थे, तभी उनके मस्तक में तीव्र वेदना हुई, फिर भी उन्होंने चिकित्सा की जरा भी इच्छा न करते हुए अपने पूर्वकृत कर्मों का ऋण हँसते-हँसते भोगकर चुकाया। फलतः शुभध्यानपूर्वक निधन हुआ। वहाँ से वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में पहुँचे।

अनुकम्पा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की है। द्रव्य अनुकम्पा है—दुःखित प्राणी का दुःख-निवारण करने हेतु शक्तिभर प्रयत्न करना। भाव-अनुकम्पा है—दुःखित को देखकर आर्द्रहृदय होना।

इस पर हस्तिनापुर के जय राजा की कथा प्रसिद्ध है।

पूर्वजन्म में जय राजा के तीन मित्र थे। स्वयं शंख नामक श्रेष्ठि-पुत्र था। एक बार वे चारों यात्रा करने निकले। मार्ग में एक योगी मिला, उससे प्रभावित होकर चारों उसके साथ-साथ विन्ध्याचल पहुँचे। वहाँ योगी ने प्रत्येक को एक-एक बकरा मारने और यक्ष-पूजा करने के लिए दिया। तीन मित्रों ने बकरा मारा और यक्ष-पूजा की, मगर शंख ने उसे नहीं मारा। योगी ने उसके तीनों मित्रों का सिर काट डाला। शंख को मारने दौड़ा तो यक्ष ने उसे रोका कि छोड़ दे इस जीवदयावान पुरुष को। योगी ने उसे छोड़ दिया। उसने बकरे को एक अच्छे स्थान पर रखा। स्वयं अपरिचित स्थान में जा रहा था, तभी सुबुद्धि नामक श्रावक मिला। उसने स्नेहपूर्वक शंख की आपबीती सुनी और पंचपरमेष्ठी मंत्र जाप करने को कहा। तदनुसार वह जाप करने लगा।

वे दोनों जा रहे थे तभी रास्ते में भीम नामक पल्लीपति ने शंख आदि १० व्यक्तियों को पकड़ा और कारागार में बन्द कर दिया। शंख वहाँ भी नवकार मन्त्र जपता रहता। पल्लीपति ने ११ व्यक्तियों को चामुण्डा के आगे बलि देने हेतु खड़ा किया। तभी अकस्मात् एक आदमी ने आकर पल्लीपति से कहा—'जल्दी चलो, आपका पुत्र भूतग्रस्त हो चुका है—मरणासन्न है।' पल्लीपति वहाँ गया। शंख ने वहाँ के चौकीदार से कहा—'अगर पल्लीपति हम ग्यारह व्यक्तियों को जीवित छोड़ दे तो मैं उसके पुत्र को जीवित कर सकता हूँ।' पल्लीपति ने स्वीकार किया। शंख ने नमस्कार मन्त्र का जाप किया, जिसके प्रभाव से पल्लीपति-पुत्र के शरीर से भूत भाग गया। वह स्वस्थ हो गया। पल्लीपति ने ससम्मान सब बन्दियों को छोड़ दिया और निरपराध जीवों के वध का त्याग किया। शंख को गुरु की तरह मानकर अपने पास रखा। शंख के माता-पिता को पता लगा तो वे उसे लेने आए। पल्लीपति ने उसे ससम्मान पहुँचाया। गुरु से शुद्ध धर्म का बोध पाकर शंख धर्माराधना करने लगा।

वही शंख का जीव देवलोक से च्यवकर जय राजा बना। जातिस्मरण ज्ञान के बल से अपने पूर्वभव जानकर नवकार मन्त्र जाप एवं जीवदया में प्रवृत्त हुआ। समय पाकर मुनि-दीक्षा लेकर धर्माराधना करने लगा।

आस्तिक्य—जिनेश्वरदेव के वचनों पर दृढ़ आस्था रखना आस्तिक्य है। इस पर पद्मशेखर राजा की कथा प्रसिद्ध है।

पद्मशेखर राजा प्रतिदिन राजसभा में गुरु के गुणों का वर्णन करता था, इस कारण अनेक लोगों की धर्म और जिन-वचन पर आस्था दृढ़ हो

गई। परन्तु श्रेष्ठिपुत्र विजय की गुरु पर जरा भी आस्था नहीं हुई, वह कहता– "जगत् में कौन है, जो पंचेन्द्रिय-विजय कर सके?" राजा ने विजय को प्रतिबोध देने हेतु यक्षमित्र नामक आरक्ष पुरुष से कहा। उसने विजय से मैत्री की, और एक दिन बड़ी चतुराई से उसकी रत्न-मंजूषा में राजा का एक आभूषण रख दिया। राजा के द्वारा भेजे गए सुभटों ने तलाशी ली तो विजय की रत्नमंजूषा में आभूषण बरामद हुआ। राजा के समक्ष विजय को चोर के रूप में उपस्थित किया। राजा ने उसे मृत्युदण्ड देने का आदेश दिया।

मृत्यु-भय से प्रकम्पित विजय ने अपने मित्र यक्षमित्र से किसी तरह बचाने को कहा। यक्षमित्र ने राजा से प्रार्थना की तो राजा ने कहा —"विजय दुःखित है, उसे मारने पर मरकर वह अपना कर्म भोगकर सुगति प्राप्त करेगा, सुखी हो जाएगा। यह तो विजय के मतानुसार ही होगा।"

जब विजय से यक्षमित्र ने यह बात कही तो उसने कहा—"मरण पाकर मुझे सुगति नहीं चाहिए, मुझे किसी भी तरह से बचाओ।"

राजा ने सुना तो उससे कहा—"अच्छा, तेल से लबालब भरा एक कटोरा इसके हाथ में देकर सारे नगर में घुमाओ, परन्तु एक भी बूंद नीचे न गिरने पाए, इस प्रकार करेगा तो मैं इसे जीवनदान दे दूंगा।"

विजय ने राजा का आदेश स्वीकार किया। राजा ने नगर के प्रत्येक चौराहे पर सुन्दरियों द्वारा नृत्य, गीत, वाद्य का आयोजन किया। विजय उसी रास्ते से गुजरा, परन्तु उसका ध्यान न तो नृत्य-गीत-वाद्य में गया, न रूप देखने में; केवल तेल के कटोरे पर उसका सारा ध्यान केन्द्रित रहा। आँख, कान, हाथ, जीभ, नाक वगैरह सभी इन्द्रियाँ अचपल रखकर उसी में एकाग्र कर दी। जब राजा के समक्ष उसने तेल का कटोरा ज्यों का त्यों रख कर प्रणाम किया तो राजा ने उससे कहा—"विजय! तू तो कहता था कि इन्द्रियाँ चपल हैं, कोई इन्हें जीत नहीं सकता, साधु कपट करते हैं, पर तुमने आज इन्द्रियाँ कैसे जीत ली?"

विजय बोला—"मैंने तो मरणभय से इन्द्रियाँ जीती हैं।"

राजा ने उसे समझाया—"जैसे तूने मृत्यु के भय से इन्द्रियाँ जीत लीं, वैसे ही साधु लोग अनन्त भवों में जन्म-मरण के भय से इन्द्रियों को

विजय करते है। अतः तू नास्तिक क्यों हो रहा है? देव-गुरु के प्रति आस्था रख।"

विजय सेठ ने आस्तिकता लाकर श्रावकव्रत स्वीकारे।

यों पद्मशेखर राजा ने अनेक व्यक्तियों को युक्तिपूर्वक समझाकर उनकी देव-गुरु-धर्म पर आस्था दृढ़ की।

छह प्रकार की यतना

सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए ६ प्रकार की यतना—सावधानी रखनी आवश्यक है। इस प्रकार की यतना से सम्यग्दर्शन को अंगीकार किया हुआ व्यक्ति अशुद्धि-प्रवेश से बच जाता है। यह ६ प्रकार की यतना अन्यतीर्थिक, अन्यतीर्थिकों के देव तथा अन्यतीर्थिक-श्रद्धास्वीकृत जैन साधु या स्ववेषापरित्यागपूर्वक जैनसिद्धान्त-ज्ञानगृहीत अन्यतीर्थिक के सम्बन्ध में सम्यग्दृष्टि के लिए करणीय है।

छह प्रकार की यतना के नाम इस प्रकार है—

(१) वन्दना	(४) अनुप्रदान
(२) नमस्कार	(५) आलाप
(३) दान	(६) संलाप

इनका स्पष्टार्थ इस प्रकार है—

सम्यक्त्वी गृहस्थ श्रावक अन्यतीर्थिक, मिथ्यादृष्टि तापस, परिव्राजक आदि अन्यतीर्थिक देव एवं अन्यतीर्थिक श्रद्धा को स्वीकार किये हुए जैन साधु अथवा अपने तीर्थ या वेष-परित्याग न करते हुए जैनसिद्धान्त के ज्ञान को ग्रहण किये हुए व्यक्तियों के प्रति शिष्टाचारादि ६ प्रकार का व्यवहार न करे; जैसे कि—(१) गुरुबुद्धि से उनकी वन्दना, स्तुति, गुणगान न करे, (२) गुरुबुद्धि से भक्तिपूर्वक नमस्कार न करे, (३) उनके प्रति अनुप्रदान—उनके आने पर खड़ा होना, आसन आदि देकर बहुमान प्रदान न करे, (४) उन्हें धर्मबुद्धि से या गुरुबुद्धि से दान आदि न दें, (अनुकम्पाबुद्धि से, संकट आदि कारणों पर दान का निषेध नहीं है), (५) आलाप—एक बार न बोलना, (६) संलाप—बार-बार न बोलना।

आलाप-संलाप के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया गया है कि उनके बिना बुलाये न तो एक बार बोले, न बार-बार बोले।

आनन्द श्रमणोपासक ने भगवान् महावीर के सान्निध्य में सम्यक्

एक बार राजकुमार संग्रामशूर [illegible] रत्नद्वीप में पहुँच गया। वहाँ एक विकराल राक्षस ने उसके सम्यग्दर्शन की एवं अहिंसा की कठोर परीक्षा ली। राक्षस का प्रस्ताव था—स्थूल शरीर वाले मन्त्री के वध का, चरक परिव्राजक (गुरु) को वन्दन-नमन करने का, अपनी प्रतिकृति बनाकर पूजा करने का। इन तीनों ही प्रस्तावों के लिए वह सहमत न हुआ। फिर उसने संग्रामशूर को ऐसा न करने पर मार डालने का भय दिखाया, मगर उसने कहा—"मृत्यु स्वीकार है, सम्यक्त्व और अहिंसा धर्म को छोड़ना स्वीकार नहीं।"

उसकी दृढ़ता देख राक्षस प्रसन्न हुआ, प्रशंसा की, प्रज्ञप्ति विद्या प्रदान की और अपने स्थान को लौट गया।

पिछली चार घटनाओं के सम्बन्ध में विजयपुरनरेश नल राजा के के मन्त्रितिलक नामक प्रधान की कथा प्रसिद्ध है। आखेट करने जाते हुए रास्ते में 'भुवनसार' नामक प्रशान्त मुनि के दर्शन हुए। राजा और प्रधान दोनों धर्माभिमुख हुए। मुनि द्वारा उनको वैराग्य प्राप्त होने का कारण जानकर राजा और मन्त्री दोनों ने सम्यग्दर्शन ग्रहण किया।

एक बार मंत्रितिलक को असाध्य रोग हुआ। वैद्यों ने जवाब दे दिया। संयोगवश एक परिव्राजक वेशधारी वैद्य आया। उसने प्रधान को स्वस्थ कर दिया। प्रधान उक्त परिव्राजक के प्रति अनुरक्त एवं उसका पक्षपाती हो गया, उसकी प्रशंसा करने लगा।

राजा ने एक दिन प्रधान से कहा—"मंत्रिवर! मिथ्यादृष्टि की स्तुति करके क्यों सम्यक्त्व को मलिन कर रहे हो?" परन्तु मन्त्री न माना। किसी ने राजा को उक्त परिव्राजक को नील राजा का गुप्तचर और हत्यारा बताया। राजा ने सुभटों द्वारा उसे गिरफ्तार करवाया और तलाशी ली तो उसके पास छुरा निकला। राजा ने उसके विषय में मन्त्री को सावधान किया।

उक्त परिव्राजक ने राजा से कहा—"मैंने भाव से जैनदीक्षा ले ली है, किन्तु वेष परिव्राजक का है।"

राजा ने कहा—"परतीर्थिक वेष के कारण विश्वसनीय न होने से आप वन्दनीय तो नहीं हैं, परन्तु भावचारित्री होने के कारण मैं आपको छोड़ता हूँ।"

मत्री ने भी अपना सम्यग्दर्शन मलिन जानकर आलोचना-प्रायश्चित्त
ा करके सम्यक्त्व-शुद्धि की।

एक बार नगर मे धर्माचार्य पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनकर अनेक
ो को सवेग प्राप्त हुआ। राजा और मत्री दोनों ने उनसे मुनि-दीक्षा
। उनके साथ जिन-जिन लोगों ने दीक्षा ली, उनके पीछे रहे हुए कुटुम्बों
प्रतिपालन करने का बीड़ा राजपुत्र ने उठाया। इस प्रकार चारों
नाओ का भलीभाँति पालन कर नव राजा और मंत्रितिलक प्रधान दोनों
पने सम्यक्त्व को शुद्ध रखा।

क्त्व के छह आगार

सम्यग्दृष्टि पुरुष के लिए शुद्ध देव, गुरु और धर्म के स्वरूप को भली-
ति समझकर अन्यतीर्थिक, कुप्रावचनिक तथा उनके माने हुए देव तथा
को आध्यात्मिक या धार्मिक दृष्टि से, गुरुबुद्धि से वन्दन-नमस्कार
ना, उनके साथ आलाप-सलाप करना तथा गुरुबुद्धि से, आहारादि
ा निषिद्ध है। परन्तु सदा-सर्वदा एक-सी परिस्थिति नहीं रहती।
ार में रहकर व्यक्ति को अनेक कार्य करने पड़ते है, जीवन-निर्वाह
ते हुए राजकीय तथा सामाजिक दृष्टि से अनेक व्यवहार भी निभाने
ते है।

गृहस्थ की स्थिति कभी-कभी बडी उलझनपूर्ण और संकटापन्न हो
ती है। अगर वह जरा-जरा-सी बात मे दूसरों के आगे झुक जाता है, तो
ने सम्यक्त्व पर दृढ नहीं रह सकता, और यदि वह संकटापन्न और
वन-मरण के खतरे की स्थिति मे पडने पर भी पूर्ववत् सम्यक्त्व पर दृढ
ता है तो उसका जीवन और भविष्य खतरे में पड जाता है। ऐसी
स्था पर विचार करके ज्ञानी पुरुषों ने सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए ६
गार बताये है।

आगार का अर्थ छूट या अपवाद है। व्रत या नियम को ग्रहण करते
मय जो छूट रखी जाती है, उसे आगार कहते हैं।

सम्यक्त्व के ६ आगार इस प्रकार हैं—

"तन्नत्थ

(१) रायाभिओगेण
(२) गणाभिओगेण

(३) बलाभिओगेणं
(४) देवाभिओगेणं
(५) गुरुनिग्गहेणं
(६) वित्तिकंतारेण

अर्थात्—(१) राजाभियोग, (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग, (५) गुरुनिग्रह एवं (६) वृत्तिकान्तार, इन ६ आपवादिक कारणों में अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को वन्दन-नमन आदि व्यवहार करना पड़े तो आगार है। अर्थात् उक्त कारणों में देवादि को अनिच्छापूर्वक मानना पड़े तो उसमें श्रावक अपने सम्यक्त्व का अतिक्रमण नहीं करता।

(१) राजाभियोग—राजा का अर्थ है—किसी ग्राम, नगर, जनपद, प्रान्त, राष्ट्र आदि का शासक। अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग, दबाव, परवशता का योग। राजा या शासनवर्ता जो स्वयं अन्यतीर्थिक देव या गुरु को वन्दन-नमन आदि व्यवहार करता है। उसके बल-प्रयोग या दबाव या आग्रह के कारण, सम्यग्दृष्टि को कदाचित् उन्हें अनिच्छापूर्वक वन्दनादि व्यवहार करना पड़े तो इससे उसके सम्यक्त्व का भंग नहीं होता। मतलब यह है कि राजा के दबाव या अनुरोध कारण सम्यक्त्व के उक्त नियम को तोड़ना राजाभियोग है।

सम्यग्दृष्टि यों तो अन्यतीर्थी देव या गुरु के प्रति मन में किसी प्रकार का द्वेष या वैर-विरोध नहीं रखता, फिर भी उन्हें नमस्कार करना, दान देना, उनका गुणगान, उनके साथ आलाप-संलाप आदि करना, उन्हें प्रतिष्ठा देना आदि व्यवहारों को करने से उसका सम्यग्दर्शन दूषित अथवा नष्ट हो जाता है। एक बार सम्यक्त्व भंग होने पर फिर प्रायः भंग होता ही चला जाता है। यह समझकर वह उनके प्रति असहकार का ही व्यवहार करता है, उन्हें आदर नहीं देता।

कई लोग राजा या शासनकर्ता को प्रसन्न रखने और उससे तरक्की पाने, पद या प्रतिष्ठा पाने के लिहाज से उनकी देखादेखी अन्यतीर्थिक या गुरु को वन्दन-नमन करने या मानने लगते हैं, राजा का उनके वैसा करने का कोई आग्रह या दबाव नहीं होता है। ऐसी स्थिति सम्यग्दृष्टि अगर अपने पूर्वोक्त नियम को तोड़ता है, तो वह राजाभि नहीं माना जायगा।

या तो चमत्कार गुणों को किया जाता है, पर कहीं-कहीं रूढ़ि, परम्परावश भी किया जाता है। कई बार लोग चमत्कार या आडम्बर को देखकर अन्यतीर्थिक देव या गुरु को मानने, आदर देने लगते हैं, वहाँ भी राजाभियोग नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि रूढ़परम्परा या भौतिक चमत्कार आदि को पाखण्ड ही समझता है, इसलिए वह सामान्यतया उक्त अन्यमतीय देव-गुरुओं को मानता-पूजता नहीं, किन्तु अगर राजा उनका सम्मान करने आदि व्यवहार के लिए कठोर आज्ञा देता है, न मानने वाले को कठोर दण्ड देने की घोषणा करता है, उस समय सम्यग्दृष्टि क्या करे ?

कुछ महासत्त्व मनस्वी व्यक्ति तो उस समय उत्सर्ग मार्ग पर टिके रहते हैं। राजाज्ञा का उल्लंघन करके जो भी दण्ड हो उसे सहन कर लेते हैं। पर सभी तो ऐसा नहीं कर सकते। इसीलिए जिन-शासन में उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्गों का विधान है। जहाँ उत्सर्ग पर चला जा सके, वहाँ उत्सर्ग मार्ग पर चले, परन्तु जहाँ अपवाद मार्ग ग्रहण करना विवशता हो वहाँ अपवाद को अपनाया जा सकता है।

जिन-शासन रूप प्रासाद के लिए उत्सर्ग मूल द्वार है और अपवाद, परिस्थिति से बचने के लिए बारी। अतः वर्तमानकाल में संहनन, धृति, बल की मन्दता के कारण उत्सर्ग-मार्ग पर दृढ़ न रहा जा सके तो लाचारीवश उदासीन भाव से अपवाद-सेवन करके बाद में उसका आलोचन-प्रायश्चित्त लेकर सम्यक्त्व-नियमादि को शुद्ध कर लेना चाहिए। अतः सम्यक्त्व के नियम के विरुद्ध राजाज्ञा हो, और उसका उल्लंघन करने से राज्य में अशान्ति फैले, विरोध एवं उपद्रव खड़ा हो, तो शासक के दबाव से या उसके बलप्रयोग के कारण सम्यग्दृष्टि अपने पूर्वोक्त नियम को अनिच्छा से, राजाभियोग समझकर भंग करता है, परन्तु मन में वह यह समझता है कि यह सच्चा देव या गुरु नहीं है, मैं इन्हें राजा के बलात्कार से वन्दन-नमनादि करता हूँ, धर्मप्रेरणा या आत्म-स्फुरणा अथवा स्वेच्छा से नहीं।

(२) **गणाभियोग**—गण का अर्थ है—'जाति, समुदाय, संघ, समाज या व्यापार आदि के लिए परस्पर सहयोग के रूप में एकत्रित होने वाला दल।' भगवान् महावीर के समय में लिच्छवी, मल्ली, वज्जी आदि गणतन्त्रीय शासन पद्धति प्रचलित थी। वहाँ गण राजनैतिक संघ का नाम था। इस दृष्टि से गणाभियोग का अर्थ है—व्यक्ति जिस गण

का सदस्य है, उस गण का बहुमत यदि कोई निर्णय करता है, जिससे उसके सम्यक्त्व के पूर्वोक्त नियम में बाधा आती हो, तो भी गण के साथ रहने और गण में सहयोग लेने तथा सुरक्षा पाने की दृष्टि से वह गण की बात को अनिच्छा से मान लेता है, तो उसके सम्यक्त्व में कोई आँच नहीं आती, बशर्ते कि वह सही माने में गण का आग्रह, दबाव या अनुरोध हो, और उसे न मानने पर गण से अलग हो जाने का खतरा हो।

गण का अर्थ जाति भी हो सकता है। जाति के अधिकांश लोग जाति के हित या उन्नति के लिए अथवा जाति में शान्ति के लिए सम्यक्त्व के पूर्वोक्त नियम के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए सम्यग्दृष्टि पर दबाव डालें, ऐसी स्थिति में विवश होकर अनिच्छा से वैसा सम्यक्त्व-नियम-विरुद्ध कोई कार्य करना पड़े तो उसकी छूट है। वह गणाभियोग समझकर आपवादिक रूप में उसका सेवन करता है।

(३) बलाभियोग—बल का अर्थ है—सेना। उसकी या किसी बलवान् द्वारा विवश किये जाने पर जबरन उसकी आज्ञा का पालन करना पड़े या उसके हठ के आगे झुकना पड़े तो आपवादिक रूप से ऐसा करने में उसके सम्यक्त्व का अतिक्रमण नहीं होता। जैसे ताकतवर आदमी लट्ठ लेकर खड़ा हो जाय, और कहने लगे—'हमारे देव या गुरु को नमस्कार कर, नहीं तो तेरी खोपड़ी फोड़ दूँगा।'

ऐसी स्थिति में यदि इतना आत्मबल और दृढ़ता हो तो अपने वीतराग-प्ररूपित धर्म पर दृढ़ मेरुवत् निष्कम्प व अचल रहते हुए हँसते-हँसते मृत्यु का स्वीकार करना भी बुरा नहीं है; किन्तु ऐसा महासत्त्व एवं दृढ़ मनोबली ही कर सकते हैं, जिनका मनोबल प्रबल नहीं है, उनसे ऐसी आशा नहीं रखी जा सकती, उनके लिए बलाभियोग का आगार रखा गया है। सम्यग्दृष्टि ऐसे धर्मसंकट के समय यह समझे कि मैं इसके देव या गुरु के प्रति वन्दन-नमनादि व्यवहार करने में धर्म नहीं समझता, किन्तु इसके बल-प्रयोग के कारण अनिच्छा से ही ऐसा कर रहा हूँ।

(४) देवाभियोग—क्षेत्रपाल, डाकिनी, शाकिनी, भूत-प्रेतादि किसी देवता के बलात्कार के कारण या किसी देव द्वारा बाध्य किये जाने के कारण विवश होकर अनिच्छा से अपने सम्यक्त्व नियम के विरुद्ध अन्यतीर्थी देव या गुरु [illegible] के प्रति वन्दनादि व्यवहार करना पड़े तो वह देवाभियोग समझना चा[illegible]

अगर कोई व्यक्ति इस आगार की ओट में अथवा इस आगार
नाम लेकर अपने किसी लौकिक लाभ, स्वार्थ, प्रलोभन, अन्धश्रद्धा, मनो
पूर्ति, परम्परा, या गलत रूढ़ि के कारण स्वेच्छा से भैरव, भवानी, मं
माता, या अन्य किसी चण्डी, चामुण्डा, दुर्गा आदि देवी को कोई सम
मानता है, पूजता है, वन्दना-नमस्कारादि करता है, तो उसका यह
देवाभियोग नहीं है। वास्तव में देवता को उसके बलात्कार के या ब
किये बिना ही मानना-पूजना देवाभियोग नहीं है। जो स्वेच्छा से अ
किसी न किसी स्वार्थ से देवी-देवों को मानते-पूजते हैं, वे अपने सम्य
को मलिन-अशुद्ध बनाते हैं।

कई बार लोग भय से, अन्धविश्वास से, पाखंडियों, भोपों
पुजारियों के चक्कर में आकर किसी देवी-देव को मानने-पूजने लगते हैं,
करने वाले लोग सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाते हैं।

देव चार प्रकार के होते हैं—भवनपति(असुर),वाणव्यन्तर, ज्यो
और वैमानिक। इनकी शक्ति भी प्रबल होती है, सबसे निकृष्ट भवन
देवों में भी दस हजार चक्रवर्तियों के बराबर बल होता है। क्या वे जरा
मिर्ची की धूनी से या डंडा मारने से या मंत्र का नाम लेकर दो-चार अ
सीधे अक्षर बोलने से भाग जाएँगे? पर आजकल लोग बहुत चल पड़ा
लोग भूत-प्रेत निकालने के नाम पर धन कमाते हैं। भैरव-भवानी, क
दुर्गा, आदि के नाम पर बकरे, भैंसे कटते हैं, शराब चढ़ाई जाती है, अ
अनेक अनर्थ होते हैं, यह सब सम्यक्त्व को तिलाजलि देकर देवी-देवा
दास बनकर फिरते रहने वालों की बदौलत होता है।

(५) गुरुनिग्रह—माता-पिता, कलाचार्य, अध्यापक, धर्मोपदेशक, अ
गुरुजनों के आग्रहवश बलात् सम्यक्त्व-नियम भंग करके पूर्वोक्त अन्य
देव गुरु आदि के प्रति वन्दनादि व्यवहार करना पड़े तो वहाँ गुरुनि
आगार होता है।

श्रावक को अपने परिवार के साथ रहना है। उसके माता-
किसी अन्य धर्मसम्प्रदाय के अनुयायी हों, उनके देव एवं गुरु अन्यतीर्थी
अथवा वे जैनधर्मानुसारी हों, किन्तु उनको कोई कष्ट हो रहा हो, जो
साधु से उपाय न मिलता हो, किन्तु किसी दूसरे का मानना-पूजना
आदर देने से कष्ट मिट सकता हो तो ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में उ
(गुरुजन) के दबाव से दूसरे धर्मगुरुओं के प्रति वन्दन-नमस्कार, अ
गुरुनिग्रह आगार माना जाता है।

...पि श्रावक स्वेच्छा से ढोंगी की पूजा-सेवा नहीं करता, न ही उसे अच्छा समझता है, मगर उस ढोंगी ने उसके माता-पिता, अध्यापक आदि किसी गुरुजन को कष्ट दे या दिला रखा है। अतः सम्यग्दृष्टि श्रावक को अपने गुरुजन का कष्ट मिटाने के लिए ऐसा करना पड़ता है, ढोंगी को आदर देना पड़ता है। लेकिन वह कोई देवबुद्धि या गुरुबुद्धि से ऐसा नहीं करता, उसे आदर नहीं देता।

(६) वृत्तिकान्तार—वृत्ति का अर्थ है—आजीविका और कान्तार का अर्थ है—कठिनाई। साधारणतया कान्तार का अर्थ वन या घोर जंगल होता है। परन्तु यहाँ वह अर्थ अभीष्ट नहीं है। कान्तार का अर्थ—कठिनाई या अभाव अथवा खतरा है। आजीविका का खतरे में पड़ जाना ही वृत्तिकान्तार है।

आजीविका खतरे में पड़ जाने के कारण अपना और अपने परिवार का जीवन संकट में पड़ जाए अथवा जैसे अटवी में आजीविका प्राप्त करना कठिन है, उसी प्रकार क्षेत्र और काल आजीविका के प्रतिकूल हो जाएँ, निर्वाह होना कठिन हो जाये, ऐसी स्थिति में न चाहते हुए भी सम्यक्त्व-नियम-विरुद्ध कुदेव-कुगुरु की सेवा करनी पड़े तो सम्यग्दृष्टि के लिए यह आगार है। पर वह अन्तर में इस विवशता को समझता है। यद्यपि अन्यतीर्थी गुरु को वह पाखण्डी समझता है, परन्तु आजीविका के कष्ट से मुझे यह सेवा करनी पड़ रही है, ऐसा समझकर सेवा आदि व्यवहार करने से सम्यक्त्वी को दोष नहीं लगता।

यह आगार आजीविका के संकट के समय लाचारीवश अन्यतीर्थी की सेवा करने के सम्बन्ध में है। अन्यतीर्थी या उसके गुरु आदि कष्ट में पड़े हों, रुग्ण या दुःखी हों तो दया से प्रेरित होकर दान देना, या सहायता देना तो श्रावक का अनुकम्पा गुण है। इससे उसके सम्यक्त्व में कोई दूषण नहीं लगता।

सम्यक्त्व के ये छह आगार सम्यक्त्व की रक्षा तथा उसे मूलतः नष्ट होने से बचाने के लिए है। फिर भी इन आगारों का सेवन तभी करना चाहिए, जब कि पूर्वोक्त आपवादिक स्थिति पैदा हो। यदि उत्सर्ग में ही काम चल जाए तो बहुत अच्छा, परन्तु उत्सर्गमार्ग पर दृढ़ रह सकने की शक्ति न हो तो सावधानी और विवेक रखकर इन आगारों का सेवन किया जा सकता है।

एक बात अवश्य ध्यान में रखनी है। जहाँ मूल गुण (धर्म)
हो रहा हो, वहाँ प्राण त्याग करना अच्छा, मगर धर्म नष्ट करके र
भियोग आदि आगारों का सेवन करना ठीक नहीं।

सम्यक्त्व की छह भावनाएँ

छह प्रकार की भावना से सम्यक्त्व सुदृढ़ और शुद्ध होन
सम्यग्दृष्टि को प्रतिदिन ये छह भावनाएँ करनी चाहिए। वे ६ भा
इस प्रकार हैं—

(१) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्ष का मूल है।
(२) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी नगर का द्वार है।
(३) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी महल की नींव है।
(४) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी या धार्मिक जगत का आधार है।
(५) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वस्तु को धारण करने वा
(भाजन) है।
(६) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी गुणरत्नों को रखने की निधि (निधान

(१) धर्मरूपी वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दृष्टि को ऐसी भ
करनी चाहिए। जिस वृक्ष का मूल सबल और सुदृढ़ होता है, वह ह
झंझावात आएँ, तो भी उखड़ता नहीं गिरता नहीं; कितनी ही हवा
सूखता नहीं। सर्दी-गर्मी का उस पर कोई असर नहीं होता। बल्कि
वृक्ष का मूल सुरक्षित रहता है, उसमें शाखा-प्रशाखाएँ, पत्ते, फूल
आदि विस्तृत होते जाते हैं। श्रुत-चारित्ररूपी धर्म का मूल सम्य
यदि सुदृढ़ एवं प्रबल होता है तो वह देव-दानव-मानव आदि के द्वार
गए कष्टरूप झंझावातों से भी कभी विचलित नहीं होता, परीषह अ
विनष्ट नहीं होता। यदि साधुधर्म और श्रावकधर्मरूपी वृक्ष म
सम्यग्दर्शन सुदृढ़ है तो मोक्ष-रूप फल शीघ्र देता है। जैसे सबल
आदि के वृक्ष शीघ्र फल देते हैं, वैसे ही साधुधर्म और श्रावक-धर्मरू
भी सम्यग्दर्शनरूपी मूल एवं स्कन्ध सुदृढ़ एवं सबल हों तो शीघ्र फ
हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को मूलभूत मानने की प्रथम भावना है।

(२) धर्मरूपी राजनगर का द्वार सम्यग्दर्शन है, ऐसी भावना सम्य
को करनी चाहिए। राजनगर का मुख्य द्वार अगर मजबूत और सबल
है, तो उसे तोड़ने और प्रवेश करने की हिम्मत शत्रु की नहीं होती; इसी
श्रुतचारित्रधर्मरूपी राजनगर का मुख्यद्वार-समान सम्यग्दर्शन अगर म

है, सबल है तो उसे मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्म-रिपु तोड नही सकता और प्रमादरूपी चोर भीतर प्रवेश नही कर सकता।

दूसरी कल्पना यह भी हो सकती है कि धर्मरूपी नगर में तब तक प्रवेश नही हो सकता, जब तक सम्यक्त्वरूपी द्वार न हो। प्रत्येक जीव धर्मरूपी नगर में तभी प्रविष्ट हो सका है, जब उसने सम्यक्त्वरूपी दरवाजा पा लिया। जब तक किसी जीव को सम्यक्त्वरूपी द्वार नही मिला, तब तक धर्मरूपी नगर में प्रविष्ट न होकर इधर-उधर भटकता रहा। अत जीव को जब सम्यक्त्व द्वार मिलेगा तभी धर्मरूपी नगर में उसका प्रवेश हो सकेगा। इस प्रकार सम्यक्त्व को द्वार-तुल्य मानने की द्वितीय भावना है।

(३) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी महल की नींव है, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि को करनी चाहिए। जिस महल की नीव मजबूत होती है, वह वर्षों तक स्थायी रहता है, धराशायी नही होता। इसी प्रकार श्रुत-चारित्रधर्मरूपी प्रासाद की सम्यग्दर्शनरूपी नीव सुदृढ हो तो श्रुत-चारित्र धर्म गिरेगा नहीं, आजीवन स्थायी रहेगा। साधु-श्रावक का व्रतरूप विशाल धर्मप्रासाद भी तभी चिरस्थायी रह सकता है, यदि सम्यग्दर्शनरूपी नीव (प्रतिष्ठान) अच्छी तरह *सुप्रतिष्ठित हो—भली-भाँति स्थापित की हो। सम्यग्दर्शन नीव अच्छी तरह* डाली होगी तो धर्मद्वयरूप प्रासाद पर-दर्शनरूपी झंझावात आदि से डिगेगा नही, हिलेगा नही। सम्यग्दर्शनरूपी नीव के सिवाय अन्य दर्शनरूपी नीव में धर्मरूपी महाप्रासाद का निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी महाप्रासाद की नीव है, ऐसी तीसरी भावना करनी चाहिए।

(४) सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी आधेय-जगत् का आधार है, ऐसी भावना सम्यक्त्वी करता है। श्रुत-चारित्र-धर्मरूपी जगत् (आधेय) का अगर कोई आधार है तो वह सम्यग्दर्शन ही है। क्योंकि श्रुत (ज्ञान) और चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन तो रह सकता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना श्रुत (ज्ञान) और चारित्र नहीं रह सकते। सम्यग्दर्शनरूपी आधार के जाते ही श्रुत और चारित्ररूपी आधेय भी चला जाता है।

अथवा विशाल व्यापक पृथ्वी के आधार के बिना जैसे सचराचर जीव लोक रह नही सकता, वैसे ही औपशमिक, क्षायिकादि भेद रूप विशाल सम्यग्दृष्टि रूपी पृथ्वी के बिना चारित्ररूप जीव लोक रह नहीं सकता। अत. श्रुत-चारित्र-धर्मरूपी आधेय का सम्यग्दर्शन आधारभूत है। इस प्रकार की चौथी भावना करनी चाहिए।

घट बनाना (करता) है, वैसे ही आत्मा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, संज्वलन-रूप क्रोध, मान, माया, लोभरूप १६ कषायों, सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग आदि १५ प्रकार के योगों, तथा हास्य, रति, अरति आदि नौ नोकषायों, आभिग्रहिक आदि ५ प्रकार के मिथ्यात्व, ५ इन्द्रिय तथा मन का अनिग्रह एवं पृथ्वीकायादि षट्कायिक जीव के वध, यों ५७ कारण सामग्रीवश शुभाशुभ कर्म का बन्ध करता है। अर्थात्—आत्मा शुभसामग्री पाकर शुभकर्म करता है, जबकि अशुभ सामग्री पाकर अशुभ कर्म।"

(४) **आत्मा स्व कृतकर्मों का फल भोगता है**—यह बात भी अनुभवसिद्ध है कि जो कर्म करता है, उसका फल उसे ही भोगना पड़ता है। 'करे कोई, भरे कोई', ऐसा अन्धाधुन्ध न्याय कर्म सिद्धान्त में नहीं है। आत्मा ने पहले जो भी शुभ या अशुभ कर्म किये हैं, उनका शुभ या अशुभ फल स्वयमेव भोगता है। पर-कृत कर्म का फल-भोग माने तो अतिप्रसंग दोष आता है। फिर देवदत्त के द्वारा भोजन करने से यज्ञदत्त को तृप्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। जो भोजन करता है, उसी की तृप्ति होती है, अन्य की नहीं। इसी प्रकार जीव पर-कृत कर्म का फल नहीं भोगता, स्वकृत कर्म का फल ही भोगता है।

इसी तरह एक के किये कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता, न ही एक के कर्मफल को दूसरा भोगकर क्षय कर सकता है। स्वयं व्यक्ति ही स्वकृत कर्म का फल भोगकर स्वयं ही कृतकर्मों का क्षय करता है। इसी प्रकार अकृत कर्म का भोग भी नहीं होता, अगर ऐसा मानेंगे तो मोक्ष मे भी अकृत कर्म के फल का भोग मानना पड़ेगा, उड़ते हुए रोग की तरह यदि कर्म उड़कर चिपकने लग जाएँ तब तो सिद्ध भगवान् की आत्मा के भी कर्म चिपकने लगेंगे, परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः आत्मा स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है।

(५) **आत्मा का मोक्ष है**—अर्थात्—आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना द्वारा कर्मों का सर्वथा क्षय करके एक दिन कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त-सिद्ध-बुद्ध हो जाता है। इसलिए मोक्ष है।

वह निर्वाण (मोक्ष) अक्षय पद—शाश्वत स्थानक है, वह एक सिद्ध की अपेक्षा से आदि अनन्त है, सर्वसिद्धों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। सिद्धगति मे जाने के बाद आत्मा पुनः संसार में उतर कर (अवतार बनकर) नहीं आता, इसलिए अक्षय-शाश्वत कहा। वह निरुपम गुणसंगत है, वह

सुख-दुःखगर्भित या क्षणिक नही है; शाश्वत सुखमय है। तथा वह निरुपद्रव है—भय—उपद्रव आदि से सर्वथा रहित है, एवं २२ परीषहों में से एक भी परीषह वहाँ नही है, इसलिए मोक्ष को शिव उपद्रवरहित कहा, तथा वह अरुज—रोगरहित है। वहाँ शरीर है ही नहीं, तब रोग, बुढापा, जन्म, मरण आदि कहाँ होंगे ? उस मोक्ष को कैसे जाने ? इसके लिए कहते है—जिन्होंने राग, द्वेष, मोह आदि जीत लिये है, उन वीतराग आप्त पुरुषों द्वारा मोक्ष का यह स्वरूप बताया गया है, उन्होंने किसी स्वार्थ, लोभ, धूर्ततावश ऐसा नहीं कहा, इसलिए यह निश्चित है कि श्री वीतरागदेव ने जैसा मोक्ष का स्वरूप बताया है, वह वैसा ही है, यह जानना।

(६) *मोक्ष प्राप्ति का उपाय है*—मोक्ष पाने का उपाय जीव के हाथ में है। किसी ईश्वर आदि या देव-देवी, अवतार आदि किसी शक्ति के हाथ मे मोक्ष देने का अधिकार नही। कोई किसी को मोक्ष नही दे सकता। मोक्ष-साधन का उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों सम्पूर्ण मिलकर मोक्ष-साधन का उपाय है। मोक्षरूप कार्य का सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप उपाय है। उसके सम्बन्ध में पुरुषार्थ करना चाहिए। जिसने ज्ञान से तत्त्व—जिनवचनरहस्य जान लिया है उसे इस उपाय के विषय मे स्वशक्तिभर पुरुषार्थ करना चाहिए।

इन छह स्थानकों पर बार-बार उदात्त चिन्तन करने से सम्यग्दर्शन की शुद्धि, आत्मस्वरूप का दृढ निश्चय, प्रतीति और तत्त्व में श्रद्धान सुदृढ होता है।

इस सम्बन्ध में नरसुन्दर राजा का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो नास्तिक था, जीवादि पदार्थ नहीं मानता था, देव-गुरु-धर्म के प्रति द्वेष रखता था। किन्तु एक बार एक योगी उसकी राजसभा में आया। योगी ने राजा को प्रभावित करके विष दे दिया, और वहाँ से फरार हो गया। राजा ने सभी मंत्र-तंत्रवादी बुलाए, पर कोई विष न उतार सका; परन्तु राजा को मृत समझकर ज्यों ही चिता पर रखने लगे, त्यों ही राजा आँख खोलकर उठ बैठा। राजा ने पूछा—"मैं निर्विष कैसे हुआ ?" मंत्री ने पता लगाकर गंभीर स्वर में कहा—"किसी लब्धिवान् उग्रतपस्वी साधु के शरीर की हवा लगे तो विष उतर जाता है। आपके उद्यान में चन्द्रप्रभाचार्य पधारे हैं, उन्हीं की कृपा समझिए।" राजा को साधु के प्रति आस्था उत्पन्न हुई। उनका दर्शन-वन्दन किया। धर्मोपदेश सुना। अवसर देखकर आचार्य ने आत्मा(जीव) के अस्तिवाद की प्ररूपणा की, तब राजा ने पूछा—"भगवन्!

आकाश पुष्पवत् आत्मा नहीं है, अगर होता तो घटपटादि की तरह दिखाई देता न!

आचार्य—तुमने आँखों से आत्मा को नहीं देखा, इसलिए कहते हो आत्मा नहीं है। तुम्हारी समझ के अनुसार तो मेरुपर्वत आदि नहीं है, तुम्हारे पूर्वज भी नहीं हैं, क्योंकि तुमने वे देखे नहीं हैं। परन्तु तुम्हारे पूर्वज नहीं है, तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई? जैसे तुम्हारे पूर्वज अनुभव से सिद्ध होते हैं, वैसे ही आत्मा के चैतन्य, सुखदुःखादि संवेदन आदि गुण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

राजा ने कहा—हाँ, सत्य बात है, परन्तु जीव पुण्य करके स्वर्ग में और पाप करके नरक में जाता है, यह बात नहीं जँचती, क्योंकि मेरी माँ सम्यग्दृष्टि व्रती श्राविका थी, वह मरकर स्वर्ग में गई हो तो मुझे बोध देने क्यों नहीं आती? और मेरे पिता ने अनेक पापकर्म किये। वे मरकर नरक मे गये हो तो यहाँ आकर मुझे पाप करने से रोकते क्यों नहीं?

आचार्य—जैसे चोर आदि अपराधी को पकड़ने के बाद सजा पूरी होने तक छोड़ नहीं जाता, वैसे ही नारकी जीवों को परमाधार्मिक देवों ने पकड़ रखा है, वे सजा पूरी होने तक छोड़ते ही नहीं हैं, तब तुम्हारा पिता तुम्हें पाप से रोकने को कैसे आए? इसी तरह स्वर्ग में गया हुआ जीव वहाँ के विविध काम-भोगों मे आसक्त रहता है, तथा मनुष्यलोक की दुर्गन्ध ४००-५०० योजन ऊँचाई तक फैली हुई है, ऐसा स्वर्ग-प्राप्त जीव यहाँ कैसे आएगा, तुम्हें अपना समाचार देने? तथा आत्मारूपी पदार्थ तो है नहीं, जो इन्द्रियों से दिखाई दे।

इस प्रकार विविध युक्तियों से आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व, नित्यत्व, कर्मकर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा मुक्ति का उपाय आदि तत्त्व समझाया। राजा को जातिस्मरण हुआ, पूर्वजन्म जानकर जीवादि नौ तत्त्व तथा आत्मा के षट् स्थानक पर श्रद्धा की। मुनिदीक्षा ली एवं निरतिचार चारित्र पालन करने लगा।

आत्म-स्वरूप के युक्तिपूर्ण बोध देने के सम्बन्ध मे इसी प्रकार का चरित्र रायपसेणी सूत्र में वर्णित है। श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी (परसी) जो अत्यन्त क्रूरकर्मा, नास्तिक तथा धर्म-द्वेषी था, उसे केशी कुमार श्रमण ने बड़ी कुशलता व निर्भीक युक्तियों से आत्मा एवं धर्म का स्वरूप समझाया। राजा का जीवन-दर्शन बदल गया और पापी नास्तिक

परमश्रद्धालु धार्मिक बन गया। पूरा संवाद बड़ा ही रोचक व प्रेरक है। पाठक रायप्रसेणी सूत्र में विशेष लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यह है सम्यक्त्व के षट्स्थानक के श्रद्धान का उत्तम परिणाम।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ६७ बोलों को जानकर और हृदय में धारण करके जो बार-बार इन पर चिंतन-मनन करता है, वह अपने सम्यक्त्व को शुद्ध बना लेता है। ज्ञपरिज्ञा से इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनमें से हेय का त्याग करे और उपादेय को अपनाए।

सम्यग्दर्शन-विशुद्धि के उपायों को जानकर व्यक्ति अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध बनाए और विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मोक्ष-मार्ग में शीघ्र प्रगति करके अपने अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करे। इसी में सम्यग्दर्शन की सार्थकता है और यही आत्मा का परम लक्ष्य है। मनुष्य-जन्म भी मोक्ष-मार्ग पर निरन्तर गति-प्रगति करने और मोक्ष-प्राप्ति में ही सफल होता है।

अतः सम्यग्दर्शनरूपी चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करके, उसमें दृढ़ रहकर अपने अभीष्ट लक्ष्य –मोक्ष को प्राप्त करे, निज धाम –मुक्ति में पहुँचे। □

जय संघचन्द
निम्मल-सम्मत्त-विसुद्ध जोण्हागा ।

सम्यक्त्व रूप निर्मल-स्वच्छ ज्योत्स्ना से धवलित (शुभ्र) संघ रूपी चन्द्र (सम्यक्त्वधारी श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका) सदा जय-विजय प्राप्त करें ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

●●

अभिधान राजेन्द्र कोष भा० १, ४, ३	श्री राजेन्द्र सूरिजी प्रकाशक—सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर संघ रतलाम
अनुयोगद्वार सूत्र	मलधारीय हेमचन्द्र सूरि कृत टीका प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत
अध्यात्मसार	उपाध्याय श्री यशोविजयजी प्रकाशक—निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-६
अमितगति श्रावकाचार	आचार्य श्री अमितगति सूरि भाषा टीकाकर्ता—स्व० पं० श्री भागचन्द्र जी प्रकाशक—मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
अध्यात्म प्रवचन	उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
अष्टप्राभृत	श्री कुन्दकुन्दाचार्य अनुवादक—रावजीभाई छगनभाई देसाई प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रा० आ० अगास
अनगार धर्मामृत	पं० आशाधरजी सम्पादक—पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जिनसूत्र (प्रवचन) भाग २	आचार्य रजनीश प्रकाशक—रजनीश आश्रम, पूना (महाराष्ट्र)
ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र	सम्पादक—पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज प्रकाशक—शास्त्रोद्धार पुस्तक सदन, हैदराबाद
जीवन श्रेयस्कर पाठमाला	सम्पादक—कल्याणऋषिजी प्रकाशक—अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया (म)
जैनागम सूक्तिसुधा, प्रथम भाग	मुनिश्री कल्याणऋषिजी सम्पादक—रतनलाल संघवी प्रकाशक—अमोल जैन ज्ञानालय धूलिया (म.)
जैनभारती (साप्ताहिक) अंक १९६८ जुलाई से १९६९, अप्रैल तक	सम्पादक—गोपीचन्द चोपड़ा, मोहनलाल बांठिया आदि प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
जवाहर किरणावली किरण ८ (सम्यक्त्व पराक्रम भाग १)	व्याख्याता—आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सम्पादक—पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल प्रकाशक—जवाहर साहित्य समिति, भीनासर
जैनधर्म मीमांसा, भाग १	पं० दरबारीलाल सत्यभक्त प्रकाशक—सत्य समाज ग्रन्थमाला कार्यालय, बम्बई
जैन लक्षणावली, भाग १, २	सम्पादक—पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १ से ७	संग्रहकर्ता—भैरोंदान सेठिया प्रकाशक—अगरचन्द भैरोंदान सेठिया, बीकानेर
जीवन वैभव	प्रवक्ता—पं० विनयचन्द्रजी महाराज सम्पादक—मनोहर मुनिजी महाराज, शास्त्री, साहित्यरत्न प्रकाशक—सन्मति प्रचारक संघ, बम्बई-१
जीवन और धर्म	डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
जैनधर्म का प्राण	पं० सुखलालजी प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

डॉ० मोहनलाल मेहता, एम. ए., पी-एच डी.
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्यालय शोध संस्थान,
जैन आश्रम, वाराणसी-५
अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी
सम्पादक— देवेन्द्र मुनिजी, श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक—तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज)
वाचना प्रमुख—आचार्य श्री तुलसी
सम्पादक—मुनि नथमलजी (युवाचार्य)
प्रकाशक —जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)
वाचकवर्य श्री उमास्वाति
हिन्दी अनुवादक—प० ठाकुरप्रसाद शर्मा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
। लेखक—मुनि श्री नथमलजी (युवाचार्य)
संकलयिता—कमलेश चतुर्वेदी
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी
आचार्य तारणतरण
सम्पादक—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी
प्रकाशक—तारणतरण समाज का जैन चन्यालय,
सागर
आचार्य देवसेन
सम्पादक—नाथूराम प्रेमी
प्रकाशक—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
प० सुखलालजी
प्रकाशक—प० सुखलाल सम्मान समिति, अहमदाबाद-१
1 आचार्य चन्द्रसूरि
उपाध्याय मानविजयजी
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार
संस्था, बम्बई
आचार्य कुन्दकुन्द
प० जयचन्द जी
प्रकाशक—माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई
मा प्रकाशक—हिन्दी प्रकाशन संस्था ई० १९५३

मोक्षपाहुड — आचार्य कुन्दकुन्द
प्रकाशक—माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

मोक्षमार्ग प्रकाशक — पं० प्रवर श्री टोडरमलजी
प्रकाशक—सस्ती ग्रन्थमाला, देहली

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास — श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ द्वय
प्रकाशक—जैन दर्शन समिति, कलकत्ता

मोक्षशास्त्र — उमास्वामी आचार्य
गुजराती टीकाकार—रामजी माणेकचन्द दो
प्रकाशक—दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्र
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्षमार्ग प्रकाशक अ ७ — पं० प्रवर श्री टोडरमलजी
प्रकाशक—श्री दि जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्र
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मानव जीवनन् महाकर्तव्य सम्यग्दर्शन — श्रीकानजी स्वामी
प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्षमार्ग-प्रवचन — प्रवक्ता—पं० श्री पारस मुनिजी
प्रकाशक—श्री शामजी वेलजी वीराणी स्थ
धार्मिक शिक्षण ट्रस्ट राजकोट

योगशास्त्र — आचार्य हेमचन्द्र
सम्पादक—मुनि समदर्शी प्रभाकर
प्रकाशक—ऋषभचन्द्र जौहरी किशनलाल जै

योगशतक — आचार्य हरिभद्र सूरि
सम्पादिका—डॉ० इन्दुकला ही झवेरी
प्रकाशक—श्री रसिकलाल छोटालाल परी
अह

योगसार प्राभृत — आचार्य अमितगति विरचित
सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युग
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सटीक) — आचार्य समन्तभद्र
टीकाकार—पं० सदासुखदासजी कासलीवाल
प्रकाशक—वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर

प्रकाशक—माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

आचार्य अकलंक

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

पं० प्रवर गजमलजी

सम्पादक—पं० लालाराम शास्त्री

प्रकाशक—श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ, कलकत्ता

आचार्य वसुनन्दी

सम्पादक—पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ श्री धनमुनि 'प्रथम'

प्रकाशक—एस बी एण्ड कम्पनी, अहमदाबाद

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

मलधारीय आचार्य हेमचन्द्र वृत्ति

गुजराती भाषान्तरकर्ता—शाह चुन्नीलाल हुकमचन्द

प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

आचार्य श्री जवाहर

सम्पादक—पं० मुनि श्रीमल्लजी महाराज

प्रकाशक—श्री जवाहर विद्यापीठ,

भीनासर (बीकानेर)

प्रकाशक—श्रावक भीमसिंह माणेक, बम्बई

उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

बालचन्दजी श्री श्रीमाल

प्रकाशक—जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम

रघुवीरशरण दिवाकर, बी. ए., एल-एल बी

प्रकाशक—चिरजीलाल बडजात्या, वर्धा

लेखक—क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी

प्रकाशक—शान्तिनिकेतन—उदासीन आश्रम

ईसरीबाजार (गिरिडीह)

सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन

[सम्यग्दर्शन पर सर्वांगीण विवेचन-चिन्तन]

लेखक
श्री अशोक मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर

☐ पुस्तक
सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन

☐ लेखक
श्री अशोक मुनि

☐ सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ प्रस्तावना
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

☐ प्रथमावृत्ति
विक्रम संवत् २०३८
दीपमालिका
ईस्वी सन् १९८१, अक्टूबर
वीर निर्वाण संवत् २५०८

☐ प्रकाशक
श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय,
महावीर बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ अर्थ सौजन्य
श्रीयुत आर. बी. राठोड़, नासिक

☐ मुद्रक
श्री अनिल जैन द्वारा
राजभारती प्रेस, बाजार गली, आगरा

☐ मूल्य : तीस रुपया मात्र

प्रकाशकीय

हमारा यह सौभाग्य है कि हमें जैन साहित्य के चरित्र, कथा उपन्यास, भजन-स्तवन, आगम, प्रवचन आदि अनेकानेक विषयों पर सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने का सौभाग्य मिला है। हमारी दृष्टि सर्वोपयोगी साहित्य पर विशेष रहती है, और वह प्राय सर्वत्र पढा जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक अपने विषय की एक अनूठी और अपूर्व पुस्तक है। सम्यग्-दर्शन जैसे गम्भीर और साथ ही सार्वजनिक विषय पर इतनी महत्वपूर्ण सामग्री, इतना व्यापक चिन्तन और सर्वांग विश्लेषण करने वाली सम्भवत हिन्दी या किसी भी भाषा में यह प्रथम पुस्तक होगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक हैं सिद्धहस्त लेखक कवि, वक्ता शतावधानी श्री अशोक मुनि जी और गौरव की बात है कि इसके विद्वान् सपादक भी स्वय शताव-धानी हैं। श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ने मुनि श्री के निदेशन मे सुव्यवस्थित विद्वत्तापूर्ण सपादन कर कृति मे निखार ला दिया है।

इस प्रकाशन मे नासिक निवासी श्रीमान आर० बी० राठौड ने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है तदर्थ हम आपके आभारी हैं।

हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा और पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

—अमयराज नाहर

मन्त्री—जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

ब्यावर

हृदय साहित्यानुरागी

युक्त राजमलजी राठोड़ (वकील)

[नासिक]

राजमलजी राठौड़ धर्म-प्रेमी व्यवहार कुशल एवं उच्च शिक्षा सम्पन्न
का जन्म महाराष्ट्र के सोलापुर जिले में सारोला ग्राम में हुआ
लजी राठोड़ के द्वितीय पुत्र हैं। ज्ञान की पिपासा के कारण ही आ
त कर सके।

बी० ए०, एल०एल० बी०, तक अध्ययन करने पर नियमपूर्वक वकालत
में वकालत की शुरुआत की। इस व्यवसाय में आप पूर्ण रूप
नासिक जिले में समाज तथा सभी विभिन्न वर्गों में "वकील साहब
आदर तथा प्रेम के पात्र बने। वकालत के साथ-साथ आपने नासि
व्यवसाय की शुरुआत की और थोड़े ही समय में एक सफल व्या

१९४८ के चातुर्मास में संतों की संगति से आपकी धर्म के प्रति श्र
कविरत्न प० श्री अशोक मुनिजी महाराज साहब के सम्पर्क में आ
ो समझा तथा आपके समस्त परिवार की मुनिश्री के प्रति अन
एवं समाज सेवा, अतिथि सेवा आदि कार्यों में सदा अग्रणी रहते
र व मधुर स्वभाव से सबको अपना बना लेते हैं।

प्रगाढ़ आस्था रखते हुए आप कर्म पर विश्वास रखने वाले हैं अ
कि आप स्वयं अपना जीवन प्रगतिशील बना सके। आपके हर
पत्नी सौ० पुष्पादेवी का सक्रिय सहयोग रहा है। सौ० पुष्पादेवी
प्रतीक हैं। एक कुशल गृहणी की जिम्मेदारी निभाते हुए धर्म-का
तत्पर रहती है।

आपके एक पुत्र तथा चार कन्याएँ हैं। सुपुत्र श्री विजयकुमार जी स्वयं वकील होते हुए भी पिताजी के व्यवसाय में तथा सामाजिक और धार्मिक कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग देते हैं। वकील साहब की स्नुषा सौ० विमला देवी भी अपने सास एवं ससुर की धार्मिक गतिविधियों में सम्पूर्ण सहयोग देकर उन्हें प्रोत्साहित करती है।

आप अपनी सांसारिक जिम्मेदारियाँ सफलतापूर्वक निभाते हुये मानव-समाज की उन्नति के लिये धर्म-कार्य में तन-मन-धन से सहयोग देते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' में आपने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान कर एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है। हम भविष्य में भी आपके सहयोग की भावना रखते हुए आपके धर्मशील परिवार की सर्वतोमुखी उन्नति एवं प्रगति की कामना करते हैं।

—अभयराज नाहर

प्रतिष्ठित करते हैं। दोनों ही एकान्त का परिहार करने की बात कहते हैं, पर एक नय पर विशेष चिन्तन मनन का आग्रह भी उनका परिलक्षित होता है। दिगम्बर परम्परा के अनेक चिन्तक आचार्य जहाँ निश्चय सम्यक्त्व को ही सम्यक्त्व मानकर उसके लक्षण, स्वरूप, आदि बताते हैं वहाँ श्वेताम्बर परम्परा मे उसके प्राय. व्यवहार नयानुसार लक्षण आदि अधिक मिलते हैं। इसलिए इस ग्रन्थ मे दोनो ही परम्परा के अध्यात्मवादी व क्रियावादी आचार्यों के विचारों को सोदाहरण प्रस्तुत करके एक सेतु बनाने का प्रयत्न किया गया है। निश्चय और व्यवहार का मिलन ही सम्यग्-दर्शन की भूमिका बन सकता है।

विद्वद्रत्न श्री अशोक मुनि जी महाराज के तटस्थ व समन्वय मूलक विचारो के अनुसार उन द्वारा निर्दिष्ट/सूचित विषयो पर अर्थात् उनके सूत्रो पर एक प्रकार का भाष्य मैंने किया है, हो सकता है कहीं मैं भी एकान्त धारा या भावुकता मे बह गया होऊँ, इसलिए विज्ञ पाठको से सानुरोध आग्रह है कि यदि इस गुरु-गम्भीर विषय के विवेचन मे, आचार्यों के मतव्यो की व्याख्या मे कही भूल या प्रमाद हो गया हो तो इसे मेरी अल्पज्ञता मानकर कृपा पूर्वक सूचित करेंगे।

मैं पडित प्रवर मुनि श्री नेमीचन्द्र जी, मुनि श्री सुमेरचन्द्र जी एव पडितरत्न श्री विजय मुनि जी शास्त्री का महत् आभार मानता हूँ कि उनके आत्मीय मार्ग दर्शन एवं विचार-विवेचन ने मुझे इस जटिल-क्लिष्ट विषय पर लिखने मे सक्षमता प्रदान की।

विजय पर्व
आगरा

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

अपनी बात

विश्व के सभी धर्म-शास्त्रों और ग्रन्थों में मनुष्य जीवन की महिमा और गरिमा गाई गई है। विचार करने पर लगता है यह महिमा मनुष्य के शरीर की नहीं, किन्तु बुद्धि, विवेक और विचारशीलता की है। ये ही तत्त्व मनुष्य की श्रेष्ठता के सूचक हैं, निर्माता भी हैं।

सद् असद् का विवेक ही ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान जब निर्मल, सत्यदर्शी और आत्माभिमुख होता है तो सम्यक् ज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन बन जाता है।

सम्यग्दर्शन—जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द भले ही हो, पर इसका अर्थ बहुत व्यापक है। साधारणतः सम्यग् विश्वास या सम्यग् श्रद्धा के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु यदि 'सम्यग्दर्शन' का समग्र अर्थबोध करना हो तो मैं कहना चाहूँगा—यह जीवन जीने की एक कला है। जीवन के ऊर्ध्वारोहण का एक प्रशस्त निर्दोष मार्ग है। मनुष्य के आनन्दमय जीवन का मनोविज्ञान है। इसके स्पर्श से मनुष्याकार धारी प्राणी वास्तव में मनुष्यत्व में प्रतिष्ठित होता है। बल्कि कहना चाहिए पशु में भी इसके प्रभाव से मनुष्यत्व प्रस्थापित होता है। एक जैनमनीषि के शब्दों में—

> नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
> पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्तचेतसः ॥

सम्यक् दर्शन से विहीन (मिथ्यात्वग्रस्त) चित्तवाला मनुष्य भी पशु रूप बन जाता है और सम्यक्त्व से भावित चित्तवाला पशु भी मनुष्यत्व की गरिमा से मण्डित हो जाता है।

वास्तव में सम्यक् दर्शन चित्त की स्वस्थ दशा है। मानव की आनन्दमय जीवन जीने की आकांक्षा सदा से रही है। सुखी, बाधारहित, मानसिक संक्लेशों से मुक्त, स्वस्थ और प्रसन्न मनोवृत्ति—यह आनन्दमय जीवन की पहचान है। सम्यक् दर्शन इसी जीवन पद्धति का दर्शन है।

आज का मानव शारीरिक पीड़ा से भी अधिक मानसिक पीड़ा, कुण्ठा, तनाव और अन्तर् द्वन्द्वों से पीड़ित/प्रताड़ित है। शरीर की पीड़ा के उपचार शरीर विज्ञान, औषधि-विज्ञान और आयुर्विज्ञान के पास हैं, बहुत हैं, पर मानस पीड़ा का उपचार कहाँ है ? मनोविज्ञानी स्वयं प्रताड़ित हो रहे हैं इस पीड़ा और तनाव से। दुःख संसार की लगभग पूरी आबादी मानसिक पीड़ा से ग्रस्त है, तड़फ रही है, तनावों से घिरी, कुण्ठाओं से प्रताड़ित, दुःखी, घुटन भरी जिन्दगी जी रही है। इस सर्वव्यापी रोग का इलाज क्या है। कहाँ है ? किसके पास है ?

मैं अपने आत्म बन्धुओं से कहना चाहता हूँ, मानव मात्र को आह्वान करना चाहता हूँ कि तुम्हारी इस विश्व व्यापी पीड़ा व प्रताड़ना का इलाज है, इस महा-रोग की एक चिकित्सा है और वह है सम्यग्दर्शन।

आप (पाठक) घबराइए नहीं, सम्यग्दर्शन शब्द से चौंके नहीं लेकिन इसे संकु-चित न बनाते हुए व्यापक रूप में देखेंगे तो यह भव रोग की ही नहीं किन्तु समग्र वर्तमान जीवन की, मानसिक पीड़ा की भी दवा लगेगी—मैं सिर्फ मनुष्य की, प्राणी मात्र की अन्तस् पीड़ा का, उस पीड़ा का जिस पीड़ा ने समस्त-सुख ऐश्वर्य सुविधा के साधनों को छीन लिया है, एक इलाज बता रहा हूँ। वह चिकित्सा विधि है सम्यग्दर्शन।

सम्यग्दर्शन को मैं यहाँ आनन्दमय निराबाध जीवन की कला के रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। सुख-दुःख में समभाव, मान-अपमान की भावना से मुक्त तेरे-मेरे की भेद रेखाओं से दूर-मानव मात्र को बल्कि प्राणि मात्र को परम चैतन्य ज्योति रूप में देखना, सुख-दुःख एवं संयोग-वियोग को मात्र कर्मजन्य मानकर उनके हर्ष-विषाद से परे रहना 'स्थितप्रज्ञता' या 'स्थितात्मता' की दशा प्राप्त करना—यह सम्यग्-दर्शन से ही सम्भव है।

कुछ बद्ध मूल धारणाओं ने, साम्प्रदायिक भावनाओं ने 'सम्यग्दर्शन' के 'अमृतकलश' पर आवरण डाल दिया है, इसकी व्यापकता को संकुचित कर लिया है। मैं कहना चाहूँगा वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों ने जो 'अमृत बूटी' हमें दी थी, हमने उसकी चमत्कारिता को बिना समझे ही उसे अपनी मैली चादर में गाँठ बाँधकर रख ली और अपने पन की मुद्रा लगा दी।

वास्तव में सम्यग्दर्शन कितना व्यापक और कितना गम्भीर अर्थ लिये हुए है, यह समझना नितान्त आवश्यक है। जैन दर्शन के मनीषियों ने, चाहे वे श्वेताम्बर आम्नाय के रहे हैं, या दिगम्बर, 'सम्यग्दर्शन' पर बड़ा ही व्यापक, विशाल और सर्वां-गीण चिन्तन किया है। उन्होंने इसे 'भव-रोग-चिकित्सा' की अचूक औषधि के रूप

में देखा है, प्रयोग किया है, उसकी प्रस्तुति भी की है। उसके गुण, लक्षण, अंग, दोष आदि पर गहरी मीमांसा की है। सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डाला, विशुद्ध निर्मल दृष्टि के रूप में प्रस्तुत कर उसके एक-एक अंग का विशद विवेचन किया है। हजारों जैन ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।

मैं बहुत समय से सम्यग्दर्शन पर एक सर्वांगीण अनुशीलन प्रस्तुत करने की सोच रहा था। काफी अध्ययन-अनुशीलन-परिशीलन के बाद इस ग्रन्थ का प्रणयन कर सका हूँ। श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के बाद मेरी तो यह सुनिश्चित धारणा बन गई है कि सच्चा सम्यग्दृष्टि किसी भी परम्परा में रहे वह परम्परा के मोहबन्धन से मुक्त, आत्म द्रष्टा आत्मदर्शी रहता है। समत्व-परिणति से युक्त आत्मा पर किसी भी परम्परा का, धर्म का, पन्थ का लेबल लगा देने मात्र से, उसकी अन्तर दशा में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह बाहरी विकल्पों के प्रभाव से मुक्त 'आत्मरमण' करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में 'सम्यग्दर्शन' के महत्त्व, लाभ, उपलब्धियाँ, भाव-परिणति, जीवन में उसका प्रभाव, स्वरूप, परिभाषा, लक्षण, अंग, गुण, विभाग-उत्पत्ति, विशुद्धि, दूषण-भूषण आदि समस्त पक्षों पर तटस्थ चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

भगवान् महावीर से लेकर अब तक के प्रमुख विचारकों, विद्वानों, मनीषियों के विचारों का समग्र दोहन करने का प्रयत्न मैंने किया है। जिन प्रमुख आचार्यों के विचारों का समावेश इसमें किया है उनमें प्रमुख हैं—आचार्य भद्रबाहु, आचार्य उमास्वाति, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्र सूरि, सिद्धसेन दिवाकर आचार्य हेमचन्द्र उपाध्याय श्री यशोविजय जी, श्रीमद् राजचन्द्र, प० सुखलाल जी, उपाध्याय अमरमुनि तथा आचार्य समन्तभद्र, आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, आचार्य शुभचन्द्र एवं अमितगति, आचार्य अमृतचन्द्र, स्वामी कार्तिकेय, आचार्य देवसेन, प० आशाधरजी, प० टोडरमल जी, प० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथों में सम्यग्दर्शन पर काफी चिन्तन-मनन हुआ है। वहाँ पर सम्यग्दर्शन के अन्तरंग स्वरूप-निश्चय दृष्टि के साथ-साथ बाह्यस्वरूप-व्यवहार पक्ष पर भी बहुत विस्तृत चर्चा मिलती है। मुख्यतः सम्यग्दर्शन के अंग-लक्षण आदि पर। श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में व्यवहार के साथ निश्चय आया है, जबकि दिगम्बर परम्परा के चिन्तन में निश्चय के बाद व्यवहार का प्रस्तुतीकरण होता है। सम्यग्दर्शन के महत्त्व और पक्ष-परिणति के प्रसंग में भी दिगम्बर ग्रंथों में आलंकारिक शैली में बहुत अच्छा वर्णन मिलता है।

चूंकि मैं सम्यग्दर्शन पर ही लिख रहा हूँ जिसकी पहली शर्त 'तटस्थता' होती है, अत मैंने भी तटस्थवृत्ति मे वर्णन-विवेचन करने का प्रयत्न किया है। यत्र-तत्र 'श्वेताम्बर' दिगम्बर के आग्रह से मुक्त रहकर सभी आचार्यों के चिन्तन, विचार, स्थापना, ससदर्भ उद्धृत करने का प्रयत्न किया है। मेरा प्रयत्न रहा है कि इस विषय में अपनी कोई नवीन प्रस्थापना न करके आचार्यों ने जैसा कहा है, उसे सिलसिलेवार पाठक के समक्ष रख देना। पाठक पढकर स्वय आत्मानुभव करे, सम्यग्दर्शन के सर्वांगीण स्वरूप को समझें और फिर अपनी समग्र बुद्धि विवेक से स्व-निर्णय करें।

पाठको से मेरा आग्रह इतना ही है कि वे इसे उपन्यास की तरह एक बार पढकर ही न छोड़ें। यह गम्भीर विषय है आत्मानुभव का विषय है, और जीवन-दर्शन है, इसलिए थोड़े-थोडे प्रकरण बार-बार पढ़ें, उस पर मनन करें, जीवन में अनुभव करने का प्रयत्न करें। 'सम्यग्दर्शन' को समझने के लिए भी सम्यग्दर्शन—अर्थात् पूर्व-ग्रहो से मुक्त तटस्थ विवेकशीलता चाहिए। यदि पाठक इस शैली से इसे पढ़ेंगे तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

इस ग्रथ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने। उपाध्याय श्री स्वय ध्यानयोग के अभ्यासी है, चिन्तक है, उदार विचारो के स्वाध्यायशील विद्वान है। मेरा अनुरोध मानकर उन्होने ग्रन्थ की गरिमा के अनुरूप ही प्रस्तावना लिखकर अनुग्रहीत किया है, मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस ग्रथ के सम्पादन-सशोधन मे प्रसिद्ध साहित्यकार जैनदर्शन के गम्भीर अभ्यासी श्रीचन्द जी सुराना का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है उन्होंने इस ग्रन्थ रत्न का सुन्दर सम्पादन व लेखन किया है। अतः मैं उनके इस आत्मीयतापूर्ण सहयोग का आदर पूर्वक स्मरण करता हुआ पुन. पाठको से इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का अनुरोध करता हूँ।

पोषवदि १०
पार्श्वजयंती

—अशोक मुनि

प्रस्तावना

□ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

आज की विषम स्थिति

इस विराट विश्व में जिधर भी हम दृष्टि उठाकर देखते हैं उधर अशान्ति की ज्वालाएँ धधक रही हैं। विग्रह और संघर्ष के ज्वालामुखी फूट रहे हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी अशान्त हैं, खिन्न हैं। आग के दहकते हुए गोले की तरह जी रहे हैं। अत्यन्त संतप्त, विक्षुब्ध और तनावपूर्ण स्थिति है। भौतिक-विज्ञान चरम और परम बिन्दु तक पहुँच गया है। मानव ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया है। वैज्ञानिक साधनों के प्राचुर्य से भौतिक सुख-सुविधा के तथा आर्थिक समृद्धि के गगनचुम्बी अम्बार लग चुके हैं। तथापि मानव की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विषमता दूर नहीं हुयी है। शिक्षा प्रदान करने वाले हजारों विश्वविद्यालय हैं, जहाँ मानव विविध-विद्याओं में उच्चतम शिक्षा प्राप्त करता है। शिक्षा प्राप्त करने पर भी वह अपनी क्षुद्र स्वार्थवृत्ति व भोग-लोलुपता पर विवेक और संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है।

नित्य-नयी ऐहिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी मन सन्तुष्ट नहीं है। वैज्ञानिक साधनों से विश्व सिमट कर अत्यधिक सन्निकट आ चुका है। किन्तु मानव-मानव के बीच हृदय की दूरी प्रतिपल-प्रतिक्षण अधिक से अधिकतर होती चली जा रही है। वह तन से सन्निकट है, किन्तु मन से दूर है। सुरक्षा के साधनों की विपुलता व ऊँचाई अनन्त आकाश को छू रही है, तथापि मानव का मन भय से संत्रस्त है। हृदय आकुल-व्याकुल है, वह विध्वंसकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण में प्रतिस्पर्धा लगा रहा है। ज्ञात नहीं यह प्रतिस्पर्धा कब सम्पूर्ण मानव जाति की अन्त्येष्टि का निमित्त बन जाये। एक व्यक्ति के हृदय में जलती हुयी आग कुछ ही क्षणों में संसार को भस्म कर सकती है। व्यक्ति का रोग विश्व का रोग बन सकता है। अर्थ की अत्यधिक अभिवृद्धि होने पर भी मानव की अर्थ-लोलुपता कम नहीं हुयी है। वह द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ रही है। एक वर्ग दूसरे वर्ग को निगलने के लिये व्यग्र है। भोगोपभोग की सामग्री को प्राप्त करने के लिए वह पागल कुत्ते की भाँति बेतहाशा दौड़ रहा है। अधिकाधिक हैरान व परेशान हो रहा है।

मानव समाज का यह सब से बड़ा दुर्भाग्य है कि वह भौतिकवाद की दौड़ में अध्यात्मवाद को भुलाये जा रहा है; त्याग को छोड़कर भोग की ओर गति कर रहा है। अपरिग्रह को छोड़कर परिग्रह की ओर लपक रहा है। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उच्छृखलता व विकृति को अपना रहा है, समता, स्वाभाविकता और सरलता के स्थान पर विषमता, कृत्रिमता और छल-छद्म का प्राधान्य हो रहा है, उसके अन्तर्मानस में उद्दाम-कामनाएँ पनप रही हैं और ऊपर से वह सच्चरित्रता का अभिनय कर रहा है। बाह्य और आभ्यन्तर जीवन में एकरूपता का अभाव है। कथनी और करणी में आकाश-पाताल सा अन्तर है। वह वैज्ञानिक तकनीक को अधिक गहराई से जानता है। पर अपने सम्बन्ध में बिल्कुल ही अनजान है। बाहर की सफाईयाँ खूब हो रही हैं किन्तु भीतर में स्वच्छता का अभाव है, तन उजला है, मन मलिन है, इसीलिये एक शायर ने कहा है—

सफाइयाँ हो रही हैं जितनी,
दिल उतने ही हो रहे हैं मैले।
अन्धेरा छा जायेगा जहाँ में,
अगर यही रोशनी रहेगी॥

शान्ति का मार्ग

भौतिकवाद की इस विकट वेला में मानव को यह चिन्तन करना है कि शान्ति और आनन्द कहाँ है? यह भौतिकवादी भावना स्वार्थवृत्ति को पनपा सकती है, शोषण और पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ा सकती हैं पर शान्ति और आनन्द प्रदान नहीं कर सकती। विवेक और संयम को उद्बुद्ध नहीं कर सकती। भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने गहराई से इस तथ्य को समझा और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की, मानव का भौतिकवाद की ओर जो अभियान चल रहा है वह आरोहण की ओर नहीं, अवरोहण की ओर है। वह मानव को उत्थान के शिखर की ओर नहीं, पर पतन की गहरी खाई की ओर ले जा रहा है। जब तक मानव भौतिकवाद में भटकता रहेगा, तब तक सच्चे सुख के सदर्शन नहीं हो सकेंगे। सुख-शान्ति और सन्तोष को प्राप्त करने के लिए अपने अन्दर ही अवगाहन करना पड़ेगा। जैसे कस्तूरिया मृग अपनी नाभि में कस्तूरी होने पर उस की मधुर सौरभ के लिये वन-वन भटकता है, वही स्थिति आज के मानव की है। वह बाहर भटक रहा है, किन्तु अपने अन्दर झांक नहीं रहा है। अपने अन्दर झांकना, आत्मावलोकन करना शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'आत्मदर्शन सम्यग्दर्शन है। आत्मज्ञान, सम्यग्ज्ञान है, और आत्मस्थिरता सम्यक्चारित्र है।' आध्यात्मिक साधना में इन तीनों का गौरवपूर्ण स्थान है और यही मोक्ष मार्ग है।

का मुख्य कारण, अविद्या माना है। अविद्या से राग-द्वेष, कषाय और संक्लेश उत्पन्न होते हैं पातंजल योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों का निर्देश किया है। और वे सभी दोष अविद्या में समाविष्ट हो जाते हैं। अविद्या से ही सभी क्लेश उत्पन्न होते हैं।[2] सांख्यकारिका में पाँच क्लेशों को पाँच विपर्यय कहा है।[3] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप में बताकर उसके कार्य के रूप में अन्य दोषों का सूचन किया है।[4] अक्षपाद ने अविद्या के स्थान पर 'मोह' शब्द का प्रयोग किया है।[5] यदि मोह नहीं है तो अन्य दोषों की उत्पत्ति भी नहीं है। कठोपनिषद,[6] श्रीमद् भगवद् गीता[7] प्रभृति ग्रन्थों में भी अविद्या को मुख्य दोष माना है। तथागत बुद्ध ने संसार का मूल कारण अविद्या माना है।[8] अविद्या से तृष्णा आदि दोष पैदा होते हैं। जैन दर्शन ने भी संसार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह माना है। अन्य दार्शनिकों ने जैसे अविद्या, विपर्यय, मोह और अज्ञान कहा है, उसे ही जैन दार्शनिकों ने मिथ्यादर्शन या दर्शनमोह कहा है। अन्य दार्शनिकों ने जिसे अस्मिता, राग-द्वेष और तृष्णा कहा है उसे जैन दार्शनिकों ने 'चारित्र-मोह' कहा है।

संसार का मूल कारण अविद्या है तो उस से मुक्त होने का मूल उपाय विद्या है। कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। आचार्य पतंजलि ने उस विद्या को 'विवेक ख्याति' कहा है। अक्षपाद ने तत्त्वज्ञान और सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में उसे ही 'विपश्यना' या प्रज्ञा कहा है। तो जैन दर्शन ने सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार सभी भारतीय परम्पराओं ने 'ज्ञान' को महत्त्व दिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से अपने निज स्वरूप का ज्ञान न होना अविद्या है। और वही संसार का मूल कारण है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में साधना के विविध रूप उजागर हुए हैं। हम उनके विस्तार में न जाकर संक्षेप में कहें तो तीन

---

1. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक—२१६
2. योगदर्शन—२.३.४
3. सांख्यकारिका—४७-४८
4. प्रशस्तपादभाष्य संसारापवर्ग
5. न्यायसूत्र ४।१।३, ४।१।६, ४।१।६, भाष्य भी देखिए।
6. कठोपनिषद् १।२।५
7. श्रीमद् भगवद् गीता—५।१५
8. संयुक्त निकाय—महावग्ग सच्चसुत्त—१८।

मुख्य मार्ग हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग[1]। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा[2] इन तीन पर बल दिया। पर जैन दर्शन और अन्यदर्शनो की विचार धारा मे मुख्य रूप से यही अन्तर है कि वहाँ एक-एक साधना पद्धति को स्वीकार करके भी साधक मुक्त हो सकता है किन्तु जैन दर्शन का यह स्पष्ट आघोष है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो जब परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं, तभी मोक्ष सभव है। इन मे से एक भी साधन अपूर्ण है तो मोक्ष प्राप्त नही हो सकता।

सम्यग्—त्रिपुटी

सम्यग्दर्शन की परिपूर्णता चतुर्थ गुणस्थान मे हो जाती है। सम्यग्ज्ञान की परिपूर्णता तेरहवें गुणस्थान मे और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थान मे होती है। और ज्यो ही ये परिपूर्ण होते हैं त्यो ही मोक्ष प्राप्त हो जाता। सम्यग्दर्शन से रहित साधक को ज्ञान नही होता। ज्ञान रहित व्यक्ति को चारित्र नही होता। चारित्र रहित व्यक्ति को मोक्ष नही होता, मोक्ष रहित व्यक्ति का निर्वाण नही होता।[3] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मोक्ष महल मे प्रवेश करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रधान द्वार है। वह प्रकाश की प्रथम किरण है। भव भ्रमण करते हुए पथिक का दिशासूचक ज्योति स्तम्भ है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन को मोक्ष मार्ग का कर्णधार कहा है।[4]

बिना अक के लाखो करोडो बिन्दिया केवल शून्य कहलाती है। वे गणित मे सम्मिलित नही हो सकती। अक का आश्रय पाकर शून्य का मूल्य दशगुणा हो जाता है। उसी तरह सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पश्चात् ज्ञान और चारित्र भी उद्दीप्त हो जाते हैं। श्रावकत्व और श्रमणत्व प्राप्त करने की मूल भित्तिका सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे कितना ही शास्त्रो का परिज्ञान किया जाये, वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान नही, मिथ्याज्ञान है। कितनी ही उग्रतम आचार की साधना की जाये, तप की आराधना की जाये, वह सम्यग्दर्शन के अभाव मे मिथ्या आचार अज्ञानतप है। सम्यग्दर्शन ही अध्यात्मिक साधना का महाप्राण है।

सम्यग्दर्शन :

सम्यग्दर्शन शब्द सम्यग् और दर्शन इन दो शब्दो से निर्मित है गम्भीर अर्थ-गौरव को लिये हुए हैं हम यहाँ प्रथम दर्शन शब्द को समः मे सम्यग्दर्शन का हार्द समझ मे आ सकता है। तत्त्वचिन्तन की एक

१. देखिये श्रीमद्भगवद्गीता।
२. देखिये विशुद्धिमग्ग १।७।
३. उत्तराध्ययन, २८।३०
४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार—श्लोक—३१

म मे जानी और पहचानी जाती है। जैसे सांख्य दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन-
द। यहाँ पर दर्शन शब्द प्रस्तुत अर्थ मे व्यवहृत नही हुआ है। जैन आगम
निराकार उपयोग या सामान्य ज्ञान के लिए दर्शन शब्द आया है।[1]
त्ता मात्र का अवलोकन करना दर्शन है। वह अर्थ भी यहाँ अभीष्ट नही
ों द्वारा देखा जाय या जिससे देखा जाये वह दर्शन है, केवल आँखों से
यहाँ इष्ट नही है। अनेकार्थ संग्रह मे दर्शन के अर्थ मे दर्पण, उपलब्धि, बुद्धि,
न, लोचन, धर्म, दश आदि विविध पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए है[2]
र्शन का अर्थ केवल नेत्रो से निहारना ही नही है किन्तु अन्तर्दर्शन है।
मोक्ष का साधन रूप है। इसलिये यहाँ पर दर्शन का अर्थ दृष्टि और
। दृष्टि भ्रान्त भी हो सकती है और निश्चय मिथ्या भी हो सकता है।
न के पूर्व 'सम्यग्' शब्द व्यवहृत हुआ है। जिसका अर्थ है ऐसी दृष्टि, जिस
भी प्रकार की भ्रान्ति नही है, और अयथार्थ भी नही है। ऐसा निश्चय, जो
त्तविकता को लिये हुए है। सम्यग्दर्शन जीवन की दिव्य दृष्टि है। आचार्य
ने[3] और आचार्य अभयदेव ने[4] सम्यग्दर्शन का अर्थ "श्रद्धा" किया है।
की तात्पर्यवृत्ति मे लिखा है कि 'शुद्ध जीवास्तिकाय से उत्पन्न होने वाला
श्रद्धान है, वही दर्शन है।[5] जहाँ पर तत्त्व या किसी पदार्थ का निश्चय,
विवेक या रुचि आत्मलक्षी हो, वही सम्यग्दर्शन होता है।
दर्शन के पहले सम्यग् विशेषण लगाने का यही उद्देश्य है कि देखना सम्यग्
दर्शन के पूर्व सम्यग् शब्द लग जाता है तो वह दर्शन आध्यात्मिक बन जाता
शास्त्र की स्थिति मे दर्शन परलक्षी होता है। आचार्य पूज्यपाद का मन्तव्य
र्थों के यथार्थ प्रतिपत्ति विषयक श्रद्धान का संग्रह करने के लिये ही दर्शन
'सम्यग्' विशेषण दिया है।[1] व्याकरण की दृष्टि से "सम्यग्" के मुख्य तीन
-प्रशस्त, संगत, और शुद्ध। प्रशस्त विश्वास ही सम्यग्दर्शन है, प्रशस्त का
मोक्ष भी है। मोक्षलक्षी दर्शन सम्यग्दर्शन है।

अर्थ-गरिमा

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने सम्यग्दृष्टि, अमोहो, शुद्धि, सद्भावदर्शन,

---

न्यायसंग्रहीनिक पृष्ट-८६
नेकार्थ संग्रह—८१
न्यायसूत्र अ० १ सूत्र २
वानागवृत्ति—स्थान—१

पंचा

बोधि, अविपर्यय, और सुदृष्टि, आदि को सम्यग्दर्शन के समानार्थक कहा है।[1] संक्षेप में सम्यग्दर्शन, तत्त्व साक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार, अन्तर्बोधि, दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति आदि लक्षणात्मक या स्वाभाविक अर्थों को अपने आप में समेटा हुआ है। जब आत्म-तत्त्व पर निष्ठा होती है, देव, गुरु, धर्म पर सहज श्रद्धा हो जाती है।

परमात्म प्रकाश की टीका में सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है।[2] सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना श्रेष्ठ है, एवं सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग के रंगीन सुख भी व्यर्थ हैं। जो साधक चारित्र से भ्रष्ट हो चुका है उसका सुधार हो सकता है। वह सत्पथ पर लग सकता है। पर सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति मिथ्यात्व के कारण सिद्ध नहीं हो सकता।[3] सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है। वह मुक्ति का अधिकार-पत्र है। आचार्य देववाचक ने[4] सम्यग्दर्शन को संघ रूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ और गहन भूपीठिका कहा है। जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी श्रेष्ठ धर्म की मेखला यानी पर्वतमाला अवस्थित है। आचारांग[5] में सम्यग्दर्शन की महिमा का उत्कीर्तन करते हुए यह स्वर प्रस्फुटित हुआ है कि सम्यग्दर्शी साधक पापों का अनुबन्धन नहीं करता। क्योंकि उस का आचरण सदैव सत् ही होता है असत् नहीं। जब कि मिथ्यादृष्टि का आचरण सदैव असत् ही होता है।

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में आगम और आगमेतर साहित्य में अत्यधिक विस्तार से विश्लेषण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में मुक्त स्वर से सम्यग्दर्शन की गौरव गरिमा गाई गई है, और उसके विविध पहलुओं पर विस्तार से विश्लेषण भी किया गया है। आज तक प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी और गुजराती आदि विविध भाषाओं में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा गया है कि यदि उन सभी का व्यवस्थित रूप से संकलन-आकलन किया जाय तो अनेक जिल्दों में वह साहित्य प्रकाशित हो जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ

सम्यग्दर्शन एक अनुशीलन—ग्रन्थ मेरे सामने है। जिसमें सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में हर दृष्टि से व्यापक चिन्तन किया गया है। जिज्ञासु साधकों को इस ग्र... में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में सब कुछ मिल जायेगा। सम्यग्दर्शन की ...

---

१. विशेषावश्यक भाष्य—गा० २७८४, २७८७,२७८६
२. परमार्थ प्रकाश की टीका में उद्धृत
३ दर्शनपाहुड गा-३
४ नन्दीसूत्र १/१२
५ आचारांग सूत्र १/३।२

को जिस सुगमता से इसमें खोला गया है और उसके अन्तर्मर्म को उद्घाटित
या है वह अनूठा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सम्यग्दर्शन का
य, प्रभाव और लाभ को उजागर करने वाले सात निबन्ध हैं, जो सप्तर्षियों की
प्रभावशाली हैं। द्वितीय खण्ड में अर्थ, लक्षण, व्याख्याएँ और उसके स्वरूप को
करने वाले छह निबन्ध हैं। ये छहों निबन्ध गम्भीर चिन्तन लिये हुये
तीय खण्ड में सम्यग्दर्शन के विविध रूप, भेद-प्रभेद को छह निबन्धों में निरूपित
गया है। चतुर्थखण्ड में सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति और उत्पत्ति, स्थिति
विशुद्धि आदि को अभिव्यक्त करने वाले छह निबन्ध हैं और अन्त में प्रस्तुत
में प्रयुक्त होने वाले सन्दर्भ ग्रन्थों की सविस्तृत सूची भी दी गई है जिससे यह
ही परिज्ञात होता है कि लेखक ने कितना श्रम किया है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन जैसे
विषय को सरस रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सिद्धहस्त हैं। ग्रन्थ में लेखक
म्भीर चिन्तन बहुत ही स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। लेखक आध्यात्मिक चिन्तन
अनन्त गहराइयों में पैठकर ऐसे विचार मौक्तिक प्रदान करता है, जिसे पाकर
पाठक प्रसन्नता से झूम उठता है। उसमें नयी स्फूर्ति और नया चिन्तन अंगड़ाई
लगता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हैं—अशोक मुनिजी ! जो बहुत ही मधुर व मिलनसार
ति के सन्त हैं, श्रमण संघ के प्रति गहरी निष्ठा है। स्वर्गीय जैन दिवाकर प्रसिद्ध
ता श्री चौथमलजी महाराज के प्रशिष्य हैं। मुनिश्री एक अच्छे लेखक, तेजस्वी प्रवक्ता
र कवि के रूप में विश्रुत हैं। जीवन के उषाकाल में आपके रचित अनेक गीतों के
ग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन वर्षों में कहानी-संग्रह और जैन कथाओं पर आधारित
न्यासों का विपुल मात्रा में प्रकाशन हुआ है। समाज में उपन्यासकार के रूप में
ने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आप एक दार्शनिक लेखक के रूप
पाठकों के सामने प्रस्तुत हैं। सम्यग्दर्शन जैसे गहन विषय पर लिखकर लेखक ने
ती प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है जिसे पढ़कर मेरा हृदय आनन्द विभोर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक कलमकलाधर, सम्पादन कलामर्मज्ञ श्रीचन्द जी
राणा "सरस" हैं। सुराणाजी एक मंजे हुए लेखक हैं, उन्होंने आज तक विविध-
ओं में प्रकाशित ग्रन्थ सम्पादित किए हैं। मुनिश्री के कहानी और उपन्यास
हित्य के भी वे सफल सम्पादक रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी सम्पादन व लेखन

भी सरल ही है, उसकी विश्लेषण-कला के स्पर्श से नीरस विषय भी सरस बन जाता है। इनके द्वारा सम्पादित साहित्य सर्वत्र अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। लेखक और सम्पादक दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं। आशा है कि यह ग्रन्थ अपने विषय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में अपना स्थान बनायेगा। मुझे आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि विद्वान् मुनिजी इस प्रकार और भी अधिक उत्तम रचनाएँ लिखकर साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहेंगे।

आध्यात्मिक प्रबुद्ध पाठकगण प्रस्तुत ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे और सम्यग्दर्शन के दिव्य आलोक से अपने जीवन को चमकायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ विरमामि

कन्नुबाई जसराज गोता
जैनधर्म स्थानक
अहिंसा-भवन, सादड़ी (राजस्थान)

—उपाध्याय पुष्कर मुनि

शुभकामना : अभिमत

अन्तर ज्योति

□ राष्ट्रसन्त आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

सम्यग्दर्शन—एक परम ज्योति है, जिसके दिव्य प्रकाश में आत्मा अपना कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय का पथ देख सकता है। जब तक यह अन्तर ज्योति प्राप्त नहीं होती, तब तक बाह्यज्योति का कोई महत्व नहीं।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि व बिजली आदि का प्रकाश/ज्योति यद्यपि आलोक देता है, प्रकाश फैलाता है, किन्तु यह प्रकाश उसी के लिए उपयोगी होगा जिसकी आँखों में ज्योति है। जिसकी आँखों में ज्योति नहीं, उसके लिए सूर्य एवं बिजली आदि का समस्त प्रकाश व्यर्थ है। उसके लिए दिन में भी अन्धकार है।

यही हाल सम्यग्दर्शन-विहीन आत्मा का है। शास्त्र, ग्रन्थ, उपदेश आदि का प्रकाश उसी आत्मा के लिए लाभदायी है, जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन की ज्योति है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश में ही समस्त प्रकाश उपयोगी है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है, तो हजारों ग्रन्थों का पठन-पाठन, जप-तप-ध्यान-चिन्तन आदि का आत्म-कल्याण की दृष्टि से क्या महत्व है?

पण्डितरत्न श्री अशोक मुनि जी ने सम्यग्दर्शन पर बड़ी ही गम्भीरता व व्याप दृष्टि से जो लेखन किया है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए मननीय और चिन्तनीय है। सम्यग्दर्शन पर इतना सर्वांग विवेचन पहली बार पाठकों के समक्ष आया है, मैं आ करता हूँ इससे जिज्ञासु आत्मा अवश्यमेव लाभान्वित होगी।

□

अनूठा ग्रन्थ

☐ ज्योतिषाचार्य उपाध्याय श्री कस्तूरचन्द जी महाराज

'सम्यग्दर्शन' मोक्ष का अनन्य साधन तो है ही, साधना का मूलाधार भी है। जिसे हम सत्यासत्य विवेक या जीवन-कला कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन ही है।

पण्डितरत्न श्री अशोक मुनि जी जैसे प्रतिभाशाली सन्त ने इस विषय पर इतना विशद व प्रामाणिक विवेचन किया है, जिसे पढ़कर, सुनकर मन प्रसन्नता से झूम उठा। आज तक जितने ग्रन्थ देखे हैं, उनमें यह ग्रन्थ अनूठा है, अपने विषय का एक ही है। सम्यग्दर्शन पर इतना सरल, सर्वांग और समन्वय दृष्टि युक्त विवेचन-विश्लेषण किस सुज्ञ मानस को प्रभावित नहीं करेगा।

सम्पादक बन्धु श्री श्रीचन्द जी सुराना को भी बधाई है, जिन्होंने बड़ी निष्ठा व गहराई के साथ इस दायित्व को न केवल निभाया है, बल्कि ग्रन्थ-गरिमा में चार चाँद लगा दिये है।

मैं लेखक-सम्पादक के श्रम की सार्थकता पर धन्यवाद देता हुआ मंगल-कामना करता हूँ।

(ज्योतिषाचार्य उपाध्याय श्री कस्तूरचन्द जी महाराज साहब के रतलाम से प्राप्तभावों का सार)

शुभकामना : अभिमत

अन्तर ज्योति

□ राष्ट्रसन्त आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

सम्यग्दर्शन—एक परम ज्योति है, जिसके दिव्य प्रकाश में आत्मा अपना कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय का पथ देख सकता है। जब तक यह अन्तर ज्योति प्राप्त नहीं होती, तब तक बाह्यज्योति का कोई महत्व नहीं।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि व बिजली आदि का प्रकाश/ज्योति यद्यपि आलोक देता है, प्रकाश फैलाता है, किन्तु यह प्रकाश उसी के लिए उपयोगी होगा जिसकी आँखों में ज्योति है। जिसकी आँखों में ज्योति नहीं, उसके लिए सूर्य एवं बिजली आदि का समस्त प्रकाश व्यर्थ है। उसके लिए दिन में भी अन्धकार है।

यही हाल सम्यग्दर्शन-विहीन आत्मा का है। शास्त्र, ग्रन्थ, उपदेश आदि का प्रकाश उसी आत्मा के लिए लाभदायी है, जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन की ज्योति है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश में ही समस्त प्रकाश उपयोगी है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है, तो हजारों ग्रन्थों का पठन-पाठन, जप-तप-ध्यान-चिन्तन आदि का आत्म-कल्याण की दृष्टि से क्या महत्व है ?

पण्डितरत्न श्री अशोक मुनि जी ने सम्यग्दर्शन पर बड़ी ही गम्भीरता व व्यापक दृष्टि से जो लेखन किया है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए मननीय और चिन्तनीय है। सम्यग्दर्शन पर इतना सर्वांग विवेचन पहली बार पाठकों के समक्ष आया है, मैं आशा करता हूँ इससे जिज्ञासु आत्मा अवश्यमेव लाभान्वित होगी।

□

अनूठा ग्रन्थ

☐ ज्योतिषाचार्य उपाध्याय श्री कस्तूरचन्द जी महाराज

'सम्यग्दर्शन' मोक्ष का अनन्य साधन तो है ही, साधना का मूलाधार भी है। जिसे हम सत्यासत्य विवेक या जीवन-कला कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन ही है।

पण्डितरत्न श्री अशोक मुनि जी जैसे प्रतिभाशाली सन्त ने इस विषय पर इतना विशद व प्रामाणिक विवेचन किया है, जिसे पढ़कर, सुनकर मन प्रसन्नता से झूम उठा। आज तक जितने ग्रन्थ देखे हैं, उनमें यह ग्रन्थ अनूठा है, अपने विषय का एक ही है। सम्यग्दर्शन पर इतना सरल, सर्वांग और समन्वय दृष्टि युक्त विवेचन-विश्लेषण किस सुज्ञ मानस को प्रभावित नहीं करेगा।

सम्पादक बन्धु श्री श्रीचन्द जी सुराना को भी बधाई है, जिन्होंने बड़ी निष्ठा व गहराई के साथ इस दायित्व को न केवल निभाया है, बल्कि ग्रन्थ-गरिमा में चार चाँद लगा दिये है।

मैं लेखक-सम्पादक के श्रम की सार्थकता पर धन्यवाद देता हुआ मंगल-कामना करता हूँ।

(ज्योतिषाचार्य उपाध्याय श्री कस्तूरचन्द जी महाराज साहब के
रतलाम में प्राप्तभावों का सार)

व्यापक दृष्टिकोण

□ पण्डितरत्न श्री विजय मुनि शास्त्री

(आगरा)

जैन परम्परा के आगम साहित्य में सर्वाधिक मूल्यवान शब्द है—सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन एक वह दिव्य दृष्टि है, जिसकी उपलब्धि में अज्ञान, ज्ञान हो जाता है, और अचारित्र चारित्र! चारित्र का मूल आधार ही सम्यग्दर्शन है। इसके होने पर सब कुछ है, और नहीं होने पर कुछ भी नहीं। साधना के पथ पर कदम बढ़ाने से पूर्व अन्तर लोचन से यह जान लेना परम आवश्यक है कि हमारी गन्तव्य दिशा सही है या नहीं? दिशा यदि सही है तो उस ओर बढ़ने वाला हर कदम चारित्र बन जाता है।

आगमोत्तर साहित्य में भी सम्यग् दर्शन के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में विशद प्रकाश डाला है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में यहाँ तक कह दिया कि "यदि सम्यग् दर्शन सम्पन्न व्यक्ति मातंग भी है तो भी वह पूजनीय है।" आचार्य शुभचन्द्र ने अपने योग प्रदीप में इस सम्यग्दर्शन की महिमा का गान किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वविरचित योगशास्त्र में सम्यग् दर्शन का स्वरूप, लक्षण, उसके भूषण और दूषणों की सुन्दर चर्चा प्रस्तुत की है।

"सम्यग् दर्शन : एक अनुशीलन" ग्रन्थ में विपुल सामग्री इस विषय पर सुसज्जित करके प्रस्तुत की गई है। लेखक श्री अशोक मुनिजी ने इस दिशा में व्यापक दृष्टिकोण से लिखा है, अतः लेखक इस कृति को समाज की चेतना के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं उनका परिश्रम प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक हैं सिद्धहस्त लेखक कलमकलाधर मुद्रण कला विशेषज्ञ श्रीचन्द जी सुराणा। भाव, भाषा और शैली तीनों का सुन्दर संयोग ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर परिलक्षित होता है। सम्पादक ने इस ग्रन्थ को अधिक से अधिक उपादेय रूप देने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के लेखन-सम्पादन एवं मुद्रण में उन्होंने जो श्रम किया है, वह फलवान है। आशा है भविष्य में वे सम्यग् ज्ञान व सम्यक् चारित्र के सम्बन्ध में भी इसी पद्धति पर अन्य ग्रन्थों की रचनाकर समाज को समर्पित करेंगे। □

द्वितीय खण्ड :

अर्थ, लक्षण, व्याख्याएँ एवं स्वरूप १७६—३०१